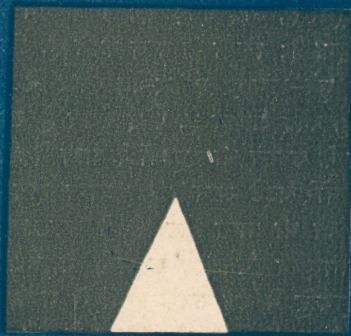


तीर्थकर १६४



दूध का रंग एक

गवां यथा विभेदेऽपि क्षीरभेदो न विद्यते ।

पुंसां तथा विभेदेऽपि ज्ञानभेदो न विद्यते ॥

जिस प्रकार गौओं में (काली, पीली, धौली आदि का) भेद होने पर भी उनके दूध के रंग में कोई भेद नहीं होता, उसी प्रकार पुरुषों के (मानवों के) रंगरूप, नाकोनक्श आदि में भेद के होने पर भी ज्ञान का भेद नहीं होता ।

गौएँ धौली, पीली, नीली, काली, चितकबरी आदि अनेक रंगों को लिये हुए होती हैं। सींग के भेदों से भी उनमें फर्क होता है—किसी के सींग छोटे, किसी के बड़े; किसी के सीधे, किसी के मुड़े, और किसी के गोलगेंडली मारे हुए होते हैं। और भी नाना शरीर-भेद होते हैं, किन्तु इस विभेद के कारण उनके दूध में कोई भेद नहीं होता—अर्थात् धौली का धोला, पीली का पीला, नीली का नीला, और काली का काला दूध नहीं होता—सबका दूध सफेद रंग का ही होता है; वैसे ही मनुष्यों में भी परस्पर अनेक भेद पाये जाते हैं—कोई गोरा है, कोई साँवला, कोई काला है, कोई गंदुमी (गेहूँए रंग का); किसी का चेहरा गोल है, किसी का लम्बोतर; किसी की गर्दन छोटी है, किसी की लम्बी, किसी की सीधी है और किसी की टेढ़ी है; कोई बूढ़ा है, कोई तरुण है; कोई लूला है, कोई लँगड़ा है; कोई काना है; कोई अन्धा है; कोई गूंगा है, कोई बहरा है; किसी के बाल काले हैं, किसी के सफेद, किसी के महुँदिए, किसी के भूरे—इत्यादि शरीर-भेद स्पष्ट देखने में आते हैं। इसी प्रकार कोई ब्राह्मण है, कोई क्षत्रिय है, कोई वैश्य है तो कोई शूद्र है। इस सारे बाह्य भेद/वैषम्य के कारण भी मनुष्यों के ज्ञान में कोई भेद नहीं होता—जो ज्ञान एक अच्छे गोरेचिट्टे आदमी को प्राप्त होता है, वही एक काले कुरूप तथा विकलांग को भी प्राप्त होता है/हो सकता है। कुन्दकुन्दाचार्य की गर्दन टेढ़ी थी, इसीलिए वे 'वक्रग्रीव' कहलाते थे, किन्तु वे कितने शुद्धधी, महामनीषी, और महामति थे यह उनके ग्रन्थों से जाना जाता है। अष्टावक्र ऋषि के शरीर में आठ वक्रताएँ थीं; किन्तु वे भी बहुत बड़े ज्ञानी थे। आचार्य जिनसेन ने अपने विषय में स्वयं लिखा है कि यद्यपि वे बहुत सुन्दर आकृति के और अधिक चतुर नहीं थे, तथापि सरस्वती उन पर मुग्ध थीं और उसने अनन्य शरण हो कर उनका आश्रय लिया था। इससे स्पष्ट है कि शरीरादि के बाह्य भेद ज्ञान में भेद उत्पन्न नहीं करते। ज्ञान आत्मा का निजगुण है, अतः वह समानरूप से विकसित समस्त आत्माओं में समान ही रहता है; उसके विकृत, तथा कमोवेश होने का कारण कर्ममल है ।



विचार-मासिक

सद्दिचार की वर्णमाला में सदाचार का प्रवर्तन

जैन ध्यान/जैन योग विशेषांक

वर्ष १२; अंक १२; अप्रैल १९८३
चैत्र वि. सं. २०४०; वी. नि. सं. २५०९

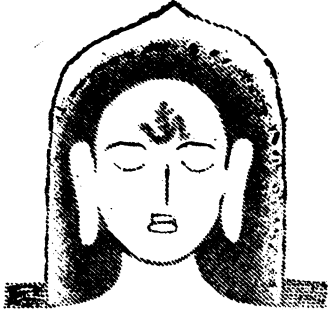
संपादन : डॉ. नेमीचन्द
प्रबन्ध संपादन : प्रेमचन्द जैन
आकल्पन : संतोष जड़िया

वार्षिक शुल्क : पच्चीस रुपये; प्रस्तुत अंक : पन्द्रह रुपये
आजीवन : दो सौ एक रुपये; विदेशों में वार्षिक : सौ रुपये

हीरा भैया प्रकाशन

६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाडिया मार्ग,
इन्दौर-४५२ ००१, मध्यप्रदेश
दूरभाष : 5804

नईदुनिया प्रिंटरी, बाबू लाभचन्द छजलानी मार्ग, इन्दौर-४५२ ००९ से मुद्रित



ओंकारं विन्दुसंयुक्तं
नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव
ओंकाराय नमो नमः ॥

जीवोऽन्यः पुद्गलाश्चन्य
इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः ।
यदन्यदुच्यते किञ्चित्
सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः ॥

- पुण्यपाव

क्या / कहाँ

दूध का रंग एक — आवरण-२

लक्ष्य (कविता) : कन्हैयालाल सेठिया ५

ध्यान : ध्यान पर अधिक, ध्येय पर कम — संपादकीय ६

स्वरूप : संबोधन से आचरण तक १३

मुक्ति-साधक : धर्म्य/शुक्ल ध्यान

—डॉ. पन्नालाल साहित्याचार्य १७

शुभ्रता की ओर तेज क्रम : शुक्ल ध्यान

—पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री २३

योग/आयोग : एक अनुशीलन

—कैलाशचन्द्र बाह्दर २८

परम आनन्द का स्रोत : परमानन्द स्तोत्र

—गद्यान्तर : एलाचार्य मुनि विद्यानन्द ३३

ध्यान : स्वरूप, विधि; फल

—कन्हैयालाल सरावगी ४१

समत्व-योग

—अहंदास दिगे ४७

आं रही है एक नयी सुवह (कविता)

—विष्णु जयवन्त बोरकर, मराठी से हिन्दी — दिनकर सोनवलकर ४९

बातचीत-१ से ८

५७-१३८

१. ध्यान : निर्विकल्प आत्मशोध; ध्येय : अखण्ड आत्मबोध

—एलाचार्य मुनि विद्यानन्द/डॉ. नेमीचन्द जैन ५७

२. शुभ के बिना शुद्ध की कुल्हाड़ी उठेगी नहीं

—एलाचार्य मुनि विद्यानन्द/डॉ. नेमीचन्द जैन ७५

३. जैसा शोर बाहर, वैसा भीतर; शास्त्र करने का माध्यम ध्यान

—एलाचार्य मुनि विद्यानन्द/डॉ. नेमीचन्द जैन ८८

४. एकाग्रता से सब संभव : उपवास कर लें तो ध्यान में खूब मग्न हो सकते हैं

—एलाचार्य मुनि विद्यानन्द/डॉ. नेमीचन्द जैन ९७

५. आलम्बन में व्यक्त के साथ अव्यक्त को अवश्य देखें

—एलाचार्य मुनि विद्यानन्द/डॉ. नेमीचन्द जैन ११७

६. ध्यान : समत्व की ओर प्रशस्त पग

—मुनि समन्तभद्र/डॉ. नेमीचन्द जैन १३०

७. ध्यान : निराकुलता की ओर स्वस्थ प्रस्थान

—शुल्लक धर्मानन्द/डॉ. नेमीचन्द जैन १३४

८. ध्यान : आसन : प्राणायाम

—पं. बाहुबली उपाध्ये शास्त्री/डॉ. नेमीचन्द जैन १३७

इन्द्रियजय : आसनजय : मृत्युंजय

—डॉ. नेमीचन्द १३९

ध्यान - शब्दकोश १४८

पिण्डस्थ ध्यान : स्वरूप-विवेचन

—पं. नाथूलाल शास्त्री १५७

पढ़ें : जब कभी ; आगे और, इतना और १६१

अर्द्ध कथानक—संपूर्ण कथानक (गद्यान्तर)

—बनारसीदास १७०

खुदा मेरे साथ था (बोधकथा) १७६

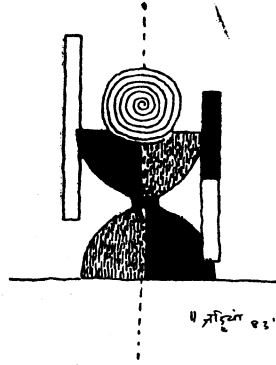
कसौटी (पुस्तक-समीक्षा) १८१

यह अंक (संपादकीय-अंश) १८९

समाचार-परिशिष्ट १९७

'तीर्थकर' : बारहवाँ वर्ष (मई-१९८२ से अप्रैल-१९८३) २०१

ध्यान : कल्याण सुवर्ण —आवरण-३



लक्ष्य !

बोते ही
धरती में
होती है
गुरू
एक ही साथ
पाताल और
आकाश की
ओर
बीज की यात्रा,
जरूरी है
सृजन की
प्रक्रिया में
सहयोग
अन्धकार
और
प्रकाश का
क्योंकि
चेतना का
प्रथम और
अन्तिम
लक्ष्य है
समग्र का बोध !

—कन्हैयालाल सेठिया

तीर्थंकर : अप्रैल ८३/५

ध्यान : ध्यान पर अधिक, ध्येय पर कम

ध्यान पर ध्यान जाते ही हम सोचने लगते हैं कि यह क्या है, और जीवन में इसकी उपयोगिता क्या है? क्या यह कोई ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति खुद को पाने—ढूँढ़ने का प्रयास करता है? क्या व्यक्ति आज जहाँ है, वहाँ वह स्वयं में नहीं है? क्या इन्द्रियों के माध्यम से हम खुद-में-गोता लगा सकते हैं? इन्द्रियाँ आखिर हैं किसलिए? ध्यान और इन्द्रियों का रिश्ता क्या है? ध्यान में, जैसे भी, मन की भूमिका क्या है? यह जो एक पड़ाव पर हम रुक—ठहर नहीं पा रहे हैं, बार-बार इस/उस घाट पर अपनी नाव लगा रहे हैं—इस अपरंपार श्रम पर भी जिस तट पर हम अपनी नौका रोकना चाह रहे हैं, उस पर उतर नहीं पा रहे हैं—तो आखिर यह सब जंजाल है क्या? क्या इससे रुखसत—रिहाई का कोई रास्ता है?

क्या यह संभव है कि इन्द्रियों के सारे द्वार हम बंद कर लें और किसी इन्द्रियातीत से, जिसकी चाकर ये हैं, अपना सरोकार कायम करें? वह कौन है, जो इन्द्रिय और मन का अनुशास्ता है? इन्द्रियाँ क्या हैं, क्यों हैं? आँख से हम देखते हैं, कान से सुनते हैं, नाक से सूँघते हैं, जीभ से जायका लेते हैं, और स्पर्शन से छूते हैं। क्या हम इन खिड़कियों को एक साथ, या एक-के-बाद-एक बंद कर सकते हैं? क्या हमारी आँख खुली, अधखुली हो और हम उससे वह सब न देखें जो उसके सामने रहे, ऐसा/यह संभव है? क्या कान अपने इर्दगिर्द हो रहे कोलाहल को अनसुना कर सकता है? क्या गंध हो, और नाक उस ओर न दौड़े ऐसा प्रबन्ध हम कर सकते हैं? क्या यह मुमकिन है कि चारों ओर स्वाद-ही-स्वाद हों और जीभ लपके—ललचाये न? क्या इसी तरह हम स्पर्शन पर नियन्त्रण कर सकते हैं?

उत्तर मिलता है : सब संभव है; किन्तु रथी, रथ, सारथि, और बल्गा को ठीक-ठीक जानने-खोजने पर। 'कठोपनिषद्' में आया है : 'तू आत्मा को रथी समझ, शरीर को रथ जान, बुद्धि को सारथि, और मन को लगाम समझ' (तृतीय बल्ली/३)। आत्मा को जानें, शरीर को खोजें, बुद्धि और मन को पतं-दर-पतं तलाशें तब कहीं कोई उपलब्धि संभव है। मुश्किल सबमें बड़ी और जबर्दस्त यह है कि अब तक हम जान ही नहीं रहे हैं कि हमारा यह शरीर क्या है, और इसके भीतर रोम-रोम में व्यवस्थित रूपातीत क्या है? हम प्रायः इस ग़लतफहमी में ही रहे हैं कि शरीर और

अ-शरीर दोनों एक हैं। दरअसल जो दृश्य है, वह है शरीर; किन्तु जो भीतर बैठा प्रश्न कर रहा है, प्राश्निक है, शरीर को आजाएँ और अनुमतियाँ दे रहा है, वह शरीर में व्यवस्थित है, किन्तु शरीर नहीं है। तो कौन है यह जो निरन्तर जानना चाहता है, खोजना चाहता है चतुर्दिक्? यह आत्मजिज्ञासु—सेल्फइंक्वायरर—कौन है? इसका स्वरूप क्या है? कौन देख रहा है यह कि जल मेघ बन कर धरती पर लौट रहा है, ऊँचाइयों पर वह जम रहा है, आग को वह बुझा रहा है, गर्म है तो भी बुझा रहा है? यह तत्त्वान्वेषी कौन है? वस्तुतः हमारी खोज की शुरुआत यहीं से होती है।

एक तो आज हम अपनी कायिक/भौतिक जरूरतों में इतने धँसे हुए हैं कि शरीर को उसकी खुराक देते—चुकाते हमारी उम्र ही तमाम हो जाती है, दूसरे हमारे चारों ओर सामाजिक रिश्तों का एक ऐसा सम्मोहक/पिचीदा जाल बिछा हुआ है कि हम अनायास यह जान ही नहीं पाते कि इन संबन्धों/आवश्यकतों के अतिरिक्त भी कहीं, कुछ है पाने-जानने को? क्या है वह जो अव्यय है, अज है, ध्रुव है? क्या है वह जो मिट नहीं पाता उसकी तुलना में जिसे हम रोज ही मिटता देखते हैं; रूप मिटते हैं, रूपातीत बना रहता है। हमारी भ्रान्ति यह है कि हम रूप को अमिट मान रहे हैं, और रूपातीत को खोज नहीं पा रहे हैं। चंचलताएँ इतनी हैं हमारी/हममें कि हम ठहर ही नहीं पाते एक पल उस यात्रा में जो रूपातीत को पाने के लिए हो सकती है। जानें हम कि ध्यान रूप-से-अरूप की ओर उठा एक प्रशस्त क्रम है।

ध्यान की प्रथम शर्त है किन्हीं मूलभूत आस्थाओं पर अविचल होना। जब तक ध्येय धुंधला है, ध्यान नहीं होगा; आज ध्यान-शिविरों में ध्यान पर ध्यान अधिक और ध्येय पर कम या नगण्य है (सबमें बड़ा शिविर यदि हम ध्यान से खोजें तो हमारा शरीर ही है)। शिविरास्थियों के पास न बीज है, न धरती; किन्तु फसल लेने की अदम्य—अदृप्त आकांक्षा है। यह मुसीबत है। इस तरह की बाँझ ध्यानवत्ता कोई अर्थ नहीं रखती। बिना किसी धरती के/धरातल के भला ध्यान की कोई सार्थकता संभव है? इसलिए हमारा पहला पड़ाव होगा आत्मबोध, आत्मा के अस्तित्व में अखण्ड-अटूट विश्वास। आत्मा क्या है? क्या वह सनातन है? उसकी सनातनता/शाश्वति का तात्पर्य क्या है? शरीर क्या है? चारों ओर पर्यायों का जो बनता-मिटता समूह है, उसकी भूमिका, प्रासंगिकता, और स्वरूप क्या है? क्या शरीर और शरीरधारी दो अलग अस्तित्व हैं? इन सारे प्रश्नों के पुष्टा उत्तर पाने के बाद ही ध्यान की आवश्यकता का अनुभव होता है। जब हम शरीर को अन्तिम मान लेते हैं और उसी की दासता में अर्हनिश जुते रहते हैं, तब, ऐसे में हमारा ध्यान दूसरी ओर न जाए तो कोई अचम्भे की बात नहीं है। हमारा पहला दायित्व सम्यक्त्व की

खोज, पहचान, और उस पर विश्वास है। हम जानें कि वस्तुस्थिति क्या है? शरीर को जितना-जितना हम खोजते जाएँगे, उतना-उतना हम उसके बारे में भी लगातार जानते जाएँगे जो शरीर नहीं है, किन्तु शरीर में है। अपनी पहचान-यात्रा में हमें इस अटल तथ्य को जान लेना होगा कि शरीर और आत्मा दो सर्वथा पृथक् अस्तित्व हैं; न आत्मा कभी शरीर हो सकता है, और न कभी शरीर आत्मा; दोनों की अपनी-अपनी प्रभुसत्ताएँ, और परिधियाँ हैं। दोनों हैं; किन्तु दोनों के स्वतन्त्र अस्तित्व-व्यक्तित्व हैं। दोनों की निजताएँ जुदा हैं। यह वह बुनियाद है, जिस पर ध्यान की इमारत को खड़ा किया जा सकता है/किया जाना चाहिये।

भेदविज्ञान के बिना ध्यान की रीढ़ ठीक से बन नहीं सकेगी। सही है यह कि आधार क्रमशः दृढ़ होगा, किन्तु यह तभी न होगा जब हम उसे जानेंगे? एक नियम है कि जो तथ्य पहले जानकारी के स्तर पर होता है, वही धीरे-धीरे ज्ञान के स्तर पर प्रकट हो पाता है। यहाँ हम जानें कि जानकारी/सूचना, और ज्ञान दोनों में फर्क है। सूचनाएँ इन्द्रियाँ देती हैं, ज्ञान आत्मा का विषय है। इन्द्रियाँ जानकारी दे सकती हैं, ज्ञान से उनका उतना सरोकार नहीं है। यह जो विवेक करने वाली शक्ति है, वह रूपातीत है। सही है कि शरीर और आत्मा पुद्गल और जीव की भेद-भिन्नता हममें पहले सूचना के स्तर पर दृढ़ होगी, तभी वह अभीष्ट ध्यान की प्रक्रिया में ज्ञान के स्तर पर अविचल बन पायेगी। जैसे-जैसे हमारा यह ज्ञान सम्यक्/अविचल होता जाएगा, वैसे-वैसे शरीर और आत्मा के बीच भ्रम-भ्रान्ति के जो टाँके लगे हुए हैं, अनायास/आपोआप उधड़ते जाएँगे। ध्यान की रोशनी में आप वस्तु-स्वरूप को निभ्रान्त देख सकते हैं। जैसे बाह्य प्रकाश में स्थूलताओं को अधिकतम देखा जा सकता है, वैसे ही अन्दर के प्रकाश में भीतर की वस्तुस्थिति को अधिकतम देखा जा सकता है। असल में ध्यान भीतर की उन सारी खिड़कियों को खोल देता है, जिनके बंद होने से हम अब तक उस रोशनी से वंचित रहे, जो स्वरूप को उद्घाटित करने में समर्थ है। वस्तुतः वस्तुस्वरूप की पहचान/समीक्षा, एक गहन/दुष्कर कार्य है। आज तो ज्ञान के नाम पर हम स्थूल सूचनाएँ ही पा रहे हैं; क्योंकि जिसे हम ज्ञान कहते हैं वह ग्रन्थ/किताब से आगे की स्थिति है। ग्रन्थ में ज्ञान नहीं है, शास्त्र में ज्ञान नहीं है, शब्द में ज्ञान नहीं है। ये समस्त साधन हैं, साध्य नहीं हैं। जो सिर्फ शास्त्रवेत्ता है, जरूरी नहीं है कि वह आत्मवेत्ता भी हो। किसी वस्तु को जानना — हम ऊपर कह आये हैं—एक जुदा बात है; और किसी वस्तु के स्वरूप को, उसके निजत्व/अस्मित्व को उपलब्ध करना बिलकुल अलग बात है; अक्सर हम वस्तु के अस्तित्व को जानते हैं, उसके व्यक्तित्व का बोध हमें नहीं होता है। ध्यान

के द्वारा हम वस्तु के स्वरूप तक अपनी पहुँच बनाने का परिपूर्ण प्रयास करते हैं।

ऊपर हमने शास्त्र की चर्चा की है। शास्त्र की अपनी सीमा है। वह चेतन वस्तु नहीं है। वह खुद अनुभूति नहीं है, किन्हीं अनुभूतियों का संकलन-मात्र है। अनुभव का रास्ता जटिल/कंटकाकीर्ण भले ही हो, किन्तु असली मार्ग वही है। ध्यान अनुभव की ओर जाने वाला मार्ग है। शास्त्र हममें आस्था को जन्म दे सकता है, श्रद्धा में हमें सुस्थिर कर सकता है, किन्तु इससे आगे का काम तो हमें खुद ही करना होता है। अध्यात्म का क्षेत्र स्वानुभूति का क्षेत्र है, परत्व/परानुभूति का क्षेत्र वह नहीं है। ध्यान में आप स्व-पर-विज्ञान की अनुपस्थिति में एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकते।

यहीं स्थिति शब्द की है। शब्द नाम है वस्तु का, स्थिति का, क्रिया का; किन्तु स्वयं में न वह वस्तु है, न स्थिति, न क्रिया। शब्दोच्चारण से वस्तुबोध हो सकता है, वस्तूपलब्धि संभव नहीं है। 'मोक्ष' शब्द का उच्चारण 'मोक्ष' नहीं है, उसका अस्तित्व पृथक् है। शब्द प्रतीक हो सकता है, वस्तु नहीं हो सकता। शब्द की इस असमर्थता, सीमितता को जाने बिना भला हम ध्यान के क्षेत्र में आगे कैसे बढ़ सकते हैं? सही स्थिति यह है कि ध्यान हमें ग्रन्थ में से बाहर ला कर ग्रन्थ से बहुत आगे ले जाता है। जो/जितना हम जान चुके होते हैं, ध्यान में उसे ही हम सम्यक्त्व/समत्व की कसौटी पर कसते हैं।

ध्यान की प्रक्रिया सूक्ष्मतर है। उसका संबन्ध अभीक्षण एकाग्रता से है। एक को आगे रखें, उसे मुख्य बनायें, शेष को पीछे रखें/गौण रखें तो ही ध्यान की प्रक्रिया फलीभूत हो सकती है, अन्यथा उसमें से किसी परिणाम के लौटने की संभावना कम ही मानिये। वह क्या है जिसे ध्यान की समग्र प्रक्रिया में चिन्तन का लक्ष्य बनाया जाता है, जो अनुक्षण हमारी नासाग्र दृष्टि में बना रहता है? आत्मा ही न, जिसे हम खोजना चाहते हैं। ध्येय हमारा असंदिग्ध है/होना चाहिये। ध्येय है: स्वरूप। मैं कौन हूँ? मैं क्या हूँ? क्या मैं तन हूँ? क्या मैं तन नहीं हूँ? अन्ततः मैं हूँ क्या? मेरी मंजिल क्या है? जहाँ मैं हूँ क्या वह ही मेरी मंजिल है? यदि यह सच नहीं है तो फिर मेरी मंजिल क्या है? यह अभीक्षण प्रेक्षण-अनुप्रेक्षण-विपश्यन व्यक्ति में—ध्यान की प्रक्रिया में—चलता है।

एक सवाल है। क्या ध्यान का अर्थ विचार-शून्य होना है? है विचारशून्य होना, किन्तु विवेकशून्य होना नहीं है। हेय-उपादेय की कसौटी, वस्तु के ग्राह्य-आग्राह्य होने की प्रक्रिया बहुत जरूरी है। ध्यान में, इसीलिए, हम श्वास के बाद सीधे विश्वास पर आते हैं; उसमें से मन को साधते हैं; उसकी वक्रताओं और

चपलताओं को ससाप्त करते हैं; चिन्ताओं को शान्त करते हैं, और निराकुलता को व्यवस्थित करते हैं। ध्यान मंच है, वस्तुतः, आत्मानुसंधान का, सम्यक्त्व का। ध्यान में हम स्वयं को सब ओर से प्रत्याहृत करके एक निश्चित लक्ष्यबिन्दु पर अविचल रखने का यत्न करते हैं। आरंभ में हमारा अवलम्ब कोई वर्ण, या ध्वनि होती है; किन्तु जैसे-जैसे प्रखरता और तीव्रता बढ़ती है, वैसे-वैसे स्थूलताएँ घटती जाती हैं, और स्वरूप में अविचलता उपलब्ध होती जाती है। स्थूल से सूक्ष्म तक की यह यात्रा दुष्कर तो है, किन्तु असंभव कतई नहीं है।

ध्यान की प्रक्रिया में दो प्रवृत्तियाँ सक्रिय रहती हैं : आकर्षण, विकर्षण। विकर्षण लौकिकता से, और आकर्षण अलौकिकता के प्रति यानी आत्मस्वरूप के प्रति; यानी इस प्रक्रिया में हम पुद्गुल से जीव का जो प्रगाढ़ आश्लेष है उसे सम्यग्ज्ञान की प्रखरता के औजार से तोड़ने का प्रयत्न करते हैं; साधन अन्ततः ज्ञान ही होता है, ध्यान मात्र उसे प्रखरता/तीव्रता/तीक्ष्णता प्रदान करता है, कहेँ हम कि ज्ञान ध्यान पर शाण चढ़ाता जाता है और ज्यों-ज्यों हम प्रखर होते हैं, उक्त आश्लेष ढीला पड़ता जाता है। काम बहुत महीन है, किन्तु एक बार पूरी दृढ़ता से मन को इस ओर जोत लिया जाए तो वह कठिन बिलकुल नहीं है। स्मरण रहे, ध्यान में संतुलन, समत्व, और सम्यक्त्व का शीर्ष महत्त्व है।

स्वभाव और विभाव दो शब्द बड़े काम के हैं (समझने के भी हैं)। स्वभाव यानी आत्मा क्या है, मैं क्या हूँ, मेरी निजता क्या है; और विभाव अर्थात् वह सब, जो मेरी निजता को प्रकट नहीं होने दे रहा है, उसे आच्छादित किये हुए है। ध्यान के माध्यम से हम इसी आच्छादन पर तीव्र प्रहार करते हैं, इसे क्रमशः ध्वस्त करते हैं। ज्यों-ज्यों बादल हटते जाते हैं, सूरज व्यक्त होता जाता है। ध्यान, वस्तुतः मौलिकताओं के उद्घाटन की सूक्ष्म प्रक्रिया है। सबमें पहले आच्छादन की सही पहचान तदनन्तर इस पटाक्षेप को समाप्त करने की प्रक्रिया — ये दोनों काम संभव हैं सिर्फ ध्यान में। ध्यान रहे, यहाँ हम ध्यान की जो चर्चा कर रहे हैं, वह अध्यात्म के अनुरूप ध्यान की ही है; रौद्र और आर्त तो सहज ही इस सीमा में नहीं आते। इस ध्यान के प्रमुख आधार हैं — विश्वास, पुरुषार्थ।

इन दिनों ध्यान की नाना पद्धतियों की ओर लोगों का ध्यान खींचा जा रहा है; किन्तु लगता ऐसा है कि लोगों का ध्यान ध्यान पर तो गया है, किन्तु ध्येय पर से फिसल गया है। वस्तुतः ध्यान की गुणवत्ता के प्रमुख आधार हैं— ध्याता की पात्रता, ध्येय की असंदिग्धता। ध्यान की सफलता/विफलता निर्भर करती है ध्येय की स्पष्टता/अस्पष्टता और ध्याता के संहनन पर। माना, ध्यान पर लोगों

का खूब ध्यान गया है इन दिनों, वह आज बहुचर्चित शीर्षक है। जगह-जगह शिबिर लग रहे हैं; ठीक है, किन्तु ध्यान क्यों, इस पर बहुत स्पष्ट चिन्तन आम आदमी का नहीं है। विपश्यना (बौद्ध ध्यान-पद्धति) और प्रेक्षा (आचार्य तुलसी-प्रवर्तित पद्धति) के नामान्तर्गत लोग ध्यान की ओर आकृष्ट हुए हैं, किन्तु जो हो रहा है वह बहुत आशाप्रद नहीं है। सबसे पहले हमें लोगों को धर्म के क्षेत्र में साक्षर करने की जरूरत है, उसके बाद आती है ध्यान की सूक्ष्मतर पद्धति। धार्मिक निरक्षरता के विरुद्ध जब तक हम कोई स्पष्ट मुहीम नहीं छोड़ते हमारे इस तरह के सूक्ष्म प्रयत्न उसी तरह बेमतलब सिद्ध होंगे जिस तरह व्यवहारमार्ग को छोड़ निश्चयमार्ग की ओर एकदम आ जाना।

कहा गया है कि हमें शरीर की हलचल का साक्षी बनना है, हिस्सेदार नहीं; हमें सारी घटनाओं को एक निर्लिप्त दृष्टा की तरह देखना है/दिखना सीखना है। थोड़े में हम कहेंगे कि शरीर और मन के कोलाहल को शान्त करने का जो प्रयत्न है, वह ध्यान है।

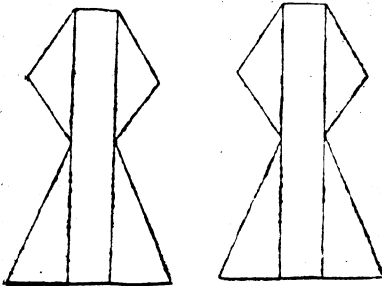
मतभेद हो सकते हैं इस मुद्दे पर कि ध्यान प्रयत्नसाध्य है, या नहीं? ध्यान क्या हमारा इस तरह कुछ जागना है जिसमें कोई प्रयत्न नहीं है और न ही कोई पसंदगी/नापसंदगी है; अन्य शब्दों में एक निर्विकल्प आन्तरिक जागृति का नाम ध्यान है? निष्कर्षतः एक तो यों कि हम सहज हैं और हमारे भीतर मौलिकताओं/स्वाभाविकताओं पर से कोहरा उत्तरोत्तर हट रहा है, और दूसरे यों कि हम पुरुषार्थ कर रहे हैं और स्वरूप पर से आच्छादन हटा रहे हैं। चाहे जिस तरह कहा जाए, एक बात तय है कि हममें जो प्रबुद्धता बनती है/करवट लेती है, उसे यदि हम चाहें तो भेदविज्ञान में रूपान्तरित कर सकते हैं और उस चरमसीमा पर पहुँच सकते हैं जिसे मोक्ष कहते हैं।

क्या यह सच नहीं है कि आज हम ध्यान की ओर जिस तरह आ रहे हैं उसके पीछे किसी भय की भूमिका है? हम कदाचित् आज के जीवन से इस क्रूर संश्रुत हैं कि स्व-भाव में, बिना यह जाने कि स्व-भाव क्या है, वापसी चाहते हैं। बात ठीक है, किन्तु हमारा इस तरह भागना कहीं पलायन तो नहीं है? कहीं हम इसलिए तो ध्यान-शिबिरों, साधुओं, धर्मशास्त्रों की ओर नहीं दौड़ रहे हैं कि यह सारा विषम/विषाक्त वातावरण हमें निगलने को खड़ा है और हमारा अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया है? यदि ऐसा है तो स्थिति काफी दयनीय है, क्योंकि यह भूमिका वैराग्य की नहीं भय और जबर्दस्ती की है। यह अधिक फलदायी सिद्ध होगी, इसमें संदेह है। यदि हम किसी भय/आतंक के तले भाग रहे हैं ध्यान की

ओर तो सारी स्थिति की हमें समीक्षा करनी चाहिये और सबसे पहले एक शान्त, सुखद, संतुलित वातावरण की रचना करनी चाहिये।

ध्यान के प्रसंग में हमें काल (टाइम) पर भी किंचित् चर्चा कर लेनी होगी। ज्यादातर लोग अतीत से मुक्त होने के लिए ध्यान करते हैं; क्योंकि ध्यान में सबसे अधिक विघ्न डालने वाला तत्त्व यही है। अतीत, जो हमारी मुट्ठी से निकल जाता है, हमारी चेतना पर काफी गहरे निशान छोड़ जाता है। कई बार अतीत समृद्ध होता है तो हम उसे लौटाने का प्रयत्न करने में तिल-तिल मिटते रहते हैं, और कई बार वह इतना विषम/दुःखद होता है, कि हम अनुक्षण इस चिन्ता में बने रहते हैं कि वह पुनः लौट न आये। इस तरह अतीत हमें/हमारी चेतना को प्रतिपल झकझोरता रहता है। ध्यान हमें अतीत से मुक्त करता है/कर सकता है; क्योंकि ध्यान में कालभेद के लिए कोई गुंजाइश नहीं है; वहाँ वर्तमानता ही मुख्य है। वहाँ न कोई विगत होता है, न अनागत; सिर्फ होता है आगत। इस दृष्टि से जो हमें वर्तमान में रोक पाता है, वहाँ रुकने में हमें उपकृत करता है, वह ध्यान है। जैसे ही हम वर्तमान पर पाँव जमाते हैं, भावि प्रवेश से रुक जाता है और अतीत झड़ने लगता है। इन प्रक्रियाओं को पारिभाषिक शब्दावली में हम क्रमशः 'संवर' और 'निर्जरा' के नाम से जानते हैं। हमारे भीतर-भीतर कितनी सूक्ष्मताएँ अँगड़ाई भरती हैं, इसे तो वही जान सकता है जो प्रयोगधर्मा है, जो परंपरित है, या किसी अन्धानुकरण में जो डग भर रहा है, उसकी झोली में संभवतः कुछ पड़ेगा नहीं; वस्तुतः शास्त्र, साधु, शिबिर इत्यादि को हम सहचारी/सहकारी बनायें, उनकी अक्षरशः दासताएँ स्वीकार न करें। गरज यह है कि जब हम किंचित् मौलिक बनेंगे तभी हमारी मौलिकताएँ उद्घाटित होंगी अन्यथा हम जो करते आ रहे हैं उसमें एक पड़ाव और कायम हो जाएगा।

□□



स्वरूप : सम्बोधन से आचरण तक

□ हिन्दी की तीन समापिका क्रियाएँ : है, था, गा। तीनों क्रमशः वर्तमान, भूत, और भविष्यत् की प्रतीक हैं। स्वरूपाचरण का एक परिपूर्ण कार्यक्रम इन तीनों में हमारे सामने है। 'है' में ठहरना, 'था' से मुक्त होना/होते जाना, और 'गा' को रोकना।

□ जब हम खुद, खुद को, खुद के द्वारा, खुद के लिए, जो खुद नहीं है उससे हट कर, खुद की, खुद में खोज करते हैं, तब ध्यान की यथार्थ स्थिति और मुमुक्षु का असली मोर्चा बनता है।

आचार्य अकलंक भट्ट (६४०-६८० ई.) कृत पच्चीस श्लोकों की एक अद्भुत लघुकाव्य कृति है : 'स्वरूप-सम्बोधन', जिसमें उन्होंने आत्मा के स्वरूप की सरल, सुबोध, और सुस्पष्ट चर्चा/व्याख्या की है। लगता है इस छोटी-सी किताब में कृतिकार ने अपनी अध्यात्म-साधना का संपूर्ण निचोड़ ही प्रस्तुत कर दिया है। आत्मा क्या है? स्व-पर को कैसे जानें? मोह को परास्त/विच्छिन्न कैसे करें? इत्यादि अनेक गहन आध्यात्मिक गूथियों के समीचीन, संक्षिप्त, और सारभूत हल इसमें उन्होंने सरल शब्दों में रख दिये हैं।

आत्मा की स्वाधीनता, उसकी प्रभुसत्ता, निराकुलता, और स्वसंवेद्यता पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा है :

स्वं परं विद्धि तत्रापि, व्यामोहं छिन्धि किन्विमम्।

अनाकुलस्वसंवेद्ये, स्वरूपे तिष्ठ केवले ॥२३॥

(मुक्ति प्राप्त करना भी स्वयं के आधीन समझ कर 'स्व' और 'पर' को जानना चाहिये और आकुलतारहित, स्वानुभवगम्य केवल निजस्वरूप में स्थिर होना चाहिये)। शुद्धानुभव के सह भावी/वर्ती चारित्र को स्वरूपाचरण चारित्र कहा गया है। यह चारित्र चौथे से तेरहवें गुणस्थान तक रहता है तथा इसका जघन्य अंश चौथे में और उत्कृष्ट अंश तेरहवें में व्यक्त होता है। इसका क्रमभावी चारित्र यथाख्यात है, जो चौदहवें गुणस्थान में प्रकट होता है। स्वरूपाचरण, स्वरूपावस्थान, या स्वरूपप्रतिष्ठा एकार्थक शब्द हैं।

बात यह है कि हम बहुधा अतीत और भविष्यत् इन दो खूंटियों से बँधे घूमते रहते हैं। वर्तमान इतना महीन होता है कि हमारी एकाग्रता उस पर अपने पाँव जमाने में प्रायः असफल रहती है। हिन्दी भाषा की तीन समापिका क्रियाएँ हैं : है, था, गा। तीनों क्रमशः वर्तमान, भूत, और भविष्यत् को व्यक्त करती हैं। स्वरूपाचरण-प्रवेश का एक परिपूर्ण कार्यक्रम इन क्रियाओं में हमारे सामने प्रस्तुत है।

‘है’ में टहरना, ‘था’ से मुक्त होना/होते जाना, और ‘गा’ को रोकना; इन तीनों क्रियाओं का अपने चरम पर पहुँचना मोक्ष है।

‘स्वरूप-सम्बोधन’ के चौबीसवें श्लोक में स्वरूपाचरण के व्याकरण का एक अद्भुत अंश प्रस्तुत हुआ है, जिसमें आत्मावस्थान की क्रिया को कारकों के माध्यम से पेश किया गया है :

स्वः स्वं स्वेन स्थितं स्वस्मै स्वस्मात्स्वस्याविनश्वरम् ।

स्वस्मिन् ध्यात्वा लभेत्स्वोत्थमानन्दममृतं पदम् ॥२४॥

(संसारी जीवों को अपनी आत्मा में आत्महित के लिए अपने द्वारा अपने-आप ही अपना ध्यान करना चाहिये, और अपने ही ध्यान से उत्पन्न परम आनन्द-मय अविनश्वर पद को प्राप्त करना चाहिये) ।

महर्षि पतंजलि ने भी अपने ‘योगसूत्र’ में ‘आत्मावस्थान’ को महत्वपूर्ण बताया है (सूत्र-३) । वस्तुतः जो स्वयं को, स्वयं के होने को/स्वभाव* को नहीं जानता, वह परत्व को भी नहीं जानता, और जो परत्व की पूर्ण परख नहीं रखता वह भला स्वयं को कैसे जान सकता है? ‘स्व’ ‘पर’ में व्यतिरेकी रिश्ता है। दोनों का अस्तित्व ‘कांटॉस्टिब्ल’ है। जिसे हम मोक्ष कहते हैं, वह स्व-पर-भेद के बिना संभव नहीं है। असल में मुक्ति/मोक्ष का क्षेत्र इतना सूक्ष्म/गहन है कि यहाँ मुक्ति की कामना स्वयं बाधा बन बैठती है। एक परिपूर्ण/प्रीढ़ निष्कामता ही मोक्ष को जन्म दे सकती है। आ. अकलंक भट्ट का एक श्लोक है:-

मोक्षेऽपि यस्यनाकांक्षा स मोक्षमधिगच्छति ।

इत्युक्तत्वाद्धितान्वेषी, कांक्षा न क्वापि योजयेत् ॥२१॥

(जब किसी मुनि-मनीषी के हृदय से मोक्ष की भी कामना निकल जाती है, तब उसे मुक्ति प्राप्त होती है। इस निष्कर्ष पर आँख रखते हुए मुमुक्षु को सारे पदार्थों की कामना का परित्याग कर देना चाहिये।)

समाज-सेवा के क्षेत्र में भी ऐसा ही है। पूर्ण निष्कामता यशस्विनी होती है। सेवा में जहाँ भी, जब भी स्वार्थ होगा, वहाँ, तब उसके चेहरे पर कालिख पुत जाएगा। सेवा का मार्ग, इसीलिए, तलवार की धार पर चलने जैसा दुष्कर है।

आत्मसंबोधन मोक्ष का सिंहद्वार है, कर्हें, उसे खोलता है। जब तक हम स्वयं को नहीं जगाते, स्वयं में नहीं जागते, तब तक कोई आध्यात्मिक घटना घटित हो यह संभव नहीं है। जिस क्षण हम स्वयं-में-स्वयं-को निमग्न करना शुरू करते हैं, मुमुक्षा को एक पुष्ता आधार मिल जाता है। मुमुक्षु की मुक्ति-कामना जिस पल उसमें से तिरोहित होती है, उस क्षण उसका शुद्ध चैतन्य-वैभव प्रकट होता है।

* ‘स्व’ का ‘भवन’ अर्थात् होना; अस्तित्व ।

शास्त्रीयता की धूमिलता को यदि हम किञ्चित् हटायें और शब्द-को-शब्द-की-तरह जानें तो पायेंगे कि 'स्व + रूप' एक सीधा-सादा और साफ-सुथरा शब्द है, जिसके मायने हैं : 'मैं कौन हूँ की तलाश' 'मैं कौन हूँ की स्वानुभूति'। प्रश्न उठे हर पल कि मैं कौन हूँ? क्या मैं जैसा दीख पड़ रहा हूँ उतना/विंसा ही हूँ, या इससे आगे काफी-कुछ भिन्न हूँ, जो दिखायी नहीं पड़ रहा है? इन पृच्छाओं के साथ ही आत्मानुसन्धान की सूक्ष्म प्रक्रिया का सूत्रपात होता है। जब हम खुद, खुद को, खुद के द्वारा, जो खुद नहीं है उससे हट कर, खुद की, खुद में तलाश करते हैं, तब ध्यान की असली स्थिति और मुमुक्षु का यथार्थ मोर्चा सामने आता है। काम विकट है, दुःसाध्य है; किन्तु अध्यात्म के क्षेत्र का प्रमुख और अन्तिम लक्ष्य यही है। खुद-में-खुद-को-पाना, असंभव नहीं है, मुश्किल जरूर है; कठिनाई यह है कि हम वस्तु को प्रायः वहाँ तलाशते हैं, जहाँ वह होती नहीं है, किन्तु हमें वहाँ उसके होने का भ्रम होता है। हमारा असली युद्ध इस भ्रान्ति से ठनता है। मज्जा तब आता है, जब लोग गलत चराग ले कर गलत जगह गलत ढंग से वस्तु को ढूँढ़ते हैं। जो भी हो यदि व्यक्ति अपने काम और उसके स्वरूप को जाने बिना उसे संपन्न करने का प्रयत्न करेगा तो वह निश्चित ही असफल होगा यानी हमें जहाँ एक ओर वस्तु-स्वरूप [धम्मो वत्थु सहावो (वस्तु का होना ही उसका धर्म है)]-(कार्तिकेयानुप्रेक्षा/मूल/४७८)] को भली प्रकार जानना चाहिये, वहीं उस क्षेत्र की तकनीकी जानकारी भी यथासंभव हासिल करनी चाहिये; और यदि इसके साथ कहीं, कोई पद्धति-शास्त्र (मैथेडॉलॉजी) जुड़ा हुआ हो तो उसकी भी गहन जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिये। ऐसा न करने पर वस्तु को गलत समझे जाने और लक्ष्य से भटक जाने का खतरा प्रतिपग/प्रतिपल बना रहता है।

ध्यान रखें कि जब तक हम किसी वस्तु पर से उसके स्वभाव को ढंकेने वाली स्थितियों को परख कर हटा नहीं लेते, भ्रम बना रहेगा, सम्यक्त्व अप्रकट रहेगा; अतः हमें हेयोपादेय-प्रक्रिया से सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के मध्य एक स्पष्ट विभाजक रेखा डालनी चाहिये ताकि वस्तु-स्वरूप तक सहज पहुँच बन सके। 'स्वरूप-सम्बोधन' में आचार्य अकलंक भट्ट ने अनेकान्त की संवेदनशील, निष्पक्ष अँगुलियों से आत्मस्वरूप पर से उन सारे आच्छादनों को हटाने का संयोजन किया है, जो उसे या तो ढँके हुए थे, या ढँके रहते हैं। एकाग्रता-वनपाँइंटेडनेस-के बिना आत्मानुसन्धान और आत्मानुशासन दोनों ही संभव नहीं हैं। माध्यस्थ्यभाव एकाग्रता को प्रखर बनाने वाली मनःस्थिति है। इसमें हम समता के जिस समंदर में गोते लगाते हैं, वह स्वरूपाचरण की रित लाने में बड़ी अनुकूलताएँ उत्पन्न करता है। जिसे हम सम्यक्-चारित्र कहते हैं, उसकी इबारत करते हुए आचार्य अकलंक भट्ट कहते हैं-

दर्शनज्ञानपर्यायिषूत्तरोत्तर भाविषु ।
स्थिरमालम्बनं यद्वा माध्यस्थ्यं सुखदुःखयो ॥१३॥

(जो अपनी ही क्रमशः होने वाली पर्यायों में स्थिर रूप आलम्बन है, उसे सम्यक् चारित्र कहते हैं अथवा सांसारिक सुख:दु:खों में मध्यस्थ भाव रखने का नाम सम्यक् चारित्र है, अथवा शुद्धात्मस्वरूप में तल्लीन करने वाली भावनाओं की दृढ़ता को सम्यक् चारित्र कहते हैं।)

सम्यक्चारित्र/सम्यक्त्व-चारित्र को ही स्वरूपचारण चारित्र^१ कहते हैं। यह शुद्धानुभव का सहभावी होता है। इसका अंकुरण सम्यग्दर्शन/ज्ञान से होता है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, और चारित्र तीनों अविनाभावी हैं। इस कथन को तनिक तकनीकी आधार पर अधिकृत ग्रन्थों, या विशेषज्ञों से समझ लेना आवश्यक है। स्वरूपाचरण चारित्र के सिलसिले में गुणस्थानों^२ को जान लेना भी जरूरी है। गुणस्थान शब्द का सरल अर्थ है: मन, वचन, काय की प्रवृत्ति से अंतरंग परिणामों में होने वाले उतार-चढ़ाव। जैन दर्शन में इस पारिणामिक आरोह-अवरोह का एक यथार्थपरक, क्रमिक, वैज्ञानिक, और तर्कसंगत वर्गीकरण किया गया है तदनुसार गुणस्थान चौदह हैं। ये चारित्र-विकास की सीढ़ियाँ हैं। एक मुमुक्षु को इस निसैनी पर अपने पाँव रखने होते हैं।

इस संदर्भ में तीन शब्द और हैं—शुभोपयोग, अशुभोपयोग, और शुद्धोपयोग^३। इन्हें जानना भी स्वरूपाचरण की दृष्टि से उपयोगी है। उपयोग का पारिभाषिक अर्थ एकाग्रता है। चौथे, पाँचवें, और छठे गुणस्थानों में शुद्धोपयोग के साधक शुभ परिणाम उत्तरोत्तर समृद्ध होते जाते हैं। शुभ, अशुभ, और शुद्ध, परिणामों के सूक्ष्म स्तर हैं। अशुभ को शुभ और शुभ को शुद्ध क्रमशः ऊर्ध्वमुख प्रगति में अपदस्थ करते रहते हैं। संपूर्ण प्रक्रिया कभी मन्द और कभी तीव्र घटित होती है। इन तीनों को ले कर काफी गलतफहमियाँ रही हैं। तकनीकी शब्दावली ने ही वस्तुतः इस विवाद को उलझाया है। हमारे मत में साधक की मनोभूमिका के अनुरूप ही शब्दों का उपयोग किया जाना चाहिये। जहाँ तक हमारा मानना है जैन पारिभाषिक

(शेष पृष्ठ १६९ पर)

१. चारित्र के ४ भेद हैं—स्वरूपाचरण, देश, सकल, यथाख्यात। श्रावक के व्रतों को देश, मूनि के व्रतों को सकल, कषायों के सर्वथा अभाव से निष्पन्न आत्मशुद्धि को यथाख्यात, तथा शुद्धानुभव के सह/क्रमवर्ती चारित्र को स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं।
२. गुणस्थान १४ हैं—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त विरत, अप्रमत्त विरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म साम्पराय, उपशान्त मोह, क्षीणमोह, सयोग केवली, अयोग केवली।
३. चेतना की क्षयोपशम के निमित्त से जो परिणति होती है उसे उपयोग कहते हैं, यह त्रिविध है: शुभोपयोग (जीव की पुण्यात्मक प्रवृत्ति), अशुभोपयोग (उसकी पापपरक परिणति), शुद्धोपयोग (ज्ञाता-दृष्टारूप वीतराग/साम्य परिणति)।

१६/जैन ध्यान, योग विशेषांक

मुक्ति-साधक : धर्म्य/शुक्ल ध्यान

परमार्थ से सुख आत्मा का गुण है, और दुःख उसी की वैभाविक पर्याय है। सुख-दुःख की उत्पत्ति आत्माश्रित है, पर पदार्थ के आश्रित नहीं है। जिस सर्प को देख कर हम भयभीत होते हैं, उसे ही सँपेरा अपने पिटारे में डाल कर अपना उदर-पोषण करता है। विपरीत धारणा मिथ्यात्व को ही एक आकृति है, अतः यह स्पष्ट है कि मिथ्यात्व इष्ट-अनिष्ट बुद्धि का जनक है। धर्म्य और शुक्ल इसी पर चोट करते हैं।

—डॉ. पन्नलाल साहित्याचार्य

अनादि काल से संश्लिष्ट जीव और पुद्गल द्रव्य की इस संयोगी पर्याय में जब तक एकत्वविभक्त तथा शुद्ध ज्ञायक स्वभाव आत्मा का पृथक् से अनुभव नहीं होता, तब तक यह जीव संसार-परिभ्रमण से मुक्त नहीं हो सकता; इसलिए सर्व-प्रथम प्रज्ञारूपी छैनी के द्वारा जीव और पुद्गल का विभाग कर शुद्ध आत्मतत्त्व की प्रतीति करना चाहिये। उस आत्मतत्त्व की दृढ़ प्रतीति के लिए आत्मध्यान की आवश्यकता है।

आत्माश्रित ध्यान की प्राप्ति के लिए सब में पहले शरीर में आत्मबुद्धि छोड़ कर आत्मा में आत्मबुद्धि करना चाहिये। शरीर में परत्व-बुद्धि होते ही राग-द्वेष की जड़ कट जाती है, क्योंकि राग-द्वेष का प्रारम्भ शरीर में आत्मबुद्धि होने से ही होता है। शरीर में राग होने से शरीर को सुख देने वाले पदार्थों में इष्ट बुद्धि होती है और शरीर को दुःख देने वाले पदार्थों में अनिष्ट बुद्धि होती है। यह इष्ट-अनिष्ट-बुद्धि ही राग-द्वेष की जनक है। इस संदर्भ में यह भी विचार करने योग्य है कि इस इष्ट-अनिष्ट बुद्धि का जनक कौन है? विचार करने पर विदित होता है कि इष्ट-अनिष्ट बुद्धि का जनक वह विपरीत मान्यता है, जिसके कारण यह श्रद्धा होती है कि परपदार्थ सुख-दुःख के देने वाले हैं। परमार्थ से सुख आत्मा का गुण है, और दुःख उसी की वैभाविक पर्याय है। तात्पर्य यह है कि सुख-दुःख की उत्पत्ति आत्माश्रित है, परपदार्थ के आश्रित नहीं। जिस सर्प को देख कर हम भयभीत होते हैं उसी सर्प को सँपेरा अपने पिटारे में रख उससे अपनी आजीविका चलाता है। विपरीत मान्यता मिथ्यात्व की ही एक आकृति है, अतः यह स्पष्ट है कि मिथ्यात्व ही इष्ट-अनिष्ट-बुद्धि का जनक है। इस इष्ट-अनिष्ट-बुद्धि से ही परपदार्थों का संग्रह और निराकरण होता है। इसी भाव से उपयोग की चंचलता होती है और उपयोग की इस चञ्चलता से ध्यान में बाधा आती है।

आचार्यों ने ध्यान का लक्षण कहा है: 'उत्तम संहनन वाले जीव का किसी पदार्थ में अन्तर्मुहूर्त के लिए जो चिन्ता का निरोध होता है, वही ध्यान है'। उस

ध्यान के आत्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल के भेद से चार भेद हैं। इनमें आत्त और रौद्र संसार-भ्रमण के कारण हैं तथा धर्म्य और शुक्ल मोक्ष के। शुक्लध्यान मोक्ष का साक्षात् कारण है तथा धर्म्यध्यान परम्परा से। तत्त्वार्थसूत्रकार की मान्यता से धर्म्यध्यान चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सप्तम गुणस्थान तक होता है और शुक्लध्यान अष्टम गुणस्थान से प्रारम्भ होकर चतुर्दश गुणस्थान तक चलता है। शुक्लध्यान का पहला भेद—पृथक्त्व वितर्क वीचार आठवें से ग्यारहवें गुणस्थान तक और दूसरा भेद—एकत्व वितर्क बारहवें गुणस्थान में होता है। तीसरा भेद—सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति तेरहवें गुणस्थान के अन्त में होता है और चौथा भेद—व्युपरत क्रियानिर्वृति चौदहवें गुणस्थान में होता है। प्रथम भेद के द्वारा मोहनीय कर्म का उपशम अथवा क्षय होता है। दूसरे भेद के द्वारा प्रमुख रूप से तीन घातिया कर्मों का क्षय होता है। तीसरे भेद के द्वारा सत्तास्थित कर्मों की सातिशय निर्जरा होती है और चौथे भेद के द्वारा समस्त कर्मों का क्षय होकर मोक्ष प्राप्त होता है। इस काल में शुक्लध्यान की प्राप्ति संभव नहीं है; परन्तु धर्म्यध्यान निर्विवाद रूप से होता है।

धर्म्यध्यान

धर्म्यध्यान के आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय, और संस्थान-विचय, ये चार भेद बतलाये हैं। इनमें आज्ञाविचय सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों का ध्यान वीतराग सर्वज्ञदेव की आज्ञा के आश्रय से होता है। अपायविचय धर्म्यध्यान में चतुर्गतियों के दुःख तथा उनसे बचने के उपायों का चिन्तन होता है। विपाकविचय धर्म्यध्यान में आठ कर्म, तथा उनकी उत्तर प्रकृतियों के विपाक—फल का विचार होता है, और संस्थानविचय धर्म्यध्यान में मेरु तथा नन्दीश्वर आदि द्वीपस्थ चैत्यालयों की आकृति का चिन्तन होता है। यह व्यवहार धर्म्यध्यान का विस्तार है; निश्चय धर्म्यध्यान का विषय स्वकीय आत्मा है, अर्थात् उसमें स्वकीय आत्मा के गुण और पर्यायों का चिन्तन होता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि ध्यान का मुख्य उद्देश्य चित्त को स्थिर करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति का लक्ष्य रख कर 'ज्ञानार्णव' में शुभचन्द्राचार्य ने संस्थान विचय धर्म्यध्यान के नीचे लिखे चार भेदों का विशद वर्णन किया है: पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, और रूपातीत।

पिण्डस्थ ध्यान में पार्थिवी, आग्नेयी, मास्ती, वारुणी, और तत्त्वरूपवती इन पाँच धारणाओं का चिन्तन किया जाता है। यहाँ संक्षेप में इन धारणाओं का स्वरूप दिया जा रहा है।

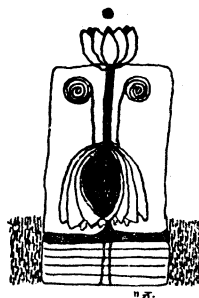
पार्थिवी धारणा

प्रथम ही योगी—ध्यान करने वाला, ऐसा विचार करे कि यह मध्यम लोक निस्तरङ्ग क्षीर-समुद्र है। उस क्षीर-समुद्र के बीच में सुवर्ण के समान प्रभावाला

एक सहस्रदल कमल है। वह कमल केशर की पंक्ति से सुशोभित है तथा जम्बूद्वीप के समान एक लाख योजन विस्तार वाला है। उस सहस्रदल कमल के बीच सुमेरु के समान पीले रंग की एक कर्णिका है। उस कर्णिका पर शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान श्वेत रंग का एक सिंहासन है और उस सिंहासन पर मेरा आत्मा विराजमान है। साथ ही यह विचार भी करे कि मेरी यह आत्मा राग-द्वेष से रहित है तथा समस्त कर्म औ नोकर्म के समूह को नष्ट करने में समर्थ है। पार्थिवी धारणा में इस प्रकार का प्रखर चिन्तवन किया जाता है।

आग्नेयी धारणा

ऐसा चिन्तवन करे कि मेरे नाभि-मण्डल में सोलह पाँखुड़ियों से सुशोभित, एक कमल है। उस कमल की सोलह पाँखुड़ियों पर क्रम से 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ लृ ए ऐ ओ औ अं अः' ये सोलह बीजाक्षर हैं; तथा उस कमल की कर्णिका पर 'ह्रीं' बीजाक्षर लिखा हुआ है। इस महामन्त्र स्वरूप 'ह्रीं' बीजाक्षर की रेफ से धीरे-धीरे धूम्र निकलता हुआ अनुभव करे, पश्चात् अग्नि के स्फुलिङ्ग निकल रहे हैं ऐसा ध्यान करे, और तदनन्तर चिन्तवन करे कि उस अग्नि ने एक प्रचण्ड रूप धारण कर हृदयस्थ कमल को दग्ध कर दिया है। हृदयस्थ कमल आठ पाँखुड़ियों से सहित है, उसका मुख नीचे की ओर है, उन पाँखुड़ियों पर क्रम से ज्ञानावरणादि आठ कर्मों की स्थापना की जाती है। नाभि-मण्डल के पूर्वोक्त सोलह पाँखुड़ी वाले कमल की कर्णिका पर स्थित 'ह्रीं' बीजाक्षर की रेफ से निकलने वाली अग्नि इस हृदय-स्थित कमल को जला देती है। पश्चात् ऐसा चिन्तवन करे कि शरीर के बाहर एक त्रिकोण अग्निमण्डल है। वह अग्निमण्डल 'रररर' ऐसे बीजाक्षरों से व्याप्त है तथा उसके अन्त में ॐ साँथिया है। यह अग्नि, धूम-रहित अतिशय देदीप्यमान है और अपनी ज्वालाओं के समूह से नाभिस्थ कमल और शरीर को भस्म कर, जलाने योग्य पदार्थ के न रहने से अपने-आप शान्त हो जाती है। ऐसा चिन्तवन करना आग्नेयी धारणा है।



माहती धारणा

आग्नेयी धारणा के बाद ऐसा चिन्तवन करे कि आकाश में एक प्रचण्ड वायु उठी है। वह वायु मेरु पर्वत को कम्पित कर रही है, मेघों को छिन्न-भिन्न कर रही है, समुद्र के जल को तरंगों से आप्लुत कर रही है, धीरे-धीरे वह वायु तीव्र गति से दसों दिशाओं में फैल रही है, पृथिवी-तल को विदीर्ण कर भीतर प्रवेश कर रही

है और इस प्रचण्ड वायु के द्वारा आग्नेयी धारणा में संचित सब भस्म उड़ गयी है, पश्चात् वह वायु अपने-आप शान्त हो गयी है। ऐसा चिन्तवन मारुती धारणा है।

वारुणी धारणा

ऐसा चिन्तवन करे कि आकाश काले-काले बादलों से आच्छादित हो रहा है, बिजली चमक रही है, इन्द्रधनुष दिखायी दे रहा है। बीच-बीच में होने वाली भयंकर गर्जना दिशाओं को शब्दायमान कर रही है। उन बादलों से निकली हुई जल की स्वच्छ धाराओं से आकाश व्याप्त हो गया है। ये जल की धाराएँ हम पर पड़ने लगी हैं तथा उनके द्वारा आग्नेयी धारणा में संचित भस्म का समूह बहा जा रहा है और मेरी आत्मा अत्यन्त निर्मल हो गयी है। ऐसा चिन्तवन वारुणी धारणा है।

तत्त्वरूपवती धारणा

योगी ऐसा चिन्तवन करता है कि मेरी आत्मा सप्तधातु-रहित है, पूर्णचन्द्र के समान उज्ज्वल है, सर्वज्ञ है, अतिशय-युक्त सिंहासन पर आरूढ़ है, सुर और असुर उसकी पूजा कर रहे हैं, उसके आठ कर्म नष्ट हो गये हैं और पुरुषाकार सिद्ध परमेष्ठी की सदृशता को प्राप्त हो रही है। ऐसा चिन्तवन करना तत्त्वरूपवती धारणा है।

इस पिण्डस्थ ध्यान के द्वारा चित्त को स्थिर करने वाला योगी शुक्लध्यान धारण करने में समर्थ होता है।

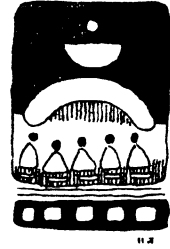
पदस्थ ध्यान

पदस्थ ध्यान करने वाला योगी सर्वप्रथम वर्णमातृका का ध्यान करना है; क्योंकि वर्णमातृका - वर्णमाला ही सब मन्त्रों की जननी होने से 'मातृका' कहलाती है। वर्णमातृका का ध्यान करने वाला योगी चिन्तवन करता है कि मेरे नाभिमण्डल में सोलह पाँखुड़ियों का एक कमल है, जिसकी प्रत्येक पाँखुड़ी पर 'अ आ' आदि सोलह स्वर लिखे हुए हैं। पश्चात् ध्यान करता है कि हृदयस्थल पर चौबीस पाँखुड़ियों का एक कमल बना हुआ है, उस कमल की एक कर्णिका भी है। इन चौबीस पाँखुड़ियों और कर्णिका पर पाँच वर्ग के पच्चीस व्यञ्जन लिखे हुए हैं। तदनन्तर चिन्तवन करता है कि मुखमण्डल के ऊपर आठ पाँखुड़ियों का कमल बना हुआ है और उन आठ पाँखुड़ियों पर क्रम से 'य र ल व श ष स ह' ये आठ अक्षर लिखे हुए हैं। वर्णमातृका का ध्यान करने वाले मनुष्य को वचन-सिद्धि प्राप्त होती है; अर्थात् जिससे जो कह दे, वह पूर्ण हो जाता है।

पदस्थ ध्यान में बैठा हुआ योगी कभी 'हँ' 'अहँ' तथा 'ॐ' पद का ध्यान करता है, कभी पंच नमस्कार मन्त्र का ध्यान करता है। ध्यानविधि इस प्रकार है :

ध्यानस्थ योगी चिन्तवन करता है कि मेरे हृदय में आठ पाँखुड़ियों से विभूषित एक कमल है। उस कमल की कर्णिका पर 'णमो अरहंताणं' सात अक्षरों का यह मन्त्र लिखा है, चार दिशाओं की चार पाँखुड़ियों पर क्रम से 'णमोसिद्धाणं,

णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं,' और 'णमो लोए सव्व साहूणं' लिखा हुआ है; तथा विदिशाओं की चार पाँखुड़ियों पर क्रम से 'सम्यग्दर्शनाय नमः' 'सम्यग्ज्ञानाय नमः' 'सम्यक् चारित्र्याय नमः' और 'सम्यक् तपसे नमः' लिखा हुआ है। यह महामन्त्र कहलाता है। इसके ध्यान से समस्त विघ्न नष्ट होकर अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है। इस पदस्थ ध्यान में चिन्तवन करने योग्य अनेक



मन्त्र हैं, जिनका अध्ययन 'ज्ञानार्णव' के ३८वें अध्याय से करना चाहिये। लेख-विस्तार के भय से उन सब मन्त्रों तथा उनकी विधियों का उल्लेख यहाँ करना संभव नहीं है।

रूपस्थ ध्यान

रूपस्थ ध्यान में बैठा हुआ योगी समवसरण में बिराजमान अरहन्त परमेष्ठी का ध्यान करता है। कभी उनके सिंहासन तथा छत्रत्रय आदि आठ प्रातिहार्यों का विचार करता है, कभी चार घातिया कर्मों के नाश से उत्पन्न हुए अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, और अनन्तवीर्य, इन चार आत्मगुणों का चिन्तवन करता है। कभी गन्धकुटी में अन्तरिक्ष-बिराजमान अरहन्त भगवान् का चिन्तवन करता है। कभी चिन्तवन करता है कि गन्धकुटी को घेर कर बारह सभाएँ बनी हुई हैं और उनमें चतुर्निकाय देव, देवाङ्गनाएँ, मनुष्य, स्त्रियाँ, मुनि-समूह तथा तिर्यञ्च शान्तभाव से बैठे हुए हैं। भगवान् की दिव्यध्वनि खिर रही है और सब लोग शान्त हो कर श्रवण कर रहे हैं। कभी भगवान् के द्वारा निरूपित सात तत्त्व, नव पदार्थ, और षड् द्रव्यों का चिन्तवन करता है; कभी विचार करता है कि भगवान् का परमौदारिक शरीर धातु-उपधातु के विभाव से रहित है। त्रस जीव तथा वादर निगोदिया उनके शरीर से निकल गये हैं। वे कवलाहार से रहित हो कर भी देशोनकोटि वर्ष तक स्थिर रहते हैं। कभी तेरहवें गुणस्थान के अन्त में होने वाले दण्ड, कपाट, प्रतर और-लोकपुरुष इन चार समुद्घातों का विचार करता है। कभी विचार करता है कि भगवान् शुक्लध्यान के तृतीय पाये में विलीन हैं, योग-निरोध कर चुके हैं। समवसरण विघट गया है; देव, दानव, मनुष्य तथा पशु उनकी शान्त मुद्रा को देख कर परमशान्ति का अनुभव करते हुए मुक्ति-प्रयाण की प्रतीक्षा कर रहे हैं। इस प्रकार का ध्यान रूपस्थ कहलाता है।

रूपातीत ध्यान

कर्म, नोकर्म, और भावकर्म से रहित शुद्ध आत्मतत्त्व-रूप सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान करना रूपातीत ध्यान कहलाता है। आठ कर्मों का क्षय हो जाने से उनके क्रम से अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अव्याबाध सुख, क्षायिक सम्यक्त्व, अवगाहना,

सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व, और अनन्त वीर्य, ये आठ गुण प्रकट हुए हैं। वे अन्तिम शरीर से किञ्चित् ऊन, अवगाहना को धारण करते हैं, लोकाग्रभाग पर स्थित हैं, उनकी यह पर्याय सादि अनन्त पर्याय है। क्षेत्र, काल, गति, लिंग आदि की अपेक्षा यद्यपि उनमें भेद होता है तथापि आत्मगुणों की अपेक्षा कोई भेद नहीं है। क्षेत्रादि का भेद केवल औपचारिक भेद है। वे धन्य हैं जो आठ कर्मों को नष्ट कर इस अवस्था को प्राप्त हुए हैं। हम दीर्घ संसारी हैं, जो अभी इसी संसार-चक्र में परिभ्रमण कर रहे हैं; परन्तु हम भी कभी इस 'सिद्ध पर्याय' को प्राप्त करने की योग्यता रखते हैं।

उपर्युक्त चतुर्विध धर्म्यध्यान के फलस्वरूप यह जीव स्वर्ग में उत्पन्न होता है और वहाँ से आ कर शुक्लध्यान धारण कर मोक्ष को प्राप्त होता है।

शुक्लध्यान

संज्वलन कषाय के अत्यन्त मन्द उदय, उपशम, अथवा क्षय होने पर जो ध्यान होता है वह शुक्लध्यान कहलाता है। इसके चार भेद हैं: पृथक्त्व वितर्क वीचार, एकत्व वितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, व्युपरत क्रियानिर्वति। उपशम श्रेणी अथवा क्षपक श्रेणी में आरूढ मुनि के आठवें गुणस्थान में 'पृथक्त्व वितर्क वीचार' नाम का शुक्लध्यान होता है। इस ध्यान में संज्वलन के मन्दोदय जनित इच्छा के विद्यमान रहने से अर्थ, व्यञ्जन और योग में संक्रान्ति/परिवर्तन होता रहता है; अर्थात् आगम के एक शब्द या वाक्य को छोड़ कर दूसरे शब्द या वाक्य पर चित्त परिवर्तित होता है, कभी द्रव्य को छोड़ पर्याय का और कभी पर्याय को छोड़ गुण का आलम्बन लेता है। कभी मनोयोग को छोड़ वचन योग, और कभी वचन योग को छोड़ काय योग का आलम्बन लेता है। इस प्रथम भेद के प्रभाव से उपशम श्रेणी वाला मुनि दशम गुणस्थान के अन्त तक चारित्र मोह का उपशम कर चुकता है और ग्यारहवें गुणस्थान से उपशान्त मोह छद्मस्थ वीतराग संज्ञा को प्राप्त होता है तथा क्षपक श्रेणी वाला दशम गुणस्थान के अन्त तक चारित्र मोह का क्षय कर बारहवें गुणस्थान में क्षीणमोह छद्मस्थ वीतराग संज्ञा को प्राप्त होता है।

तदनन्तर बारहवें गुणस्थान में एकत्व वितर्क नामक द्वितीय शुक्लध्यान प्रकट होता है। इस शुक्लध्यान में इच्छा का सर्वथा अभाव रहता है, इसलिए व्यञ्जन-शब्द, अर्थ, और योग में किसी प्रकार का संक्रमण नहीं होता। जिस व्यञ्जन अर्थ, अथवा योग से ध्यान का प्रारम्भ होता है अन्तर्मुहूर्त तक उसी पर स्थिर रहता है। इस शुक्लध्यान के द्वारा शेष तीन घातिया कर्मों और नामकर्म की १३ प्रकृतियों का क्षय होता है। पहला शुक्लध्यान तीनों योगों के धारक के होता है और दूसरा शुक्लध्यान तीन में से किसी एक योग के धारक मुनि के होता है। घातिया कर्मों का क्षय हो जाने से तेरहवें गुणस्थान में 'अरहन्त' अवस्था प्रकट होती है। यदि अरहन्त, तीर्थकर पद के भी धारक हैं, तो उनके समवसरण की रचना होती है

(शेष पृष्ठ 27 पर)

शुभ्रता की ओर तेज कदम : शुक्लध्यान

जिसके शुक्ल लेश्या है, जो स्वभाव से ही शूरवीर है, वज्रवृषभनाराच-संहनन का धारी है, किसी एक संस्थान वाला है; चौदह, दस, या नौ पूर्व का धारी है, क्षायिक सम्यग्दृष्टि है, और जिसने समस्त कषायों का क्षय कर दिया है ऐसा क्षीणकाय जीव नौ पदार्थों में से किसी एक पदार्थ का, द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद से ध्यान करता है।

—पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री

ध्यान का प्राचीनतम वर्णन 'तत्त्वार्थ सूत्र' और उसके टीकाग्रन्थ 'सर्वार्थासिद्धि' तथा 'तत्त्वार्थवार्तिक' में मिलता है। वीरसेन स्वामी ने 'ध्वला' टीका के वर्णनाखण्ड के अन्तर्गत तपःकर्म का वर्णन करते हुए ध्यान का वर्णन किया है। उसके चार अधिकार हैं—ध्याता, ध्येय, ध्यान, ध्यान-फल। जो उत्तम संहनन वाला, स्वभाव से ही बलशाली शूरवीर, तथा चौदह, या नौ-दस पूर्वों का धारी होता है वह ध्याता है; क्योंकि इतना ज्ञान हुए बिना जिसने नौ पदार्थों को भले प्रकार नहीं जाना है उसके ध्यान की उपपत्ति नहीं हो सकती। वह ध्याता समस्त अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह का त्यागी होता है; क्योंकि जो क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, यान, आसन, शयन, शिष्य, कुल, गण, और संघ के कारण उत्पन्न हुए मिथ्यात्व क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय; जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद आदि, अन्तरंग परिग्रह की आकांक्षा से घिरा है उसके शुभ ध्यान नहीं हो सकता।

शुभ ध्यान के दो प्रकार हैं : धर्म ध्यान, और शुक्ल ध्यान। दोनों ही ध्यानों में विषय की अपेक्षा कोई भेद नहीं है; किन्तु इतनी विशेषता है कि धर्मध्यान एक वस्तु में थोड़े समय तक रहता है; क्योंकि कषाय-सहित परिणाम चिरकाल तक स्थिर नहीं रह सकता; और धर्मध्यान कषाय-सहित जीवों के होता है; परन्तु शुक्ल ध्यान के एक पदार्थ में स्थिर रहने का काल धर्मध्यान के अवस्थान-काल से संख्यात गुणा है; क्योंकि वीतराग परिणाम बहुत काल वीतने पर भी चलायमान नहीं होता। शंका : क्या उपशान्त कषाय गुणस्थान में पृथक्त्व वितर्क वीचार ध्यान का अवस्थान अन्तर्मुहूर्त काल ही पाया जाता है ?

समाधान : यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि वीतरागता के नष्ट होने से उसका विनाश हो जाता है।

शंका : क्या उपशान्त कषाय के ध्यान का अर्थ से अर्थान्तर में गमन होता है ?

समाधान : नहीं, क्योंकि अर्थान्तर में गमन होने पर भी चित्तान्तर में गमन का अभाव होने से ध्यान का विनाश नहीं होता।

शंका : क्या वीतरागता के रहते हुए भी क्षीणकषाय में होने वाले एकत्व वितर्क अवीचार ध्यान का विनाश देखा जाता है ?

समाधान : नहीं, क्योंकि, आवरण का अभाव होने से समस्त द्रव्य पर्यायों में उपयुक्त केवल ज्ञान का उपयोग एक द्रव्य अथवा पर्याय में अवस्थित नहीं रहता। यह देख कर उस ध्यान का अभाव कहा है इस प्रकार सकषाय और अकषाय रूप स्वामी के भेद से तथा अचिरकाल और चिरकाल तक ठहरने के कारण दोनों ध्यानों में भेद है।

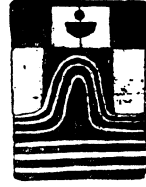
कषायमल का अभाव होने से इसका नाम शुक्लध्यान है। उसके चार भेद हैं—पृथक्त्व वितर्क वीचार, एकत्व वितर्क अवीचार, सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती, समुच्छ्रित अप्रतिपाती या व्युपरत क्रियानिवृत्ति।

पृथक्त्व का अर्थ है भेद, वितर्क का अर्थ है द्वादशांगश्रुत, और वीचार का मतलब है अर्थ, व्यञ्जन, और योग का बदलना। पृथक्त्व अर्थात् भेदरूप से वितर्क अर्थात् श्रुत का वीचार अर्थात् बदलना जिस ध्यान में होता है वह पृथक्त्व वितर्क वीचार नामक प्रथम शुक्ल ध्यान है।

इसका भावार्थ यह है—चौदह, दस और नौ पूर्वों का धारी, प्रशस्त तीन संहनन वाला, कषाय-कलंक से पार को प्राप्त हुआ और तीन योगों में से किसी एक योग में विद्यमान ऐसा उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ जीव, बहुत नय-रूप वन में लीन एक द्रव्य या गुणपर्याय को श्रुतरूपी सूर्य की किरणों के प्रकाश के बल से ध्याता है। इस प्रकार उसी पदार्थ को अन्तर्मुहूर्त काल तक ध्याता है। इसके बाद नियम से अर्थान्तर पर संक्रमित होता है; अथवा उसी अर्थ के गुण या पर्यायान्तर पर संक्रमित होता है; और पूर्व योग से योगान्तर पर संक्रमित होता है। इस तरह एक अर्थ, अर्थान्तर, गुण, गुणान्तर और पर्याय, पर्यायान्तर को नीचे-ऊपर स्थापित करके फिर तीन योगों को एक पंक्ति में स्थापित करके द्विसंयोग, त्रिसंयोग की अपेक्षा यहाँ पृथक्त्व वितर्क वीचार ध्यान के ४२ भंग होते हैं। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल तक शुक्ल लेश्या वाला उपशान्त कषाय जीव छह द्रव्य और नौ पदार्थ विषयक पृथक्त्व वितर्क वीचार ध्यान को अन्तर्मुहूर्त काल तक ध्याता है। अर्थ से अर्थान्तर में संक्रान्त होने पर भी ध्यान का विनाश नहीं होता; क्योंकि इससे चिन्तान्तर में गमन नहीं होता। इस ध्यान के फलस्वरूप संवर, निर्जरा और अमर सुख प्राप्त होता है; क्योंकि इससे मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार यह पृथक्त्व वितर्क वीचार ध्यान का स्वरूप हुआ।

अब दूसरे शुक्लध्यान पर विचार करते हैं। एक के भाव को एकत्व कहते हैं; वितर्क द्वादशांग को कहते हैं, और अवीचार का अर्थ असंक्रान्ति है। अभेदरूप से वितर्क सम्बन्धी अर्थ, व्यञ्जन और योगों का अवीचार अर्थात् असंक्रान्ति जिस ध्यान में होती है वह एकत्व वितर्क अवीचार ध्यान है।

जिसके शुक्ल लेश्या है; जो स्वभाव से ही शूरवीर है, वज्र-वृषभ-नाराच संहनन का धारी है, किसी एक संस्थान वाला है; चौदह, दस, या नौ पूर्व का धारी है, क्षायिक सम्बन्ध है और जिसने समस्त कषायों का क्षय कर दिया है ऐसा क्षीणकषाय जीव नौ पदार्थों में से किसी एक



पदार्थ का, द्रव्य गुण के पर्याय भेद से ध्यान करता है। इस प्रकार किसी एक योग और एक पद के आलम्बन से वहाँ एक द्रव्य गुण या पर्याय में मेरुपर्वत के समान निश्चल रूप से स्थिर चित्त वाले, कर्मस्कन्धों की असंख्यात गुण-श्रेणी के क्रम से निर्जरा करने वाले, कर्मों के अनुभाग को अनन्त गुण हीन क्रम से कम करने वाले और कर्मों की स्थितियों का घात करने वाले उस जीव के अन्तर्मुहूर्त काल बीतता है। क्षीणकषाय के अन्तिम समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन कर्मों का एक साथ विनाश हो जाता है। इस प्रकार इनका विनाश होने पर वह जीव केवलज्ञानी, केवल दर्शनी और अनन्तवीर्य का धारी होता है। यह दूसरे शुक्लध्यान का स्वरूप है।

तीसरे शुक्लध्यान का नाम सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती है। क्रिया का अर्थ योग है। वह जिसके पतनशील हो वह प्रतिपाती कहलाता है और उसका उल्टा अप्रतिपाती कहलाता है। जिसमें क्रिया अर्थात् योग सूक्ष्म होता है वह सूक्ष्मक्रिय कहा जाता है और सूक्ष्मक्रिय हो कर जो अप्रतिपाती होता है वह सूक्ष्मक्रिय अप्रतिपाती ध्यान कहलाता है। यहाँ केवलज्ञान होने से श्रुतज्ञान का अभाव हो जाता है इसलिए वह अवितर्क है और अर्थान्तर की संक्रान्ति का अभाव होने से अवीचार है अथवा व्यंजन और योग की संक्रान्ति का अभाव होने से अवीचार है।

सयोगकेवली जिन कुछ कम पूर्व कोटिकाल तक विहार कर आयु के अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहने पर दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घात करते हैं। इस क्रम से अन्तर्मुहूर्त काल बीतने पर योगनिरोध करते हैं; अर्थात् वादर काययोग के द्वारा वादर मनोयोग का निरोध करते हैं; फिर अन्तर्मुहूर्त में वादर काययोग के द्वारा वादर वचनयोग का निरोध करते हैं; फिर अन्तर्मुहूर्त में वादर काययोग के द्वारा वादर उच्छ्वास-निश्वास का निरोध करते हैं; फिर अन्तर्मुहूर्त में वादर काययोग के द्वारा उसी वादर काययोग का निरोध करते हैं; फिर अन्तर्मुहूर्त में सूक्ष्म काययोग के द्वारा सूक्ष्म मनोयोग का निरोध करते हैं; फिर अन्तर्मुहूर्त में सूक्ष्म काययोग के द्वारा सूक्ष्म वचनयोग का निरोध करते हैं; फिर अन्तर्मुहूर्त में सूक्ष्म काययोग के द्वारा सूक्ष्म उच्छ्वास-निश्वास का निरोध करते हैं; फिर अन्तर्मुहूर्त काल बीतने पर सूक्ष्म काययोग के द्वारा सूक्ष्म काययोग का निरोध करते हैं। इस योग-निरोध-काल में केवली जिन सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती ध्यान को ध्याते हैं।

चौथे शुक्ल ध्यान में क्रिया अर्थात् योग सम्यक् प्रकार से उच्छिन्न हो जाता है अतः वह समुच्छिन्न क्रिय कहलाता है, और समुच्छिन्न क्रिय हो कर जो अप्रतिपाती हो वह समुच्छिन्न क्रिया प्रतिपाती ध्यान है। वह श्रुत-ज्ञान से रहित होने से अवितर्क है। जीव प्रदेशों के परिस्पन्द का अभाव होने से अवीचार है। अथवा, अर्थ, व्यंजन और योग की संक्रान्ति का अभाव होने से अवीचार है। अघाती चार कर्मों का विनाश इस ध्यान का फल है। सब कर्मों से मुक्त हुआ जीव एक समय में सिद्धि को प्राप्त होता है।

शुक्लध्यान का यह वर्णन 'धवला' टीका के वर्णना खण्ड के अनुसार है। इसमें प्रथम शुक्लध्यान उपशान्त कषाय के और दूसरा क्षीणकषाय के कहा है, किन्तु 'तत्त्वार्थ सूत्र' में कहा है कि प्रथम दो शुक्लध्यान श्रुत केवली के होते हैं— 'शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः'। इस सूत्र में आगत 'च' शब्द से 'तत्त्वार्थ सूत्र' की टीका 'सर्वार्थसिद्धि' और 'तत्त्वार्थवातिक' में धर्मध्यान का भी ग्रहण किया है और लिखा है कि श्रेणी पर आरोहण करने से पहले धर्मध्यान और श्रेणी में शुक्लध्यान होता है। श्रेणी शुरू होती है आठवें गुणस्थान से; अतः इन ग्रन्थों के अनुसार प्रथम शुक्ल-ध्यान आठवें गुणस्थान से होता है।

'सर्वार्थसिद्धि' में ध्यान का वर्णन करते हुए लिखा है—जैसे बालक बड़े उत्साह से ठूँठी तलवार से वृक्ष को काटने का प्रयास करता है वैसे ही ध्यान का अभ्यासी मुनि अर्थ और व्यञ्जन तथा काय और वचन में पृथक्त्व रूप से संक्रमण करते हुए मन के द्वारा मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशम, या क्षय करता हुआ पृथक्त्व वितर्क वीचार ध्यान को ध्याता है। वही मुनि जब मोहनीय कर्म को जड़मूल से नष्ट करना चाहता है तो अनन्तगुणी विशुद्धि विशेष को अपना कर ज्ञानावरण की सहायीभूत बहुत-सी प्रकृतियों के बन्ध का निरोध करता है तथा उनकी स्थिति को घटाता तथा नष्ट करता है; तथा श्रुतज्ञान में उपयुक्त हो कर भी अर्थ, व्यंजन और योग की संक्रान्ति से रहित होता है। उसका मन अविचल होता है ऐसा वह क्षीण-कषाय गुणस्थानवर्ती मुनि ध्यान लगा कर उससे लौटता नहीं है, उसके एकत्व वितर्क ध्यान कहा है।

इस एकत्व वितर्क ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा चार धाति कर्मरूपी ईधन को जला देने पर उसके केवलज्ञान रूपी-सूर्य उदित होता है। तब वह सामान्य केवली, या तीर्थंकर केवली उत्कृष्ट रूप से कुछ कम एक पूर्व कोटि काल तक विहार करते हैं। जब उनकी आयु एक अन्तर्मुहूर्त शेष रहती है तब सब प्रकार के वचनयोग, मनोयोग और वादर काययोग को त्याग कर सूक्ष्म काययोग का अवलम्बन ले कर सूक्ष्म त्रिया-प्रतिपाती ध्यान को ध्याते हैं; किन्तु यदि अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहने पर शेष तीन कर्मों की स्थिति उससे अधिक शेष रहती है तब वे अपने आत्मप्रदेशों को फैला कर कर्मरूपी धूलि को नष्ट करने के लिए दण्ड, कपाट, प्रतर और लोक-

पूरण समुद्घात करके उसे संकोच लेते हैं। ऐसा करने से चारों कर्मों की स्थिति समान हो जाती है। उसके पश्चात् सूक्ष्म क्रिया-प्रतिपाती ध्यान को ध्याते हैं उसके पश्चात् चौथे समुच्छिन्न क्रियानिवृत्ति ध्यान को ध्याते हैं। इसमें प्राणायाम के प्रचार रूप क्रिया का तथा सब प्रकार के काययोग, वचनयोग, और मनोयोग के द्वारा होने वाले आत्मप्रदेश परिस्पन्द रूप क्रियाबल उच्छेद हो जाने से इसे समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति ध्यान कहते हैं। इसमें सब प्रकार के कर्मबन्ध के आस्रव का निरोध हो जाने से तथा समस्त शेष रहे कर्मों को नष्ट करने की शक्ति प्रकट हो जाने से, अयोग केवली जिन के संसार के समस्त दुःख-जाल के संबन्ध का विनाश करने वाला सम्पूर्ण यथाख्यात चरित्र, ज्ञान और दर्शन जो साक्षात् मोक्ष का कारण है, प्रकट होता है। तब वह भगवान् अयोग केवली ध्यानातिशय रूप अग्नि के द्वारा समस्त कर्ममल कलंक रूप बन्धन को पूरी तरह जला कर जिस सुवर्ण पाषाण के पाषाण-मल आदि समस्त नष्ट हो कर शुद्ध सुवर्ण बन गया है उसे शुद्ध सुवर्ण की तरह शुद्ध हो कर मोक्ष को प्राप्त करते हैं। शुक्लध्यान से ही मुक्ति प्राप्ति होती है।

(पृष्ठ २२ का शेष)

और सामान्य अरहन्त हैं तो गन्धकुटी की रचना होती है। इस गुणस्थान का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल देशोनकोटि वर्ष पूर्व है। अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में जब मनोयोग और वचन योग के नष्ट हो जाने पर काय योग भी अत्यन्त सूक्ष्म रह जाता है तब सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति नाम का तीसरा शुक्लध्यान प्रकट होता है। इसके पूर्व यदि किसी केवली के आयुकर्म की स्थिति कम और शेष तीन अधातिया कर्मों की स्थिति अधिक होती है तो उसे आयु कर्म के बराबर करने के लिए लोकपूरण समुद्घात भी होता है। इस तृतीय शुक्लध्यान के द्वारा किसी कर्मप्रकृति का क्षय नहीं होता, किन्तु सातिशय निर्जरा होती है।

योगों का सर्वथा अभाव हो जाने पर जब चौदहवाँ गुणस्थान होता है तब 'ब्युपरत क्रियानिवृत्ति' नाम का चौथा शुक्लध्यान होता है। इसके प्रभाव से 'अ इ उ ऋ लृ, इन पाँच लघु अक्षरों के उच्चारण काल के बराबर लघु अन्तर्मुहूर्त रूप चौदहवें गुणस्थान के उपान्त्य समय में ७२ और अन्तिम समय में १३ कर्म-प्रकृतियों का क्षय होता है तथा ऊर्ध्वगति स्वभाव प्रकट होने से एक समय में सात राज-प्रमाण गमन कर यह जीव लोकाग्र-भाग पर तनुवात वलय सम्बन्धी ५२५ धनुष प्रमाण क्षेत्र में सदा के लिए स्थिर हो जाता है। सिद्ध जीवों की अवगाहना ३॥ हाथ से ले कर ५२५ धनुष तक ही होती है। इससे कम अथवा अधिक अवगाहना वाले जीव मोक्ष नहीं जाते हैं।

जैनधर्म में मोक्ष-प्राप्ति के साधक इन धर्म्य और शुक्ल ध्यानों का ही प्रमुख रूप से वर्णन किया गया है। प्राणायाम आदि लौकिक ध्यानों का कोई महत्त्व नहीं है। यद्यपि लौकिक जन, इन ध्यानों को कर लोक में अपनी प्रभुता बताते हैं, पर मुमुक्षु साधु के सामने इन लौकिक प्रयोजनों का ऐसा कोई लक्ष्य नहीं रहता। □□

योग/अयोग : एक अनुशीलन

योग-शासन में 'योग' का अर्थ है आत्मा का अपने विशुद्ध परम स्वरूप से जुड़ जाना। योग के अन्य अर्थ भी हैं। मन, वचन, काय के परिस्पन्दनों (चेष्टाओं) को भी योग कहते हैं। इस अर्थ में उसे कर्म आवरण के प्रकृति/प्रदेश-बन्ध का कर्ता माना गया है। योग-शासन-रूप योग-विज्ञान कर्म-क्षय द्वारा आत्मा में उसके निर्मल स्वरूप में स्थित करना है। इस स्थिति में परिस्पन्दनात्मक योग नहीं रहते; अतः अयोग-स्थिति में ले जाने के कारण 'योग' को 'अयोग' भी कहा जाता है।

सभी भारतीय योग-परंपराएँ एक समान आत्मपरक हैं; यह अलग बात है कि आत्म-सम्बन्धी इनकी अवधारणाओं में परस्पर भिन्नता भी है, पर साधना-स्तर पर ये परस्पर बहुत निकट और समान रूप भी हैं। इस समानता को इस प्रकार रखा जाता है : गायें चाहे कपिल वर्ण हों, लाल हों, या पीली, या सफेद उनके दूध के रंग, स्वाद, और गंध में फर्क नहीं होता।

सर्वमान्य रूप से योग के प्रथम प्रवक्ता इस लोक में भगवान् हिरण्यगर्भ (आदिनाथ, ऋषभनाथ) माने जाते हैं। हिरण्यगर्भों योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः—ऐसा 'याज्ञवल्क्य स्मृति' और 'महाभारत' ने स्पष्ट कहा है। प्राचीनतम उपलब्ध सूत्र-बद्ध योग का ग्रन्थ 'योगदर्शन' महर्षि पतंजलि का है, जिसे उन्होंने योग का अनुशासन ही माना है। इस कृति में दर्शन-दृष्टि सांख्य की है। योग-शासन के शास्ता हिरण्यगर्भ को ही योगदर्शन के भाष्यकारों ने भी स्वीकार किया है। इस प्रकार योग मौलिक रूप में योग ही है और वह योग-शासन से ही निःसृत है। इसका प्रवचन सद्धर्म के रूप में अनादि काल से तीर्थकर करते आये हैं। योग के ये प्रवक्ता स्वयं योग-योगीश्वर हुए हैं।

योग-शासन में 'योग' का अर्थ है आत्मा का अपने विशुद्ध परम स्वरूप से जुड़ जाना। योग के अन्य अर्थ भी हैं। मन, वचन, काय कर्म, आवरण के प्रकृति और प्रदेश बन्ध का करने वाला माना गया है। योग-शासन रूप योग-विज्ञान कर्म-क्षय करके आत्मा को आत्मा में उसके निर्मल रूप में स्थित करता है और इस स्थिति में परिस्पन्दनात्मक योग नहीं रहते; अतः अयोग-स्थिति में ले जाने के कारण योग को 'अयोग' भी कहा जाता है। ये योग त्रिगुप्ति-रूप योग संवर से आरंभ होता है और अयोग में ले जाता है, जिसे उत्कृष्ट 'अयोगि जिन' अवस्था कहते हैं। कर्मों की स्थिति और अनुभाग रूप बन्ध की हेतु है कषाय-प्रवृत्ति। कषायमय अध्यवसाय जीवात्मा के भाव-संस्थान को मलिन करते हैं और मलिनता भावबन्ध

है। यह भावबन्ध कर्म-प्रत्ययों के बँधने में निमित्त होते हैं। इस प्रकार भाव-कर्म और कर्म-प्रत्यय (पुद्गल-परमाणु) रूप से जीव पर आवरण होता है। जीव में अनादि काल से अज्ञान की मलिनता से राग और मोह है और इससे ही फिर कषायों की परंपरा जीव में रहती है। जिस प्रकार खान से निकली धातु मल-सहित ही होती है, ऐसे ही जीव भी अनादि से राग, मोह, कषाय, और अज्ञान से युक्त है। ये सब संयोगी विकारी तत्त्व हैं और इनसे ज्ञान-आवृत्त रहने से ही आत्मा अज्ञानी है। आत्मा स्वयं चिदात्मक है, ज्ञान गुणमय है, परन्तु संयोगी पर-पदार्थ और उन पर-पदार्थों में रागात्मक बुद्धि तथा भाव रहने से उसका ज्ञान उसी तरह प्रच्छन्न है, जिस तरह सूर्य का प्रकाश मेघावरण से ढँक जाता है। कर्मावरण के परमाणु जीव के साथ बँधने को तब आकर्षित होते हैं जब जीव राग-मोह और कषाय-प्रवृत्ति से व्यवहारी होता है। रागादि की स्निग्धता कर्म-धूलि को जीव-प्रदेशों में बँध जाने को विवश करता है। अभिधाराणाएँ (पोस्टुलेंट) योग शासन में दो हैं; चैतन्य आत्मा और अचेतन पुद्गल। लोकाकाश रूपी सारी सृष्टि इन दो तत्त्वों से आपूर्ण है। इन दो तत्त्वों के परस्पर योग और वियोग के क्रिया-कलाप में ही आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा रूप चार तत्त्व और निष्ठित हुए हैं। इनके परस्पर वियुक्त होने पर जीवात्मा की जो मुक्ति है वही सातवाँ तत्त्व है। यह मुक्त अवस्था अव्याबाध आनन्द अवस्था है। जीवों की इस दृष्टि में दो कोटियाँ हैं: एक, वे जो अभी तक कर्म-बंध की अवस्था में संसारी हैं तथा दूसरे, वे जो मुक्त और सिद्ध हो गये हैं।

आत्मा के विशुद्धिकरण के प्रयोगों में अर्थात् संवर तथा निर्जरा में, जिनसे कर्मावरण का क्षय होता है, तप का वर्णन है। तप बाह्य और आभ्यन्तर भेद से बारह प्रकार का कहा गया है। इनमें ही ध्यान-तप का वर्णन है। वैसे तो कर्म निरन्तर उदित होता है और खिरता जाता है। इस प्रकार कर्म-निर्जरा जो स्वतः स्थिति-समाप्ति पर होती है उसे विपाकी निर्जरा कहते हैं। मगर ध्यान-तप से कर्मों की निर्जरा अविपाकी होती है अर्थात् वे कार्य जो कर्माशय में उदय-प्रतीक्षा में संचित पड़े हैं उन्हें भी उनके उदय-समय से पूर्व ही उदय में ला कर, या बिना उदय में लाये ही ध्यानाग्नि में जला दिया जा सकता है।

‘ध्याय चिन्ताया’—में ध्यान चिन्ता, या चिन्तन के अर्थ में प्रयुक्त है; इसी लिए ध्यान की परिभाषा—एकाग्र चिन्ता निरोध रूप की गयी है। ‘अग्र’ आत्मा के अर्थ में लिया गया है, अतः मात्र आत्मा के स्वरूप-चिन्तन में जब एकाग्र वृत्ति रहती है तभी आत्म-ध्यान होता है और इस प्रकार के ध्यान के दो — विधेय वर्ग — धर्म और शुक्ल ध्यान हैं और दो वर्ग — आर्त और रौद्र हेय हैं। धर्म आलम्बन पूर्वक ध्यान है, शुक्ल निरालम्ब ध्यान है। योग-शासन में ध्यान के शुक्ल भेद में ही समाधि भी निहित है। ध्यान के बहिरंग में आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, और धारणा के

भी वर्णन मिलते हैं। व्यवहार तथा मन को व्यवस्थित करने के अनुशासन हैं—यम और नियम। ये व्रतों के रूप में वर्णित हैं।

जीवात्मा दर्शन और ज्ञान उपयोग-मयी है। दर्शन का अर्थ आत्मतत्त्व-रुचि तथा श्रद्धा तो है ही, आत्मावलोकन भी इसी का विस्तार है। 'अष्ट पाहुड' में आ. कुन्दकुन्द ने प्रथम गाथा में धर्म को 'दर्शन-मूल' कहा है। आत्मा की आत्मा में प्रेक्षा रूप अन्तर्यात्रा पर प्रथम ही अतीन्द्रिय आनन्द का जो अनुभव आत्मा के स्वरूप का होता है उसे 'सम्यग्दर्शन' कहा गया है। यह कैवल्य-बीज है। इसकी बहुत-बहुत प्रशंसा है। साधक आत्मा की विशुद्धि की यात्रा जिसे गुण-स्थान-आरोहण नाम से जाना जाता है, इस सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से फिर उत्तरोत्तर उत्कर्ष करती चली जाती है। दर्शन को कुन्दकुन्दाचार्य ने आगे इस प्रकार स्पष्ट किया है कि यह दर्शन जीवन्त मूर्ति पाणिपात्र निर्ग्रन्थ अपरिग्रही स्वरूप का अन्तदर्शन है। योग-शासन में आत्मा का ही संश्रय है और इस संश्रय का प्रथम रूप जीवन्त पाणिपात्र निर्ग्रन्थ जिनेश्वर सममूर्ति हैं। इस संश्रय के हेतु ही उसकी प्रतीक तीर्थकर-जिनेश्वर-अर्हत् प्रभु एवं पंचपरमेष्ठी की विम्ब-प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की गयी हैं।

दर्शन ध्यान का ही पर्यायवाची हो जाता है और प्रेक्षा इस की उत्कृष्ट विद्या है। योगिराज अमितगति ने वर्णन किया है—

ध्यानस्येदं फलं मुख्यैकान्तिकमनुत्तरम् ।
 आत्म-गम्यं परं ब्रह्म ब्रह्मविद्भिर्ब्रह्माहृतम् ॥
 अतीऽत्रैव महान् यत्नस्तत्त्वतः प्रतिपत्तये ।
 प्रेक्षावता सदा कार्यो मुक्त वा वादादि वासनम् ॥

आत्मा-ब्रह्म के जानने वाले पुरुषों ने पर-ब्रह्म (निर्मल आत्मा) को आत्म-गम्य करना ध्यान का ऐकान्तिक (शुद्ध) और अद्वितीय फल बताया है। उस ध्यान में महान् यत्न करना चाहिये और वह प्रेक्षा करने वाले पुरुष के द्वारा, वस्तुतः उसकी प्राप्ति के लिए वाद-आदि की वासना छोड़ कर, किया जाना चाहिये।

यहाँ आचार्यश्री ने 'प्रेक्षावता' बड़ा अनुपम पद दिया है। यह प्रेक्षाविद्या को योग-शासन की विद्या विवेचित करने को पर्याप्त है। प्रेक्षा के ही अर्थ को प्रकट करती है बौद्ध 'विपस्सना'। विपस्सना का अर्थ है विशेष देखना और प्रेक्षा का अर्थ है—प्रकृष्ट रूप से, गहराई में देखना। आ. तुलसी ने इधर प्रेक्षा-विधि का प्रचार शुरू किया है, पर वे अपनी प्रेक्षा-विधि की प्रेरणा को बौद्ध 'विपस्सना' से जोड़ते हैं। 'विपस्सना' अरूप-चित्त का उद्भव करती है और बौद्ध उस अरूप चित्त को महात्मा बुद्ध की कृपा और प्रतिमा-दर्शन से आपूर्ण करके रूपमय बनाते हैं। बौद्ध जन प्रतिमा (मूर्ति) पूजक हैं। पर आ. तुलसी तो मूर्ति-पूजक नहीं हैं—यहीं उन्हें

आगे चल कर दुविधा संभवतः होगी। योग-शासन में मूर्ति-पूजा है तथा प्रेक्षा में अहंत् एवं तीर्थकरों की चिद्रूप मूर्तियों का ध्यान चलता है जिसे रूपस्थ ध्यान कहते हैं और रूप से यहाँ गुण-भावना द्वारा रूपातीत और शुक्लध्यान की तरफ जाते हैं। रूपस्थ और रूपातीत ध्यानों में पुरुषाकार मूर्ति का ध्यान है। रूपस्थ रूप-प्रधान है और रूपातीत 'रूप' रह कर भी गुण-भावना प्रधान हो जाता है।

ध्यान में अन्तर्दर्शन (प्रेक्षा) विद्या को ले कर, विकल्पों को हेय करते हुए, दृश्य में स्वयं को प्रिय-अप्रिय यानी राग-द्वेष-रहित रखते हुए आत्मा के ज्ञायक और ज्ञान गुण को प्रसिद्ध करते हुए अपने अतीन्द्रिय आनन्द-मात्र का आस्वादन करने की धुन रखना होता है। जो संयोगी द्रव्य हैं, उनके दर्शन तथा उनके प्रकंपन तथा भावों को हेय करते चलते हैं। भेद-रूप यह प्रक्रिया निरन्तर चलती है। यही भेद-विज्ञान है। इसके बिना आत्मचर्या नहीं होती है। भेद को ही विशद प्रेक्षा-विधियों में प्राप्त किया जाता है। ये विधियाँ हैं—(१) कायोत्सर्ग, (२) प्राण-प्रेक्षा, (३) चित्त-प्रेक्षा, (४) चैतन्य-चक्र-प्रेक्षा और (५) परमेष्ठी-प्रेक्षा। भ्रू-मध्य अन्तर्दृष्टि को संलग्न करने पर जब प्रकाश का आविर्भाव होने लगता है तब परमेष्ठी-प्रेक्षा संभव हो जाती है और मूलाधार से सहस्रार मणिपद्म तक उपयोग के साथ प्राणारोहण करके वहाँ निज स्वरूप का निर्मल जिनेश्वर सम सकल पुरुषाकार रूप में ध्यान करना चाहिये। प्रकाश के आविर्भाव के लिए मन्त्राश्रय भी लिये जाते हैं, जिसके लिए पंच परमेष्ठी अथवा उसके संक्षिप्त रूप ओंकार-प्रणव तथा 'सोऽहम्' आदि साधनाएँ भी स्वीकृत हैं।

योग-शासन के उत्स, तत्त्व, सिद्धान्त, अभ्यास, प्रयोग-ध्यान आदि पर अनुशीलन करके मैंने तीन ग्रन्थों का प्रणयन किया है। ये हैं—(१) योगानुशीलन, (२) ध्यानानुचिन्तन, तथा (३) स्वरूपानुचिन्तन। ये ग्रन्थ योग-शासन के स्वरूप तथा उसकी अस्मिता को स्पष्ट करते हैं और पाठकों/साधकों तथा सभी योगविद्या-प्रेमियों के लिए पठनीय और मननीय है।

महर्षि पतंजलि ने योग को 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' कह कर चित्तवृत्ति-निरोध पर योग को परिसीमित कर दिया है। 'योगप्रदीप' में योग की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—

ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप रत्नत्रयात्मकः।

योगो मुक्ति पद प्राप्ते रूपायः परिकीर्तितः॥ —(११४)

ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप तीन रत्नों से समन्वित योग मुक्ति का उपाय कहा गया है; अर्थात् योग मात्र चित्त-वृत्ति-निरोध ही नहीं है, यह तो मुक्ति का ही उपाय है, शर्त इतनी ही है कि यह दर्शन, ज्ञान और चरित्र से युक्त हो। सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः—ऐसा इस योग-शासन में सूत्र है। दर्शन,

ज्ञान और चारित्र्य जब तीनों सम्यक् रूप से आत्मा से जुड़ते हैं तो यही मुक्त हो जाने के लिए योग अर्थात् एक फार्मूला बन जाता है। दर्शन, ज्ञान, और चारित्र्य आत्मा के गुण हैं। आत्मा निज गुणों से अभिन्न होते ही स्वरूप को, निर्मलता को उपलब्ध हो जाता है। दर्शन ही इस योग-विज्ञान की कुंजी है। दर्शन की प्रसिद्धि होती है—प्रेक्षा-विधियों में। आ. अमितगति ने प्रेक्षावता पद के साथ ही 'मुक्त्वा वादादिवासनाम्' पद भी दिया है। इस पद में आदि शब्द से सूचित किया गया है कि राग-द्वेष, प्रिय-अप्रिय, वाद-विवाद आदि सभी द्वन्द्व तथा क्षोभकारी भावों से रहित हो कर प्रेक्षा करना आवश्यक है; अर्थात् मात्र देखें ही, देखने के साथ अन्य कुछ भी भाव न जोड़ें। इसे कहेंगे—'जस्ट स्टेण्ड एंड सी'। यह वीतरागों का वीतरागता के लिए मार्ग है, अतः वीतरागता का ही अभ्यास यहाँ है। दर्शन जब रागादिरहित होता है तो कालान्तर में वीतरागता परिणमेगी ही, तथा ज्ञान का तब जो भी विस्तार होगा यथार्थ और सत्य होगा। आत्मा-सत्य को देख पाने के लिए सम्यक् दर्शन आवश्यक है। शेष तो उस सत्य ज्ञान में स्थिरता का, रमण का अर्थात् चारित्र्य-अभ्यास का ही प्रश्न है, वही ध्यान-अभ्यास में परिपक्व होता जाता है। राग-द्वेषादि-से-रहित सम-परिणाम ही आत्मा का परिणाम है, धर्म है।

ऋषि-मण्डल स्तोत्रकार ने स्तोत्र के अन्त में आश्वासन दिया है कि जिनेश्वर-विम्ब के अन्तर्-दर्शन के बाद सातवें भव में तो जा कर मुक्ति प्राप्त हो ही जाती है; पर अध्यात्म-रहस्य के रचयिता पं. आशाधरजी ने सिद्ध स्तोत्र में रूपातीत ध्यान के उत्कर्ष पर तीसरे भव में ही मुक्ति का आश्वासन दिया है। अपने उपयोग के उग्र और परिशुद्ध होने पर ही यह निर्भर है। चक्रवर्ती भरत ने अपने उग्र उपयोग द्वारा ४८ मिनटों (अन्तर्मुहूर्त) में ही कैवल्य प्राप्त कर लिया था।

रागादि-परिहार और विकल्प-अभाव से ही योग-भक्ति को आ. कुन्दकुन्द ने 'नियमसार' में प्रतिपादित किया है :

रायादि परिहारे अघाणं जो दु जुंजदे साह।

सो जोग भक्ति जुत्तो इदरस्स कह हवे जोगो ॥१३७॥

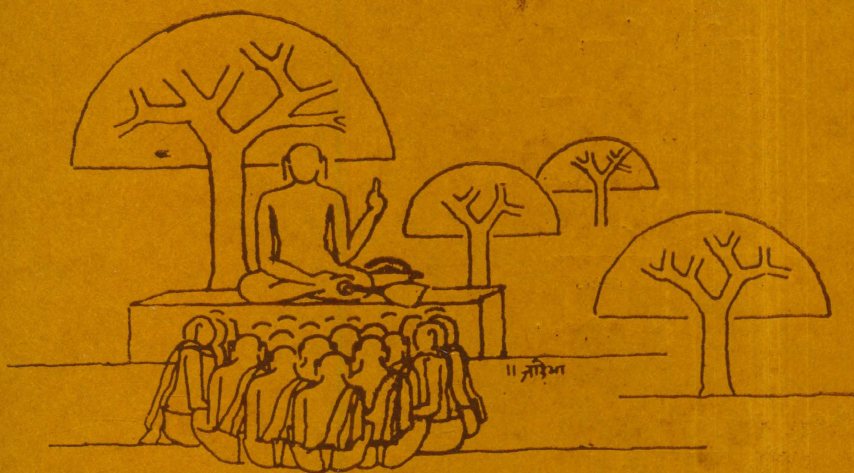
सब्ब वियप्पा भावे अप्पाणं जो दु जुंजदे साह।

सो जोग भक्ति जुत्तो इदरस्स कह हवे जोगो ॥१३८॥

आचार्यश्री ने रागादि-परिहार तथा विकल्प-अभाव के अतिरिक्त आगे की गाथा में जिनेन्द्र-कथित (सदा) तत्त्वों के परिचिन्तन को भी जो विपरीताभिनवेश से रहित हों, आवश्यक कहा है।

जो आत्मा के परमानन्द मुक्त स्वरूप में अवगाहन करना चाहते हैं—और जो यथार्थ में प्रत्येक जोवात्मा का प्राप्तव्य हैं, उन्हें योग के मार्ग को ग्रहण करने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है। एक निर्मल चैतन्य चिद्बृत्ति ही एक मात्र सहारा है—अर्थात् जीव को एक निर्मल आत्मा ही अपनी शरण है, साध्य है, और साधन है।

○ ○



परम आनन्द का स्रोत : परमानन्द स्तोत्र

ध्यान का अन्तिम लक्ष्य क्या है अंतरंग के उन शाश्वत झरनों की खोज ही न जो परम आनन्द के अजर-अमर स्रोत हैं? 'परमानन्द स्तोत्र' हमारे पग उसी दिशा में ले जाता है। हम कौन हैं, क्या हैं, कहाँ हैं, कहाँ से हैं, हमारा गन्तव्य क्या है, हमारी क्षणभंगुरता में वह कौन-सी अमरता अनुगुंजित है जो हमें मरण-शीलताओं के बीच भी निरन्तर अमिट/ध्रुव बनाये हुए है? इन/ऐसे सारे प्रश्नों के असंदिग्ध उत्तर हमें मिलते हैं इस एक लघुस्तोत्र में। इन २४ श्लोकों में हमें रचयिता क्रमशः हमारी चेतना के अतल-अमल सिन्धु में ले गया है, वहाँ जहाँ आनन्द का चरमबिन्दु हमारी प्रतीक्षा कर रहा है और जहाँ 'उत्पाद' और 'व्यय' ने 'ध्रौव्य' के आगे घुटने टेक दिये हैं; जहाँ पर्यायों उदासीन हुई हैं तथा द्रव्य अपनी मौलिक सत्ता में मुस्कराता खड़ा है। स्तोत्र का गद्यान्तर किया है एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी ने तथा अतुक-अनुवाद नेमीचन्द्र जैन ने। हमें आशा है 'परमानन्द स्तोत्र' के ये ४८ चरण 'भक्तामर स्तोत्र' के ४८ श्लोक सिद्ध होंगे और हमारी अन्तर्यात्रा को एक सुखद सार्थकता प्रदान करेंगे।

—संपादक



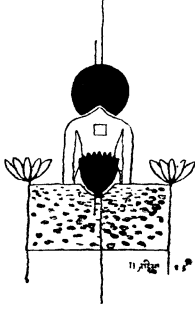
किमिदं कीदृशं कस्य
कस्मात्कवेत्यविशेषयन् ।
स्वदेहमपि नावेति
योगी योगपरायणः ॥

—पूज्यपाद

योगपरायणः योगः
किम् इदम्, कीदृशम्,
कस्य, कस्मात्, क्व इति
अविशेषयन् स्वदेहम्
अपि न अवेति ।

ध्यान में लीन योगी
यह क्या है, कैसा है, किसका है,
क्यों है, कहाँ है इत्यादि
विकल्पों में न उलझते हुए
अपने शरीर का भान भी
खो देता है ।

परम आनन्द का स्रोत ! परमानन्द-स्तोत्र



परमानन्दसंयुक्तं
निर्विकारं निरामयम् ।
ध्यानहीना न पश्यन्ति
निजदेहे व्यवस्थितम् ॥१॥
अनन्तसुखसंपन्नं
ज्ञानामृतपयोधरम् ।
अनन्तवीर्यसंपन्नं
दर्शनं परमात्मनः ॥२॥
निर्विकारं निराबाधं
सर्वसंगविवर्जितम् ।
परमानन्दसंपन्नं
शुद्धं चैतन्यं लक्षणम् ॥३॥
उत्तमा स्वात्मचिन्ता-
स्यान्मोहचिन्ता च मध्यमा ।
अधमा कामचिन्ता स्यात्
परचिन्ताधमाधमा ॥४॥
निर्विकल्पसमुत्पन्नं
ज्ञानमेव सुधारसम् ।
विवेकमंजलिं कृत्वा
तं पिबन्ति तपस्विनः ॥५॥

परम आनन्दसंयुक्त विकार-रहित तथा व्याधावर्जित उस आत्मतत्त्व को, जो अपनी ही देह में व्यवस्थित है, ध्यानहीन व्यक्ति नहीं देख पाते । परमात्मा का वह साक्षात्कार (दर्शन) अन्तविहीन सुखों से संपन्न है ज्ञानरूप अमृत का वृष्टिकर्ता मेघ है तथा अनन्तवीर्यसंवलित है । उस शुद्ध चैतन्य का लक्षण विकार-विधुर वाधा-वर्जित, सर्वसंगविरहित, तथा परम आनन्द-विलक्षण है । अपनी आत्मा का चिन्तन सर्वोत्तम है, मोह का चिन्तन मध्यम है, विषयादि का विचार करना अधम है, और पर का चिन्तन सर्वाधम कोटि का चिन्तन है । विकल्पों के क्षय से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही अमृतरस है । तपस्वी महानुभाव अपने विवेक की अंजलि से उसी का पान करते हैं ॥ १-५ ॥

एक

देहस्थित
जो निर्विकार निर्दोष निरामय
परमानन्द स्वरूप;
उसे देख पाते कब
ऐसे जन
जो हैं ध्यानविहीन
चंचलित, अस्थिर
प्रतिक्षण ।

दो-तीन

अन्तहीन सुखधारक
जलधर ज्ञानामृत का
अपरिसीम बल का स्वामी
जो है परमात्मा
निर्विकार
निर्बाध
विवर्जित सर्वसंग से
वही शुद्ध चैतन्य

परम आनन्द
युक्त है।

चार

चिन्तन
निज का
निजता का
होता सर्वोत्तम
मोह-सहित
चिन्तन
उससे नोचे दर्जे का
युक्तकाम चिन्तन

होता है अधम,
और अधमाधम
चिन्तन वह जो होता पर का।

पाँच

निर्विकल्पता
जननी जिसकी
ऐसा
ज्ञान-सुधारस केवल;
जिसे पिया करते
विवेक की अंजलि भर-भर
परम तपस्वी।

सदानन्दमयं जीवं
यो जानाति स पण्डितः ।
स सेवते निजात्मानं
परमानन्दकारणम् ॥६॥
नलिनाच्च यथा नीरं
भिन्नं तिष्ठति सर्वदा :
सोऽयमात्मा स्वभावेन
वेहे तिष्ठति निर्मलः ॥७॥
द्रव्यकर्ममलैर्मुक्तं
भावकर्मविवर्जितम् ।
नोकर्मरहितं सिद्धं
निश्चयेन चिदात्मकम् ॥८॥
आनन्दं ब्रह्मणो रूपं
निजदेहे व्यवस्थितम् ।
ध्यानहीना न पश्यन्ति
जात्यन्धा इव भास्करम् ॥९॥
सद्धानं क्रियते भव्य-
र्मनो येन विलीयते ।
तत्क्षणं दृश्यते शुद्धं
चिच्छमत्कार लक्षणम् ॥१०॥



विद्वान् वही है जो नित्य आनन्दमय
जीवन को जानता है। वही ज्ञाता परमानन्द-
हेतु भूत निज आत्मा की उपासना करता है।
देहस्थित यह आत्मा स्वभाव से निमल
है और जिस प्रकार नीर में कमल निर्लिप्त,
अलग रहता है, उसी प्रकार यह निवसित
है। जब यह द्रव्यकर्ममलों से मुक्त हो जाता
है, एवं भावकर्म और नोकर्म से रहित हो
जाता है तब निश्चय से सिद्ध, चिन्मात्र हो
जाता है। इस आत्मब्रह्म का वास्तविक
रूप आनन्द है। वह आनन्द स्वात्मशरीर
में ही व्यवस्था-प्राप्त है; किन्तु ध्यान-
विरहित मनुष्य उसे वैसे ही नहीं देख पाते
जैसे जन्मान्ध व्यक्ति सूर्य को नहीं देख
पाते। भव्यात्मा सद्धान्य करते हैं,
जिससे मन का विलय हो जाता है, चित्त-
विक्षेप हट जाते हैं। उस अवस्था में तत्क्षण
ही उस शुद्ध आत्मब्रह्म की प्रतीति होती है,
जिसका लक्षण चैतन्य एवं चमत्कारयुक्त
है ॥६-१०॥

छह

जो अनुभव करता है
प्रतिपल
जीव सहित-आनन्द सर्वदा
वह है पण्डित,
वह ही ध्यान किया करता
प्रतिपल/प्रतिक्षण
निज आत्म का
जो निमित्त
आनन्द परम का।

सात

जैसे नीर
कमल से रहता
भिन्न सर्वदा
वैसे ही
यह आत्म
निर्मल
रहे देह में
सहज सर्वदा।

आठ

निश्चय से
यह चिन्मय
सिद्ध/बुद्ध निर्मल है
द्रव्यकर्म से मुक्त
विवर्जित भावकर्म से
नोकर्मों से रहित
विमल, निष्कलुष, निरंजन।

नौ

अपनी ही काया
में
सुस्थित और व्यवस्थित



ब्रह्मानन्द-स्वरूप

स्वयं तू,
किन्तु
ध्यान-से-हीन
कहाँ देख पाता तू इसको
वैसे/जैसे सूरज को
है नहीं देख पाता
वह प्राणी,
नेत्रहीन जो
जन्मा जब से।

दस

भव्य
किया करते हैं ऐसा ध्यान
विलय करता जो मन का,
चित् पर पड़े आवरण
हट जाते
सारे तब,
और
शुद्ध-परिशुद्ध
प्रकट होता तब तत्क्षण,
जिसका लक्षण
चैतन्य,
तथा जो
चमत्कारयुत।



स ध्यानलीना मनुष्यः प्रधानाः
ते दुःखहीना नियमाद्भवन्ति ।
सम्प्राप्य शीघ्रं परमात्मतत्त्वं
व्रजन्ति मोक्षं क्षणमेकमेव ॥

आनन्दरूपं परमात्मतत्त्वं
समस्तसंकल्पविकल्पमुक्तम् ।
स्वभावलीना निवसन्ति नित्यं
जानाति योगी स्वयमेव तत्त्वम् ॥

निजानन्दमयं शुद्धं
निराकारं निरामयम् ।
अनन्तसुखसंपन्नं
सर्वसंगविवर्जितम् ॥१३॥

लोकमात्रप्रमाणो यं
निश्चये न हि संशयः :
व्यवहारे तनूमात्रः
कथितः परमेश्वरैः ॥१४॥

यत्क्षणं दृश्यते शुद्धं
तत्क्षणं गतविभ्रमः ।
स्वस्थचित्तः स्थिरीभूय
निर्विकल्प समाधितः ॥१५॥

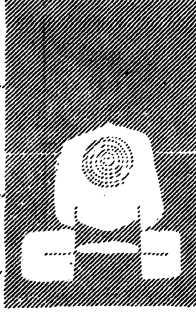
जो मुनि ध्यानमग्न हैं, वे नियम से दुःखहीन होते हैं और शीघ्र ही परमात्मतत्त्व को प्राप्त कर क्षणमात्र में मोक्षगामी होते हैं । वह परमात्मतत्त्व विशुद्ध आनन्दस्वरूप है । संपूर्ण संकल्प-विकल्पों से मुक्त है । जो स्वभाव में लीन हैं वे वहाँ निवास करते हैं । इस आत्मतत्त्व को (इसके धर्म को) योगसाधक स्वयमेव जानते हैं । यह आत्मानन्दस्वरूप है, शुद्ध है, आकार-रहित है, रोगमुक्त है अनन्त सुखराशि है और सर्वसंगवर्जित है । निश्चयनय से इसका आयतन (विस्तार) लोकमात्रप्रमाण है इसमें संशय नहीं, परन्तु व्यवहार की अपेक्षा से जिनेन्द्र भगवान् ने इसे तनूमात्रप्रमाण कहा है । अपने चित्त की स्वस्थता से स्थिर हो कर विकल्पातीत समाधि द्वारा जिस क्षण इस शुद्ध आत्मा का दर्शन प्राप्त कर लिया जाता है, उसी क्षण समस्त विभ्रम विशीर्ण हो जाते हैं ॥११-१५॥

ग्यारह

जो मुनिजन
हैं ध्यानमग्न
उनमें से,
शीघ्र नियम से
क्लेश-कष्ट
होते अनुपस्थित,
उन्हें प्राप्त होता
तत्पल
परमात्मतत्त्व वह,
जिसके फलस्वरूप
बढ़ते पग उनके
मुक्ति-महल की ओर ।

बारह

परमात्मतत्त्व
आनन्दरूप
संकल्प-मुक्त



विरहित विकल्प है;
जो स्वभाव में लीन,
बने रहते वे इसमें
इसे जान पाते
साधक जन
मात्र
ध्यान से ।

तेरह

वह है
आत्मानन्दरूप
परिशुद्ध
रहित-आकार
व्याधि-से-मुक्त
सहित-सुख अन्तहीन से,
सर्वसंग से पूर्ण विवर्जित ।

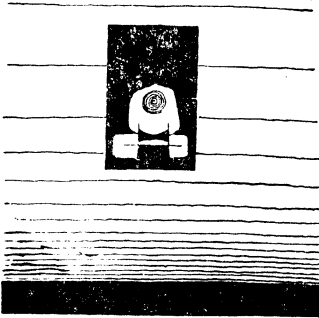
चौदह

निश्चयनय से
निःसंशय

यह लोकव्याप्त है;
किन्तु
जिनेश्वर देव
इसे तन-प्रमाण
प्रतिपादित करते
पर्यायार्थिक नय से ।

पन्द्रह

जिस क्षण
शुद्ध दिखायी देता,
क्षण उस
जाते छूट
द्वन्द्व-ध्रम-संशय सारे;
यह समाधि से संभव
किस समाधि से ?
उस समाधि से
जो है निर्विकल्प
समस्थिर
स्वस्थ चित्त की
विमल अवस्था ।



वह स्वात्मा ही शुद्धावस्थापन्न होने पर परमब्रह्म है, वही जिनश्रेष्ठ है, वही परमतत्त्व है, वही परम गुरुदेव है, वही परम ज्योति, परम तप, परम ध्यान, और परमात्मा है। वही सर्वकल्याणात्मक है, वही सुखों का अमर पात्र है, वही विशुद्ध चैतन्यस्वरूप है, वही परम शिव है, वही परम आनन्द है, वही सुखप्रदाता है, वही परम ज्ञान है, और गुणसमुद्र भी वही है। उस परम आह्लाद से संपन्न रागद्वेष-विवर्जित आत्मा को; जिसके लिए 'सोऽहं' का व्यवहार किया जाता है और जो देह में स्थित है; जो जानता है. वह पण्डित है ॥१६-२०॥

स एव परमं ब्रह्म
 स एव जिनपुंगवः ।
 स एव परमं तत्त्वं
 स एव परमो गुरुः ॥१६॥
 स एव परमं ज्योतिः
 स एव परमं तपः ।
 स एव परमं ध्यानं
 स एव परमात्मकः ॥१७॥
 स एव सर्वकल्याणं
 स एव सुखभाजनम् ।
 स एव शुद्धचिद्रूपं
 स एव परमं शिवः ॥१८॥
 स एव परमानन्दः
 स एव सुखदायकः ।
 स एव परमं ज्ञानं
 स एव गुणसागरः ॥१९॥
 परमाह्लादसंपन्नं
 रागद्वेषविवर्जितम् ।
 सोऽहं तं देहमध्येषु
 यो जानाति स पण्डितः ॥२०॥

सोलह
 वह ही
 परमब्रह्म है,
 वह ही
 जिन-पुंगव है,
 वह ही
 तत्त्व परम है,
 गुरु भी
 परम वही है ।

सवह
 वह ही
 परम ज्योति है,
 परम तपस्या
 वह ही,
 वह ही
 ध्यान परम है,
 वह ही
 परमात्मा है ।

अठारह

वह ही
सर्वहितकर,
वह ही
सुख-भाजन है,
वह ही
सत्चित् रूप,
वही
शिव परम पुरुष है ।

उन्नीस

वह ही
परमानन्द,
वही सारे
सुखदायक,
वह ही

आकाररहितं शुद्धं
स्वस्वरूपे व्यवस्थितम् ।
सिद्धमष्टगुणोपेतं
निर्विकारं निरंजनम् ॥२१॥
तत्सदृशं निजात्मानं
यो जानाति स पण्डितः ।
सहजानन्दचैतन्य-
प्रकाशाय महीयसे ॥२२॥
पाषाणेषु यथा हेम
दुग्धमध्ये यथा घृतम् ।
तिलमध्ये यथा तैलं
देहमध्ये तथा शिवः ॥२३॥
काष्ठमध्ये यथावह्निः
शक्तिरूपेण तिष्ठति ।
अयमात्मा शरीरेषु
यो जानाति स पण्डितः ॥२४॥

परम ज्ञानमय,
गुण का
अमल सिन्धु है ।

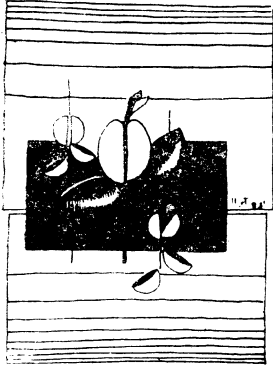
बीस

वह मैं
रहित-राग से
द्वेष-से-रहित
परम आह्लादयुक्त,
नित
जो
जाना करता
तन में
उस सोऽहं परमतत्त्व को
वह है पण्डित ।

यह आत्मा निराकार शुद्ध स्व-स्वरूप
में स्थित, सिद्ध अष्टगुणयुक्त, विकार-
निरस्त, और निरंजन है । अपनी आत्मा
में विद्यमान महान् सहजानन्द-स्वरूप
चैतन्य के प्रकाशनार्थ जो सिद्ध आत्मा के
सदृश अपनी आत्मा को जानता है, वह
पण्डित है । जैसे पाषण में सुवर्ण, दुग्ध में
घृत, तथा तिलों में तैल है वैसे ही इस देह
में शिव है, आत्मा विद्यमान है । और जैसे
काष्ठ में अग्नि है उसी प्रकार शक्तिरूप
में इन देहों में आत्मा का निवास है । इसे
जानने वाला ही विद्वान् है ॥२१-२५॥

—गद्यान्तर : एलाचार्य मुनि विद्यानन्द



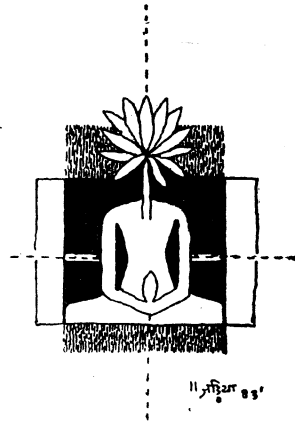


इक्कीस
 निराकार
 परिशुद्ध
 स्वयं-में-स्वयं
 व्यवस्थित
 सिद्ध
 अष्टगुणयुक्त
 निरंजन
 निर्विकार
 वह ।

बाईस
 जो सिद्धों के सदृश
 जानता
 निज आत्मा को
 वह है
 पण्डित ;
 क्योंकि
 ज्ञान उसका
 यह सहजानन्दस्वरूप
 महच्चैतन्य
 प्रकाशन के निमित्त है ।

तईस।
 प्रस्तर में जैसे स्वर्ण
 दुग्ध में
 गभित घी ज्यों
 जैसे तिल-में-तेल
 ठीक वैसे
 काया में
 शिव पहचानो ।

चौबीस
 लकड़ी में जैसे
 होती है अगन
 शक्तिरूपा, वैसे ही
 इन
 देहों में
 आत्मा सुस्थित,
 जो
 यह सारी
 कथा जानता
 क ख ग से
 वह है पण्डित ।
 (अनुवाद : नेमीचन्द्र)



ध्यान : स्वरूप, विधि, फल

सच्ची शान्ति इन्द्रातीत होने से होती है। भौतिकता की चाह के विसर्जन से इन्द्र मिटते हैं; चाह मिटाने का उत्कृष्ट साधन अनुप्रेक्षा है, जिसमें 'स्व' और 'पर' के वास्तविक स्वरूप और संबन्ध-विसंबन्ध का विचार होता है। मनुष्य को जब अपनी विकल्पातीत स्थिति का ज्ञान और 'स्व' 'पर' के भेद-ज्ञान से स्वरूप की पहचान हो जाती है, तब भौतिक वस्तुओं के विषय में वह पूर्णकाम हो जाता है। उनके होने का तब न उसे गर्व होता है, न उनके रक्षण की चिन्ता, और न उनके खो या लुप्त जाने आदि का भय होता है। उनकी अप्राप्ति में भी वह उद्विग्न नहीं होता। यह समता ध्यान की स्थिरता में कारण और सहायक होती है।

- कन्हैयालाल सरावगी

ध्येय में चित्त की एकतानता, या एकाग्रता हो जाने को 'ध्यान' कहते हैं। ध्यान में ध्येय के साथ तेलधारा की तरह अविच्छिन्न सम्बन्ध हो जाता है। 'तत्त्वार्थ सूत्र' में उमास्वामी ने ध्यान का स्वरूप बताते हुए कहा है कि उत्तम संहनन वाले पुरुष के एकाग्र चिन्ता का निरोध ही ध्यान है, यह ध्यान अन्तर्मुहूर्त-पर्यंत ही रहता है। पातञ्जल 'योगसूत्र' के अनुसार योग के आठ अंगों में ध्यान सातवाँ अंग है। इन आठ अंगों में पहले पाँच—यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार—बाह्य योग हैं; बाकी तीन—धारणा, ध्यान और समाधि अन्तरंग योग हैं। ये सभी अंग परस्पर सम्बद्ध भी हैं और उत्तरोत्तर श्रेष्ठ भी। बाह्याचार के सही, पुष्ट और सिद्ध होने पर ही अंतरंग में शुद्धि की भूमिका बनती है। ध्यान की भूमिका या तैयारी धारणा से, और निष्पत्ति समाधि में होती है। योगसूत्र में योग की परिभाषा 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' की गयी है।

ध्यान को समझने के लिए थोड़ा योग को भी समझ लेना उपयुक्त होगा। योग शब्द 'युज्' से बना है, जिसका अर्थ होता है : लगना, तन्मय होना, समाधिस्थ हो जाना। ध्यान समाधि का साधक है और समाधि से मोक्ष की सिद्धि होती है। ध्यान वह सेतु है, जो ध्याता को ध्येय से जोड़ता है। इस सेतु के क्रमशः यम, नियमादि पाँच आधार-स्तम्भ हैं। योग के आठ अंग इस प्रकार हैं :

यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह (अनावश्यक संग्रह नहीं करना) ।

नियम—पवित्रता, संतोष, तप, स्वाध्याय, और ईश्वर-प्रणिधान ।

आसन—ध्यान की भूमि, बैठने का साधन, बैठने का प्रकार आदि। वैसे तो बैठने के कई प्रकार बताये गये हैं, पर साधारण और सुगम प्रकारों में पद्मासन, सिद्धासन, आदि हैं।

प्राणायाम—शवास-प्रशवास की क्रिया को संयत और नियंत्रित करना ।

प्रत्याहार—इन्द्रियों का विषयों के संग से दूर होना ।

धारणा—चित्त को एक देश, या उद्देश्य-विशेष में स्थिर करना ।

ध्यान—ध्येय वस्तु में चित्त का एकतान होना ।

समाधि—अपने बाह्यरूप (देहाभिमान) के भान का अभाव होकर जब ध्येय का ही ध्यान रह जाता है, तब समाधि की स्थिति हो जाती है ।

‘भगवती आराधना (७५१) में लिखा है कि जब ध्याता, ध्यान और ध्येय की एकता हो जाती है तब द्वैत मिट जाता है और जीव मुक्ति की ओर बढ़ जाता है । मनीषियों ने ध्यान के अप्रशस्त और प्रशस्त दो भेद बताये हैं । अप्रशस्त के दो भेद आर्तध्यान और रौद्रध्यान होते हैं, और प्रशस्त के दो भेद धर्मध्यान और शुक्लध्यान होते हैं । अप्रशस्त ध्यान हेय और प्रशस्त ध्यान उपादेय होते हैं । यहाँ विषय प्रशस्त ध्यान है, पर ‘संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने’ के नियमानुसार अप्रशस्त ध्यान का दिग्दर्शन भी उपयोगी होगा ।

अप्रशस्त ध्यान वाला व्यक्ति वस्तु के सही स्वरूप को नहीं जानता और उसका आत्मा राग, द्वेष, क्रोध, मोह, मान, माया, लोभ, रति, अरति आदि से पीड़ित होता है । अप्रशस्त ध्यान जीवों को अत्यन्त दुःख देने वाला और अनन्त संसार का कारण होता है । आर्त और रौद्र ध्यानों के चार-चार भेद हैं । पहला आर्तध्यान अनिष्ट (अनचाही वस्तु) के संभोग से होता है; दूसरा इष्ट (चाही हुई या प्रिय-वस्तु) के वियोग से होता है; तीसरा रोगादि के दुःख के कारण होता है, और चौथा भविष्य में इच्छित भोगों की प्राप्ति की कामना से होता है । आर्तध्यान आत्मा के समत्व गुणों का नाश कर जीव को उद्वेलित और अशान्त कर देता है । रौद्रध्यान भी चार प्रकार का होता है । हिंसानन्द (हिंसा में रुचि रखने से), मृषानन्द (झूठ बोलने में रुचि रखने से), चौरानन्द (चोरी में आनन्द मानने से), और संरक्षणानन्द (विषयों या काम्य अथवा प्रिय वस्तुओं को जुटाने, उनकी रक्षा करने में आनन्द मानने से) होता है । रौद्रध्यान के होने से जीवों के परिणामों की सहजता मिट कर रुद्रता आती है, जिसके कारण वह पाप और अनैतिकता में डूब जाता है और परिणाम में इस जन्म और परवर्ती जन्मों में दुःख उठता है ।

अप्रशस्त ध्यान का ‘गीता’ में मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया गया है कि विषयों का ध्यान करने से क्रमशः संग, कामना, क्रोध, मोह, स्मृति का नाश, बुद्धिनाश और सर्वनाश तक हो जाता है (गी. २/६२-६३) ।

कषाय — क्रोध, मोह, मान, लोभ आदि — से आर्त और रौद्रध्यान होते हैं और वे जीव को उसकी स्वाभाविकता अर्थात् मानवता से नीचे उतार कर उसे अपमान और दुःखों में डाल देते हैं । कषायी का वर्तमान् अशान्त और भविष्य अंधकारमय

होता है। जीवन में उसे लाञ्छित, अपमानित और उद्विग्न होना पड़ता है। वह सदा शक्ति और भयभीत बना रहता है, दुश्चिन्ताओं के कारण उसे रात को नींद नहीं आती और शरीर में नाना प्रकार के रोग लग कर उसे तिल-तिल गलाते जलाते रहते हैं; इसलिए इन दुर्धर्मानों का जोरदार शब्दों में निषेध किया गया है।

प्रशस्तध्यान के भी दो भेद धर्मध्यान और शुक्लध्यान हैं और इनके भी चार चार भेद होते हैं। धर्मध्यान के लिए मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और मध्यस्थ भावनाएँ आवश्यक हैं। इनसे जीवों में परस्पर मित्रता होती है, गुणों में अभिरुचि होती है, दुःखी जीवों के प्रति करुणा-सेवा की भावना जगती है और विपक्षियों, अथवा विरोधियों के प्रति मध्यस्थता, उपेक्षा, अथवा राग-द्वेष-रहित उदासीनता को भावना होती है। धर्म ध्यान से उद्वेग-रहित शान्ति की उपलब्धि होती और जीव आत्म-लाभ की दिशा में आगे बढ़ने लगता है, जिससे उसे आनन्द की दशा प्राप्त हो जाती है। यहीं से जीवन मुक्ति, ब्राह्मी स्थिति और समाधि का आरम्भ होता है। धर्मध्यान वाला जीव विषयों के मोह से छूट कर अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त कर लेता है। धर्मध्यान के चार भेद आज्ञाविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय हैं। यहाँ 'विचय' शब्द विचार करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

अपायविचय धर्मध्यान—इसमें सर्वज्ञ, आप्त, तीर्थकरों की आज्ञा अथवा द्वादशांग श्रुतज्ञान के द्वारा पदार्थों के अबाधित सही स्वरूप का सम्यक् प्रकार चिन्तन किया जाता है। श्री शुभचन्द्राचार्य'ने श्रुतज्ञान की प्रशस्ति में बड़ी प्रबुद्ध वाणी में निम्न छन्द कहा है—

यज्जन्मज्वरघातकं त्रिभुवनाधीशैर्यदभ्यर्चितं
यस्याद्वादमहाध्वजं नयशताकीर्णं च यत्पठ्यते ।
उत्पादस्थितिमद्गुलाञ्छनयुता यस्मिन्पदार्थाः स्थिता—
स्तच्छ्रीवीर मुखारविन्द गदितं वः शिवम्॥३३.१९॥

(महावीर द्वारा कथित श्रुतज्ञान तीनों लोकों के इन्द्रों द्वारा पूजित है, यह संसार-रूपी ज्वर का नाश करने वाला है। इसमें स्याद्वाद-रूपी बड़ी ध्वजा है; यह यह सैकड़ों नयों से पूर्ण है और इसमें वस्तु के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का सम्यक् वर्णन है।)

विपाकविचय धर्मध्यान—कर्मों के नाश के उपाय का विचार करना अपाय-विचय धर्मध्यान है। इसका मुख्य साधन अप्रमत्त सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की त्रिपुटी, अथवा रत्नत्रय है। इसमें कर्मास्रव को रोकने के उपायों का चिन्तन किया जाता है, अर्थात् नये कर्म किस उपाय से न बँधें और जो बँध गये हैं, वे कैसे छूटें, इसका विचार किया जाता है।

विपाकविचय धर्मध्यान—कर्मों के फल का उदय विपाक कहा जाता है। इस ध्यान में साधक विचार करता है कि अपने पूर्व कर्म ही उदय में आने पर

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय पा कर ज्ञान, दर्शन को आवृत्त कर अथवा परिष्कृत कर नाना प्रकार के अशुभ और शुभ फल देते हैं। इस ध्यान से चित्त शुद्ध होता है और जीव कर्मों के नाश का उपाय करने की दिशा प्राप्त करता है।

संस्थानविचय धर्मध्यान—इस ध्यान में ऊर्ध्व, मध्य और अधो लोकों का चिन्तन किया जाता है। किन-किन कर्मों के उदय से किन-किन लोकों, पर्यायों, परिस्थितियों आदि की प्राप्ति होती है और उनसे छूटने का क्या उपाय है आदि बातों का विचार इस ध्यान को परिधि, अथवा सीमा में आता है।

संस्थानविचय धर्मध्यान के पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत चार भेद हैं। पिण्डस्थध्यान में पाथिवी, आग्नेयी, स्वसना, वारुणी, और तत्त्वरूपवती, ये पाँच धाराणाएँ होती हैं। पदस्थ ध्यान में अक्षर-रूप-पदों का चिन्तन किया जाता है। इसके स्वर और व्यंजन दो भेद हैं और ये ही सारी शब्द-रचना के आधार हैं। यन्त्र, मन्त्र आदि भी इसी ध्यान के अन्तर्गत आते हैं। शब्द का विशेष वर्णन छन्द, व्याकरण आदि शास्त्रों में है। रूपस्थ ध्यान में आप्त, सकल परमेश्वर के स्वरूप, गुण आदि का ध्यान किया जाता है। इससे उस प्रकार के आचार-विचार की प्रेरणा मिलती है और संसार-दशा क्षीण होने लगती है। रूपातीत ध्यान में निकल परमात्मा सिद्ध भगवान्, अथवा आत्मा का चिन्तन होता है। उनके शुद्ध, चिन्मय, कर्ममल-रहित, अनन्त दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्यमय स्वरूप का ध्यान किया जाता है। इस ध्यान में ध्यान और ध्याता का भेद मिटा कर जीव आत्मा को अजर, अमर, शरीर-रहित, चैतन्य-स्वरूप देखता है और परमात्मा होने, हो जाने की भावना से भर जाता है।

शुक्लध्यान के पृथक्त्वितर्क, एकत्वितर्क, सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती और व्युपरतक्रिया-निवृत्ति, ये चार भेद होते हैं। इनमें पहले दो छद्मस्थ अर्थात् अल्पज्ञ योगियों के होते हैं और दूसरे दोनों रागादि दोषों से सर्वधारहित केवलज्ञानियों के होते हैं। इस शुक्लध्यान का फल मोक्ष, मुक्ति या निर्वाण है।

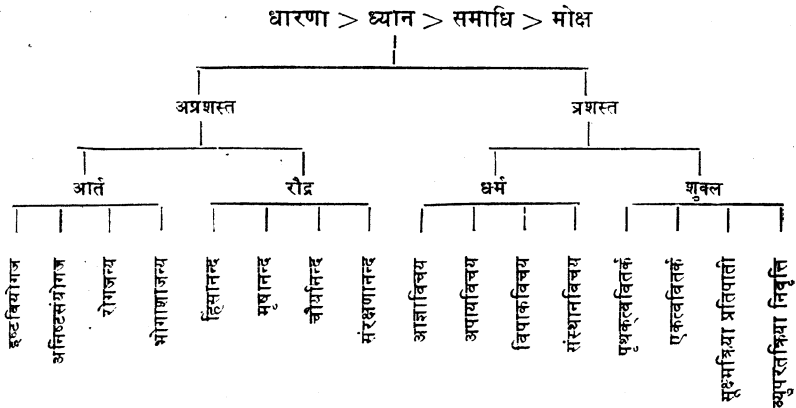
ध्यान का विषय बहुत गहन और विस्तृत है, इसका सांगोपांग वर्णन अधिकारी विद्वान् और एक बृहत् ग्रंथ का विषय है। प्रस्तुत लेख में उसकी ओर इशारा मात्र ही किया जा सकता है। आचार्यों ने ध्यान के योग्य और अयोग्य समय, स्थान, आसन आदि पर सूक्ष्म विचार किया है। ध्यान में आँखें खुली रह कर भी अन्तर्मुख होती हैं। ध्यान करने वाले को बाहर की वस्तु देखते हुए भी नहीं दीखती और भीतर की वस्तु बिना आँखों के ही दीखने लगती है। कहते हैं भावनात्मक ध्यान के बल पर अनुपस्थित वस्तु भी उपस्थित की तरह दीखने लगती है। भक्त को भगवान् के दर्शन होना भी भावनात्मक ध्यान का ही चमत्कार है।

‘गीता’ (अ. ६, श्लोक ११ - ३२) ध्यान का ही प्रकरण है। इसमें ध्यान की विधि, ध्येय, आसन आदि का वर्णन है। इसी ग्रन्थ के अ. १२, श्लो. १२ में

ध्यान को ज्ञान से श्रेष्ठ लिखा है। श्री शुभचन्द्राचार्य ने 'ज्ञानार्णव' में ध्यान की भूमिका, तैयारी, स्वरूप, भेद, विधि, फल आदि का वर्णन प्रायः २० सर्गों में लगभग ९०० श्लोकों में किया है। वौद्धों ने ध्यान को सम्यक् व्यायाम कह कर उस पर बल दिया है।

उपरोक्त सारे विचारों का निचोड़ यह है कि जैन और जैनेतर सभी विचार-धाराओं में ध्यान का विशिष्ट स्थान है। जैन मनीषा ने इस विषय को अपेक्षाकृत अधिक गहराई से देखा है और उसे विशिष्टतम स्थान दिया है। 'समणसुत्तम्' में ध्यान की प्रशस्ति में दो बड़ी सचोट गाथाएँ हैं, जिनका भाव यह है कि जल में नमक की तरह जिसका चित्त ध्यान में विलीन हो जाता है, उसके कर्मों को भस्म करने के लिए आत्मग्नि (आत्मज्ञान) प्रकट होती है (४८६)। वायु-प्रेरित अग्नि जैसे संचित काष्ठादि ईंधनों को जला कर भस्म कर देती है, वैसे ही ध्यानाग्नि कर्मों को क्षण-मात्र में जला डालती है (५०४)। इस प्रकार ध्यान की महिमा अपार है। यह भौतिकता से छुड़ा कर आध्यात्मिकता से जोड़ने वाला और प्रेय का विसर्जन कर श्रेय की प्राप्ति कराने वाला है। ध्यान के लिए मन की पवित्रता और एकाग्रता आवश्यक है। स्थान भी एकान्त और पवित्र चुनना चाहिये। जनसंकुल, कोलाहलपूर्ण और अपवित्र स्थान में ध्यान की एकाग्रता नहीं हो पाती, ध्यान हो ही नहीं पाता।

ध्यान-परिवार



ध्यान के लिए शान्ति (मानसिक और शारीरिक तनाव का अभाव) और अकम्प स्थिर आसन या मुद्रा आवश्यक हैं। मानसिक अशान्ति की अवस्था में तनावों के सूक्ष्म तन्तु अपने जाल बुनने लगते हैं और अनजाने ही हृदय और मस्तिष्क-सम्बन्धी अनेक रोगों को उत्पन्न कर देते हैं। अतृप्ति की मूर्च्छा से ग्रस्त हो जाना, विक्षिप्त (पागल) अथवा हृदयरोगी हो जाना, भूख नहीं लगना, जीवन में निराशाएँ

छा जाना, डरे-डरे-से रहना आदि मानसिक तनाव के ही परिणाम होते हैं। इन रोगों से आक्रान्त लोग उन रोगों के विशेषज्ञ (विशेष + अज्ञ ?) डॉक्टर, वैद्य आदि अथवा झाड़-फूंक करने वाले मान्त्रिक, तान्त्रिक आदि के पास दौड़ते हैं। वास्तविक उपचार के बदले औषध सेवन करते; यन्त्र, मन्त्र; अनुष्ठान, जप आदि कराते; गंडे, ताबीज, अँगूठी आदि पहनते, आई.सी.सी.यू. (इंटींसव कार्डिक केयर यूनिट) में रहते और जाने क्या-क्या नैतिक-अनैतिक करते-कराते हैं, फिर भी उनका रोग बढ़वा ही जाता है।

प्रायः लोग जानते हैं और डॉक्टर भी स्वीकार करते हैं कि दवाएँ अपने बलावल के अनुसार प्रतिक्रियात्मक होती हैं। वे एक रोग को आवृत्त कर अथवा उससे अल्प विराम दिला कर दूसरी तीव्रतर बीमारियों को उत्पन्न करती हैं। तान्त्रिकों, मान्त्रिकों के कार्य-कलाप से भी समझदार लोग परिचित हैं और इतिहास भी उनके खोखलेपन का साक्षी है।

ध्यान को समझने में यह बड़ी भूल हो जाती है कि मनुष्य उसे वस्तुपरक या बहिर्मुखी विचारपरक मान लेता है। वस्तुपरक विचार बाहर की ओर ले जाते हैं, उनका द्वार खुलता ही है बाहर की ओर, और ध्यान का लक्ष्य अन्तर्मुखी होता है, उसका ध्येय अथवा विषय अन्तर्मन में होता है। प्रकृति (वैयक्तिकता) में डुबकी लगाना ध्यान है और प्रकृति-प्रदत्त अवैयक्तिक वस्तु में रत होना अ-ध्यान अथवा व्यभिचार है, अतः अशान्ति है।

वास्तविक शान्ति द्वन्द्वातीत होने से होती है। भौतिकता की चाह के विसर्जन से द्वन्द्व मिटते हैं; चाह मिटाने का साधन अनुप्रेक्षा है, जिसमें 'स्व' और 'पर' के वास्तविक स्वरूप और सम्बन्ध-विसम्बन्ध का विचार होता है। मनुष्य को जब अपनी विकल्पातीत स्थिति का ज्ञान और स्व-पर के भेद-ज्ञान से अपने स्वरूप की पहिचान हो जाती है तब भौतिक वस्तुओं के विषय में वह पूर्णकाम हो जाता है। उनके होने का उसे न गर्व होता है, न रक्षण की चिन्ता और न उनके खो जाने, लुट जाने आदि का भय होता है। उनकी अप्राप्ति में भी वह उद्विग्न नहीं होता। उसके लिए दोनों अवस्थाएँ सम होती हैं। समता ध्यान की स्थिरता में कारण और सहायक होती है और शारीरिक मानसिक और दैविक सारे भवरोगों को मिटा कर समाधि उत्पन्न करती है और क्रम से जीवनमुक्ति और निर्वाण में प्रतिष्ठित करा देती है।

कुंडलिनी योग में षड्चक्र का ध्यान के द्वारा भेदन किया जाता है। ध्यान क्रमशः जब सबसे ऊपरी चक्र सहस्रार में प्रवेश करता है तो समाधि की स्थिति हो कर जीव जीवन-मुक्त दशा को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार ध्यान के विविध प्रकार हैं, पर सब का लक्ष्य निर्विकल्पता की प्राप्ति है। भौतिकता और कुत्रिमता के इस स्थूल युग में ध्यान (प्रशस्त ध्यान) की विशेष आवश्यकता है। तनावों से बचने का एक मात्र साधन ध्यान ही है/हो सकता है। □

समत्व - योग

जैन योग-साधना दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य की महत्ता को प्रतिपादित कर आत्म-शक्ति को जाग्रत करने का प्रयत्न करती है। वह अन्यत्र शक्ति-संपादन की बात नहीं करती वरन् अपने में ही अवरुद्ध शक्ति को उन्मुक्त करने की ओर हमारा ध्यान खींचती है।

—अर्हदास दिगे

नित्य व्यवहारों में आसक्ति, मोह, निराशा, स्वार्थ, दुःख, अहंकार, मनोभंग आदि जो विकार लोगों में बढ़ रहे हैं, उनसे मानसिक, शारीरिक, और बौद्धिक विकृति में तेजी से वृद्धि हो रही है। अनासक्ति, निर्लोभता, अनहंकार, निःस्वार्थ प्रसन्नवृत्ति आदि से मानसिक-कायिक संतोष मिलता है। इंद्रियाँ और मन बहुत चंचल हैं। इसी चंचलता के कारण हम उद्विग्न होते हैं तथा परेशानी, बेचैनी के कारण अनेक तरह के रोगों के शिकार होते हैं। आत्मोन्नति के लिए मानसिक स्थिरता का होना अत्यन्त आवश्यक है।

सभी भारतीय दर्शनों में ध्यान, समाधि, तप, योग, आदि विभिन्न मार्गों का आश्रय ले कर उन पर चर्चा हुई है। योग-परंपरा को सभी मानते हैं। मानसिक स्थिरता प्राप्त करके शुद्ध आत्मतत्त्व को प्राप्त करना इसका अन्तिम लक्ष्य रहा है।

‘योग’ शब्द का अर्थ जोड़ना होता है। व्यावहारिक दृष्टि से जिसे हम आत्मा मानते हैं, उसी आत्मा का संबंध निश्चय दृष्टि से शुद्ध आत्मतत्त्व से जोड़ना योग है। ‘कठोपनिषद्’ में (३.१२) बताया है कि मन को योग की सहायता से अपनी अन्त-रात्मा में केन्द्रित करके सुख-दुःख से परे होना चाहिये। बृहदारण्यक उपनिषद् में (२.४.५) कहा है कि आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो : मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः— इससे यह समझना चाहिये कि आत्मा सुनने, विचार करने और चिन्तन-मनन करने से ही दिखायी पड़ती है। पतञ्जलि ‘योगः चित्तवृत्ति निरोधः—इस सुसूत्र में चित्तवृत्ति के नियमन, या रोकने को योग कहा है। भारतीय दर्शनों में ‘हठयोग’ एक संप्रदाय है। वह शरीर की बलवृद्धि को ही महत्त्व देता है। प्रचलित अर्थों में ‘हठयोग’ एक शारीरिक बंधवा आसनिक वृत्ति का नाम है। हठयोग का मुख्य लक्ष्य वीर्य की पुष्टि करना है। ब्रह्मचर्यपूर्ण जीवन विताते हुए मन पर नियन्त्रण रखना उसका प्रथम लक्ष्य था। हम अपना आदर्श भूल गये, और उससे विपरीत आचरण करते-करते स्वयं रोगग्रस्त बन गये। अपनी इच्छा के विरुद्ध जबर्दस्ती काम करने का नाम ‘हठ’^१ है। मानसिक व्यापार जबर्दस्ती दबाये नहीं जा सकते।

1. तिवेटियन्स योग एण्ड सीक्रेट डॉक्ट्राइन्स्, पृ-33

योग के प्रकार और गुण-धर्म इस प्रकार हैं:—

प्रकार	स्वामित्व	योगिक सामर्थ्य
हठयोग	श्वासोच्छ्वास	शारीरिक शक्ति
लययोग	इच्छाशक्ति	मानसिक शक्ति
भक्तियोग	प्रेम	प्रेम-शक्ति
शक्तियोग	शक्ति	नैसर्गिक शक्ति
मन्त्रयोग	ध्वनि	ध्वनि-शक्ति
यन्त्र योग	आकार	भौमितिक शक्ति-सामर्थ्य
ध्यानयोग	विचार	वैचारिक सामर्थ्य

राजयोग

ज्ञानयोग	ज्ञान	बुद्धि-शक्ति
कर्मयोग	कृति	कार्य-सामर्थ्य
कुण्डलिनी-योग	कुण्डलिनी	नसीय शक्ति
समाधि-योग	आत्मतत्त्व	अन्तिम सुख-सामर्थ्य

योग के इन प्रकारों पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि सिर्फ राजयोग ही मानसिक स्थिरता के अनुरूप है। कर्मयोग और ज्ञानयोग के द्वारा हम अपने संपूर्ण शारीरिक-मानसिक व्यापारों पर नियन्त्रण रख सकते हैं। ध्यानयोग की सहायता से हम मन को एकाग्र कर सकते हैं; अपनी इच्छा-आकांक्षाओं को भी सीमित कर सकते हैं, तथा इस तरह क्रमशः अपने मन में सर्वबन्धुत्व, तटस्थवृत्ति, अथवा समताभाव की स्थापना कर सकते हैं।

जैन योग की दृष्टि से जैन आगम, भाष्यों और टीकाओं में मन के नाना व्यापारों पर जितना सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार किया गया है, उतना अन्यत्र दिखायी नहीं देता। कायवाङ्मनःकर्म योगः—इस सूत्र में शारीरिक, मानसिक और वाचिक रूप में योग करने को कहा है। 'ज्ञानार्णव', 'योगशास्त्र', 'योगविदु' में रत्नत्रय के द्वारा योग प्राप्त कही है। भगवती आराधना* में बतलाया है कि सर्वत्र समचित्तता को सामण्य (श्रामण्य) कहते हैं। 'जोग परियम्म' इस शब्द से मनोवर्गणा, वचन तथा कायवर्गणा के निमित्त से होने वाले आत्मा के प्रदेशों के हलन-चलन को योग कहा है। कहीं योग का अर्थ ध्यान भी लिया है। राग-द्वेष और मिथ्यात्व से परे वस्तु के यथार्थ स्वरूप को ग्रहण करने वाले और अन्य विषयों में संचार न करने वाले ज्ञान को ध्यान कहते हैं। 'जितकरणो' में 'करण' शब्द अन्तःकरण, मन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'ज्ञान समुत्थो' का अर्थ होता है एक ही विषय में चिन्ता का निरोध करना।

(शेष पृष्ठ २०१, २०२ पर)

2. इय सामण्यं साधु वि कुपादि णिच्चमवि जोगपरियम्मं ।

तो जिदकरणो मरणे ज्ञाणसमुत्थो भविस्सहदि ॥

— भगवती आराधना, 21, टीका पृ. 44

(1)

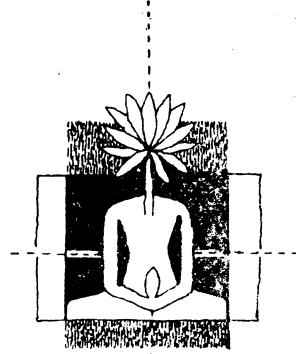
आज वर्षा की रात्रि है; अंधेरा है
बाहर मूसलाधार हो रही है बारिश
घाराएँ टूटती हैं धरती पर
सूर्य और चन्द्र वार्ता करते हैं मुझसे
कहाँ खड़ा रहूँ? कहाँ गाऊँ गीत?
स्तब्ध हैं जल के बलय

एक प्रसन्न आभा व्याप्त है मेरे हृदय में
भीतर आने से पहिले तू वहीं खड़ा रह थोड़ी देर
मेरे घर की देहरी पर सोने की नक्काशी है
भीतर आने से पहिले तू वहीं से झाँक जरा
मेरे घर में इतना है प्रकाश
कि ठोकर लगने का भय है।
सूर्य और चन्द्र मेरे सहचर हैं
आज वर्षा की रात्रि है

बाहर चारों तरफ है अंधकार
और इस क्षण वे मुझसे वार्ता में व्यस्त हैं

(2)

मैं देखना चाहता हूँ
रास्ते के दोनों तरफ निमित्त होते भवन
मैं देखना चाहता हूँ
मार्ग पर सतत दौड़ते हुए वाहन
मैं देखना चाहता हूँ
स्वस्थ और सशक्त बनते हुए स्त्री-पुरुष
मैं देखना चाहता हूँ
पथ की एक ओर, गुपचुप बातें करते हुए
तरुण-तरुणियों के शब्दों में से
विकसित-रूपायित होता जीवन का उत्सव
प्रिये, हमने अपने आँगन में लगाया था जो बिरवा
क्या उसकी अँगुलियाँ पहुँच गयीं नभ तक?
तूने धारण किये उसके पुष्प—
क्या इसीलिए तेरे अंगों पर फूट पड़ा है बसंत?
मैं देखना चाहता हूँ
वृक्ष/मिट्टी का रस खींचते हुए
और मानव/वृक्षों की ही तरह फूलते-फलते हुए
शाम के वक्त
सुदूर आकाश के रंग देखते हुए
भयों तेरा मन हो गया उदास?
किस प्रणय की स्मृति से भर आये तेरे नयन
मैं देखना चाहता हूँ
अपने लगाये हुए पौधे की फूटती हुई जड़ें
इधर-उधर सभी जगह
प्रत्येक आँगन में उसे पल्लवित होते हुए
प्रत्येक मन में झाँकती हुई उसकी शाखाएँ
मैं देखना चाहता हूँ
रास्ते के किनारे खड़े गुपचुप बातें करने वाले
तरुण-तरुणियों को



आ रही है एक नयी सुबह

उसी वृक्ष की छाया में निभंय विचरते हुए
मैं देखना चाहता हूँ
रास्ते के दोनों तरफ निमित्त होते हुए भवन
कितनी दूर आ गया चलते-चलते?
क्या थोड़ी देर मुस्ता लूँ?
फिर तो उठाना ही है पीठ पर
अपना बिस्तर-बोरिया।

(3)

मैं : विष्णु जयवंत बोरकर
एक सृजनशील कलाकार, एक रहस्य
एक सचेतन व्यक्तित्व : अचेतन-सा
मैं विष्णु जयवंत बोरकर : एक कलाकार
मिट्टी का रहस्य
मेरी और सूर्य की मित्रता शाश्वत है
तुम सब से अच्छी तरह जानता हूँ मैं सूरज को
उसके अंतरतम का आखरी स्तर मैंने देखा है
वहाँ का तेज पिया है मैंने
तुम सबसे अच्छी तरह मैं जानता हूँ पर्वतों को
पहचानता हूँ समुद्र को
मेरे हृदय की भीतरी मञ्चा में उनका घर है
जहाँ वे कभी-कभी आते हैं थकान मिटाने।
मैं विष्णु जयवंत बोरकर
एक सृजनशील कलाकार, एक रहस्य
मिट्टी से सने हुए ये देखो मेरे हाथ
रंगों के अन्वेषक ये देखो मेरे नेत्र
तुम सब आओ मेरे पास

तीर्थंकर : अप्रैल ८३/४९

मेरे हाथ में लगी इस मिट्टी की भव्य
व्यापकता में हम रंगों को बो दें
मेरे पास आओ तुम सब ।

तुम्हारी तरह ही तीव्र हैं मेरी भी यातनाएँ
में विष्णु जयवंत बोरकर
एक सृजनशील कलाकार, एक रहस्य
एक सचेतन व्यक्तित्व, अचेतन-सा ।

यह अचेतनता तुम ले जाओ अपने घरों की
अपने आँगन में उसी का लगाओ बीज
फिर उनमें जो आयेगे फल
वे होंगे चेतना के ।

उन्हें चखकर खुल जाएगी तुम्हारी तीसरी आँख
और तुम देख सकोगे वस्तुओं को
(नये परिप्रेक्ष्य में)

में विष्णु जयवंत बोरकर
एक सृजनशील कलाकार
तुम्हारे ही बीच का एक भला आदमी
तुम्हारे दुःख, तुम्हारे दर्द, तुम्हारी बेदना
की एक अनिकेत अंकार
तुम्हारे दुःखों की प्रखर हुंकार
जब अपने लगाये हुए, कोमल मिट्टी के भव्य
विस्तार में

स्वप्नों के वृक्ष पल्लवित होंगे
तब आयेगा सूर्य : उसकी छाया में
विश्राम करने के लिए ।

तब सूर्य तुम्हारे बिल्कुल नजदीक होगा
उसके मन की भीतररी परत में
तब तुम भी देख सकोगे
वहाँ जो कुछ दिखायी देगा तुम्हें
वह होगा तुम्हारा ही प्रतिरूप
तब पर्वत बन जाएंगे तुम्हारे आत्मीय ।

समुद्र होगा तुम्हारा साथी
तुम सब मेरे पास आओ
में परिचित कराऊँगा तुम्हें
तुम्हारे अपने ही व्यक्तित्व से
एक सृजनशील कलाकार, एक रहस्य
में हैं तुम्हारे प्राणों की वाणी
में विष्णु जयवंत बोरकर

(4)

मेरा जन्म
एक अघटित घटना
दुनिया का एक चमत्कार
एक सूर्य का पृथक्त्व
मेरा जन्म राख से हुआ है
पक्षियों और वृक्षों की तरह ।

आओ मिल, आओ,
झर बँठो मेरे पास
में और तुम

दोनों हैं एक खून और एक तन
तुम्हारा हाथ जो मेरे हाथों में है
मेरे ही शरीर का एक अंग है वह
और तू जिस हवा में ले रहा है साँस
में भी साँस लेता हूँ उसी हवा में
में और तुम दोनों हैं
एक रक्त, एक शरीर
जैसे वृक्ष और विहग ।

और तुम करोगे नहीं इस बात से इन्कार
कि मेरी और तुम्हारी आकांक्षाएँ भी वही हैं
जो है इन वृक्षों, विहगों की ।
और ये भी : कि मेरा दुःख और तुम्हारा दुःख
भी है एक :

में जनता हूँ चाँद को, सूरज को
और उससे भी कहीं अच्छी तरह इस धरती को
जिसके भीतर कहीं गहरे घँसी हैं मेरी जड़ें
जिनमें फूटते हैं नये अंकुर
नये पत्ते, जो लाते हैं बहार
जिसकी छाया में तुम घूमते हो बेहिचक
शायद अब तुम नहीं करोगे अस्वीकार
कि तुम्हारा दुःख और मेरा दुःख वही है
जो इन वृक्षों और विहगों का है
और यह कि उनका बिद्रोही स्वर और
तेरा स्वर भी एक ही है ।

मेरा जन्म राख से हुआ है—
भूमि के गर्भ से—
वृक्षों और पक्षियों की तरह
एक रक्त; एक शरीर
शायद तुम्हें मालूम न हो
कि तुम्हारा जन्म भी हुआ है
राख में से ही
मेरी ही तरह
और, मैं और तुम
हैं एक ही तत्त्व
चैतन्य तत्त्व ।

और तुम्हारा जन्म भी मेरी ही तरह
है एक अघटित घटना
दुनिया का एक चमत्कार
एक सूर्य का पृथक्करण ।

(5)

वृक्ष और पौधे मुझमें भिद गये हैं
मुझमें ही है आधार सभी पर्वतों का

रास्ते पर भटकने वाले ओ तुम विकलांग
तुम मेरे पास आओ
मगर वहाँ दूर मेरे पैरों के पास मत बैठो
दीन-हीन-जैसे

सीधी करो अपनी रीढ़
और धूल में लोटने वाली अपनी नज़र
ऊँची करो

मेरी आँखों से मिलाओ अपनी आँखें
सचमुच तेजस्वी हैं तुम्हारे नेत्र
बाओ, लिपट जाओ मुझसे अपनों की तरह
मेरे वक्ष में ही सही जगह है तुम्हारी
और नहीं जानते तुम
कि मेरे अस्तित्व में भिदे हुए
सभी वृक्ष और पौधे तुम्हारे भीतर होते हैं
पल्लवित,

और मुझमें उगा हुआ हरेक पर्वत
तुममें ही पाता है अपना विस्तार ।

(6)

बभी-अभी किसने यह कहा
कि सूर्य हो गया अस्त ?

जिस किसी ने भी यह कहा हो
उस (स्त्री, या पुरुष) से कहना चाहता हूँ मैं
आस्थापूर्वक

कि सूर्य अस्त हो गया हो चाहि
फिर भी प्रकाश नहीं मरा है ।

और न कम हुई है उसकी प्रखरता
और आवेश के साथ

यह भी कहना चाहता हूँ मैं

कि अब तक जो होता था प्रकाशित

दरअसल वह सूर्य नहीं था

वो थे तुम और मैं

जो आज हुए हैं एकत्र

और वह था प्रकाश हमारा ही

जो सूर्य तक जा कर होता था परावर्तित

ओ मेरे पूर्वजो !

अब तुम अपने पिंडों से निकल पड़ो

और देखो यह मेरा तड़पता हुआ हृदय
ज्योतिर्वान !

जिसके दर्शन-मात्र से

कितने ही सूर्य होते हैं कृतार्थ

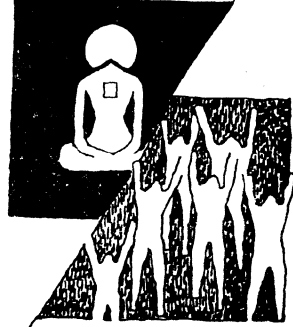
अब तुम खड़े हो जाओ अपने पिंडों से !

और देखो पर्वत की तरह

आकाश को छूनेवाली मेरी देह

मेरे मुख की तेजस्वी आभा

मेरी शान्त मुद्रा कृतार्थ



॥ श्रीगुरुः ॥

मीन के असीम महासागर में स्थित
ओ मेरे पूर्वजो !

उठो अपने पिंडों से

और देखो अपने तेजस्वी पुत्र को ।

अब मेरा कहना यह है

कि तुम्हारा संगीत टूटना नहीं चाहिये

भला कौन बजा रहा था वीणा उस समय ?

उस वीणा के स्वर

फिर निकलने दो नये उन्मेष से ?

वह कौन गा रहा था तब ?

मैं कहना चाहता हूँ कि

अब वह गीत फिर से गाया जाना चाहिये

नयी राग में

अब तुम्हारी संगीत-साधना चलनी चाहिये

—अखण्ड

और धीमी नहीं पड़नी चाहिये

उन स्वरो की प्रखरता ।

उन स्वरो की प्रखरता !

रहने दो वैसी ही

जैसी थी सबरे-सबरे !

जब सुरज लाल था ! !

और जो थी मध्याह्न के वक्त

जब सूर्य माथे पर तपता था ।

अब तुम्हारा गीत चलना चाहिये अखण्ड

अब गुंजन दो तुम्हारे संगीत के स्वर

तुम्हारे और मेरे अंतःकरण में

निःस्तब्धता के असीम महासागर में डूबते हुए ।

तीर्थकर : अप्रैल ८३/५१

मैं कहता हूँ कि
पिंडों में से उठने वाले अपने पूर्वजों को।
तुम इस उदात्त संगीत की पहली सलामी दो।
इस महापर्व के क्षण को यों ही मत बीतने दो।

—इसे साधो—

मैं कहता हूँ कि
अभी भी स्थिर है प्रकाश
इसी प्रकाश से ज्योतित हैं तुम्हारे
अन्तःकरण
और उसी से निकलते हैं ये स्वर।
भले धिर आयी हो काली रात।

(7)

तुम और मैं दोनों हैं एक
एक खून एक देह
मैं अपने घर में रहता हूँ स्थित और शान्त
मेरा निःस्तब्ध मौन (जो समाया है इस घर में)
तुम्हारे मन में होता है परावर्तित
उसी के तो ये फूल खिले हैं यहाँ
क्या तुम जानते हो कि ये फूल
अंगारों की तरह प्रखर हैं; फिर भी हैं सौम्य
क्या तुम जानते हो कि इनकी सुगन्ध से
जल जाते हैं देह के तट
मगर फिर भी देह ही उठता है
रसमय सुखद।
मैं कहता हूँ कि मैंने इस घरती को
किया है प्यार।

पर्वत के शिखर, नदियों के किनारे
तुमने देखा है आकाश प्रतिबिम्बित होते
—मेरे हृदय में सरोवर की तरह—
जिसमें तुम डूबे हो कितनी ही बार
तुमने देखा है मुझे
हरी घास पर होले, ममतामय अँगुलियाँ
फेरते हुए
नवजात शिशु के कोमल केशों को सहलाने—जैसा
तब देखी है तुमने
नवजात शिशु की सौम्य मुस्कान
मेरे अघ्रों पर।

मैंने इस घरती को किया है प्यार।

और फिर भी मैं कहता हूँ
कि यह भूभाग मेरा नहीं है
और मैं तुम्हें भी करता हूँ आगाह
कि यह प्रदेश तुम्हारा भी नहीं है
मेरा देश फैला है मेरे हृदय में
और उसके भी आरपार

तीर्थ की तरह विशाल।
पर्वत के शिखर और नदी के तट
कितने प्रसन्न!

इसी भाग पर है मेरी सार्वभौम सत्ता।
मेरा मौन है वहाँ प्रतिष्ठित
उसी के शासन से वह देश हुआ है प्रकाशित
और तेजस्वी।

उसी प्रकाश का एक बिंदु है सूर्य
मेरे हृदय के विशाल प्रदेश की ज्योति को
तुमने पिया है आकण्ठ।

और वहाँ की किरणें
तुम्हारे अंतःकरण में हुई हैं परावर्तित
तभी तो ये फूल खिले हैं यहाँ
मेरे घर में।

(8)

तुम्हारे हाथों में यह शिशु
अब यह बढ़ेगा दिन-ब-दिन
हवा की तरह, सूरज की तरह
वह खींचेगा मिट्टी का रस
पी लेगा आकाश के रंग
सुबह के और शाम के।

उन्हें पी कर वह बनेगा अत्यन्त तेजस्वी
तब उसकी चैतन्य आभा से
क्षिपने लगेंगी तुम्हारी आँखें।
तुम्हारे हाथों में शिशुवस्त्र पहन

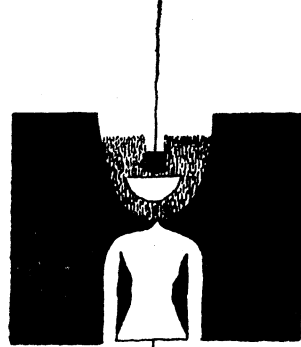
वह बालिका
अब वह बड़ी होगी बुद्धि से
तुझे बताये बगैर, वह पहनेगी फ्राँक
फिर पहनेगी घाघरा और
तुरन्त आ जाएगी साड़ी में।
यह उत्सव देखूँगा मैं

मैं देखूँगा उस कन्या को हँसते-खेलते
मैं देखूँगा उसे सूर्य पीते हुए
तब मैं देखूँगा अपने ही प्राण
उसमें प्रस्फुटित होते हुए।

मैं देखूँगा अपनी आत्मा
उसमें प्रज्वलित होते हुए।
जब यह कन्या साड़ी पहनेगी
तब तक शायद मेरे बालों पर चढ़ जाएगी
सफेदी

और संभवतः मेरे माथे पर उभर आयेंगी सिलबटें
फिर भी अपनी बूढ़ी आँखों से
मैं इस लड़की को बड़ा होते हुए देखूँगा
ठीक वैसे ही

जैसे मैं देखता हूँ अपने आँगन की बेल
 आकाश तक जाती हुई
 वे मेरे नेत्र होंगे सार्वभौम
 विलक्षण तेज से युक्त, प्रभावशाली, प्रखर
 मेरी आँखें करेंगी संरक्षण
 विकसित होती हुई उस कन्या का ।
 तुमसे कहना चाहता हूँ मैं
 कि यह लड़की अब विकसित होगी
 मौन के माध्यम से ही
 तब उसके अंतःकरण में
 [मेरे अंतःकरण का महासंगीत गूँजेगा ।
 और आज जो भाषा मेरी है
 कल उसकी भाषा भी वही होगी
 उसी भाषा में, तब, वह तुमसे करेगी बातें
 यद्यपि वह नहीं जानती होगी
 कि मैं कौन हूँ ?



॥ गीतिका १३ ॥

मैं तुमसे कहता हूँ कि—
 आयु का पूरी तरह उपभोग किया है मैंने
 और हो चुका हूँ सब तरह से तृप्त
 फिर भी तुमसे कहना चाहता हूँ मैं
 अब जैसा उसका यौवन होगा
 नहीं थी वैसी मेरी तरुणाई ।
 क्योंकि तब मेरी पहिचान नहीं थी मिट्टी से
 भूँसे नहीं मालूम था आकाश
 तब कभी पिया नहीं था मैंने सूर्य
 और मैं था सड़ा-नाला हुआ
 मैं कहता हूँ तुमसे
 कि जो-जो कुछ भूँसे उपलब्ध नहीं था तरुणाई में
 वही-वही सब मिलेगा उसे यौवन में ।
 तुम्हारे हाथों का यह शिशु
 अब यह बड़ा होगा दिन-ब-दिन
 तेज बुद्धि से ।
 हवा की तरह और सूरज की तरह
 अत्यन्त तेजस्वी और चैतन्य-युक्त ।
 क्या तुम्हें नहीं मालूम कि
 मैं ही जनमा हूँ फिर से
 जैसे जनमता है वृक्ष फिर-फिर
 अपने ही बीज से ।

(9)

भूँसे भी अधिक प्रकाशवान् एक शक्ति
 वह है अभिव्यक्त मुझ में सचेतन ।
 मैं हूँ उसका ही एक रूप
 एक अनुपमेय संस्मरण
 मैं देखता हूँ तुझमें से आर-पार
 तू है एक अद्वितीय व्यक्तित्व

एक शान्त अग्नि-गोलक स्थिर, अचल
 ईश्वर का एक साक्षात्कार ।
 ओ रे ओ पीड़ित
 तुम हो मेरी आत्मा की अभिव्यक्ति
 मैं जनमा हूँ राख से, मिट्टी से
 मैं हूँ परमात्मा का श्रेष्ठतम आविष्कार
 उसके अनिर्वचनीय सपनों का रूपाकार
 उसके आनन्द का सर्वोच्च बिन्दु निराकार मैं ।
 मेरे अन्तर में लहराते हैं उसकी तृप्ति के महासागर
 उसकी शान्ति के उच्च स्तूप
 ओ रे, ओ पददलित
 तुम हो मेरी आत्मा की अभिव्यक्ति
 तुम्हारा प्रखर तेज ही है मेरी अनिकेत हुंकार
 तुम्हारी चरम वेदना
 मेरी पीड़ा की झंकार ।
 लेकिन ये नहीं हैं मेरे शब्द ।
 ये सब हैं उसके उद्गार
 वह आदिशक्ति
 जो है मुझसे अधिक प्रकाशवान्
 मैं हूँ जिसका एक विमल रूप
 एक अनुपमेय संस्मरण ।

(10)

नहीं रहेंगी ये कविताएँ भी
 कितना क्षणभंगुर है उनका आयु का विस्तार
 उसके बाद शेष रहेगा क्या ?
 एक विराट शून्य
 मैं कहना चाहता हूँ कि
 तुम रहोगी तब भी ।
 हरेक नयी पीढ़ी में जिजोगी तुम प्रबुद्ध और सचेतन ।

तीर्थकार : अप्रैल ८३/५३

और मेरी आत्मा के ये शब्द
 डोर-डोर पर तुम्हें दंग चुनौती
 अग्नि-से भी प्रखर ये
 हर पीढ़ी में माँगेंगे तुमसे अपने जीवन का दान ।
 तुमसे भी अधिक विद्रोही और चैतन्ययुक्त
 उसी की अभिव्यक्ति हैं ये कविताएँ
 ये कविताएँ नहीं रहेंगी
 किसी एक दिन
 और फिर भी तू रहेगा
 और शेष रहेगी लक्ष्य बेधने की
 यह प्रक्रिया अखण्ड
 काल के भयानक विस्तार में ।

(11)

आ नहीं है एक नयी सुबह
 अब नहीं चाहिये तुम्हारी ये शहनाइयाँ
 और न ही तुम्हारे ये नगाड़े ।
 पूरब दिशा की पहाड़ी के पीछे से
 पर्वत-शिखरों के पार से
 आ रहा है एक नये उत्सव का क्षण
 एक नयी सुबह फूट रही है तुम्हारे हृदयों में से
 तुम्हारे अन्तःकरणों को सुलगाने के लिए ।
 उसके स्पर्श के लिए आतुर
 तुम्हारे अन्तर के तारों को
 जब वह छुयेगा अपनी कोमल अँगुलियों से
 उस महासंगीत से
 गूँज उठेंगे दिग्-दिगन्त
 अब नहीं चाहिये ये तुम्हारी शहनाइयाँ
 या तुम्हारे ये नगाड़े ।
 अब तुम्हारे बीच में
 सबसे कमजोर, सबसे दीन-हीन, सबसे पराजित
 जो आदमी होगा
 वही नये पर्व में बनेगा सावैभौम
 अब वही होगा सामर्थ्यवान् और
 सर्वशक्तिशाली ।
 उसके भीतर कहीं सोयी हुई
 सभी शक्तियाँ,
 अवरूढ़ पड़े हुए सभी प्रवाह
 पूरी तरह जागृत, सक्रिय होंगे वहाँ
 और तब वह करेगा जो शब्द उच्चारित
 एक वही होगा परम सत्य ।
 अब तुममें से
 अत्यन्त, पीड़ामय, वेदनामय, क्लेश-मुक्त
 ऐसा जो शरीर होगा
 वही उस पर्व में
 बनेगा सुख का अविचल उद्यान ।

जहाँ तुम घूम सकोगे आराम से ।
 तुम्हारी पीड़ा, तुम्हारी वेदना
 तुम्हारे दुःख
 इनकी अतल गहराई में ही
 तुम्हारे आनन्द का उद्गम है कहीं
 वहाँ वेदना-बीजों से ही अँगो-
 फल-फूलों से लदे हुए वृक्ष
 जिनकी छाया में तुम निर्भय होकर
 बैठोगे - घूमोगे ।

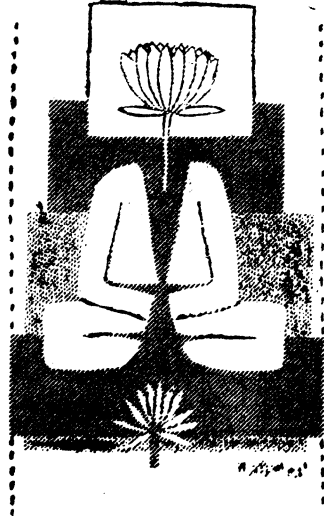
वहाँ तुम्हारे हृदय प्रकाशित होंगे अग्नि से
 और यहाँ जो कवि माटी के गीत गाता है
 वह आत्मिक शान्ति में लीन होगा वहाँ
 एक नयी सुबह आ रही है
 तुम्हारे हृदयों में से
 तुम्हारे अन्तःकरणों को प्रखलित करने के लिए ।
 तुम्हारे मर्त्य शरीरों को
 जब मिलेगा उसका स्पर्श
 तब तुम्हारी देह पर थरथरायेंगे
 अमरता के रोमांच ।

अब में बतलाता हूँ
 कि मैंने अभी-तक को कभी नहीं धिक्कारा
 और न गरीबों को ही ।
 (वहाँ नहीं है भेद अभी-गरीबी का)
 मैंने कभी नहीं किया पापों का उच्चारण
 उसी तरह पुण्यों की भी नहीं की घोषणा
 (मैं पूछता हूँ आखिर पाप का अर्थ क्या है
 और क्या है पुण्य की भी परिभाषा)
 और इससे भी आगे बढ़ कर
 कहता हूँ मैं कि
 अच्छा क्या है और बुरा क्या है
 यह भी मुझे नहीं मालूम
 और अब, उषःकाल के थोड़े पहिले
 ऊँची चट्टान पर से मैं करता हूँ घोषणा
 (एक अद्वितीय देवी आभा से युक्त हो कर)
 कि तुम्हारा यह नन्हा-सा हृदय
 एक आरक्त कमल
 उषःकाल की ही तरह
 तुम्हारे अंतर्जगत में
 एक और बड़े और भी रक्तितम
 कमल में विकसित हो जाएगा
 और फिर वह कमल
 वहाँ का अन्धकार पी कर
 अधिक प्रकाश की प्यास से व्याकुल
 उससे भी अधिक प्रकाशमय, अधिक
 विशाल

एक दूसरे कमल में खुलेगा
फिर वह कमल
जिस एक सर्वव्यापी, सर्वस्पर्शी
स्वयं प्रकाशित, अविचल और अत्यन्त श्री-युक्त
जिस कमल में खुलेगा
उसमें तुम्हारे बहिर्बह होगे विसर्जित
और तब फूटेगी सुबह
वहाँ उस जगह द्रुम्भ नहीं होगे
और अचल एक ही अग्नि
सबके हृदय में होगी प्रज्वलित
वहाँ उस जगह
तुम संपूर्णतया होगे उसको समर्पित
उसके अधीन
जो होगा तुम्हारा स्वामी ।
वहाँ तुम जो भी देखोगे—
उसकी दृष्टि से देखोगे ।
और जो शब्द तुम बोलोगे
वस्तुतः वे होंगे
उसी एक के शब्द ।
एक नयी सुबह आ रही है
पूरब दिशा में चौटियों के पीछे
और पर्वत-शिखरों के पार से
आ रहा है एक नये पर्व का क्षण ।

(12)

अब नहीं है (संभव या आवश्यक)
यहाँ से वापस लौटना
जहाँ तेज के महासागर दिखायी देते हैं
प्रकाश की लहरें उफनाती चलती हैं
अब नहीं होगा
वापस जाना यहाँ से ।
यहीं मैं खड़ा हूँ
दिककाल की सीमा पर
भू-गर्भ में पाँव जमा कर स्पष्ट, स्थिर ।
मैं पूछता हूँ
कहाँ से बने ये समुद्र
और पर्वत ?
कहाँ से आयी विद्युत् की यह कतार
नक्षत्रों की मालिका ?
कहाँ से निर्मित हुए ये देह ?
उनकी अनुभव-अगम्य संवेदनाएँ ?
यह सत्य कहाँ से आया ?
कहाँ से आये प्राण ?
कहाँ से, कहाँ से बने ये विचार ?
यह वैचिद्व्य-विस्तार ?
कहाँ से मिली यह दृष्टि



जो व्याकुल है परमात्म की खोज में ?
तेज के इस महासागर से
एक ही एक स्वर आता है बार-बार
देवीप्यमान

ज्वार की तरह प्रलयकारी
जो बोध देता है मेरे अंतरतम को
मेरे अंतःकरण के सहस्र तार
अब संकृत हो उठे हैं
एक ही (नहीं)/एकमात्र लय में
सहस्र चेतन आघातों से ।

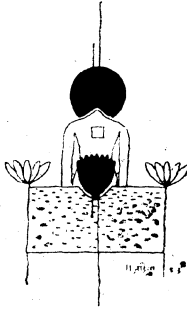
जो होता है व्याप्त
एक ही अग्नि-गोलक में
प्रचण्ड-ध्वनियों में ।

यह मेरा परम आनन्द
यह मेरा चैतन्य आनन्द
यह मेरा चैतन्य तत्त्व ।
बार-बार गरुड़ की तरह फिर-फिर कूदना
तेज के इस महासागर में
जो है उद्गम-स्थान मेरा ।

(13)

जिसने आकाश पहचाना और जानी धरती
वह जागृत है मुझमें
सहस्रदल कमल की तरह
अविचल और शान्त निद्रा अब टूट रही है

तीर्थकार : अप्रैल ८३/५५

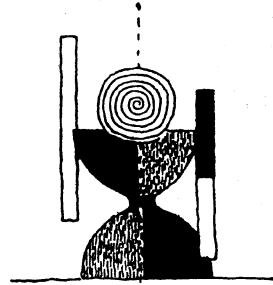


गहरा अँधियारा मिटता जाता है
 मैं आ रहा हूँ
 तुम सबके पास ।
 हौले, ममता से, तुम्हारी निन्दियारी आँखों पर
 अपनी अँगुलियाँ सहेजने
 सूर्य की तरह आरक्त तुम्हारे ये नेत्र
 अब खुलने दो
 विकसित होने दो निर्मल, सुंदर
 ये सौ-सौ कमल
 टूट रही है निद्रा ।
 जागने वाली इस तेजस्विता में से आयेगी
 एक दिव्य ज्योति
 जो छू लेगी तुम्हारे अंतःकरणों को
 जिससे तुम्हारी अंतर्द्वंद्व
 हो जाएगी अग्निमय
 और तुम्हारी दृष्टि
 हो उठेगी प्रज्वलित
 मैं पूछता हूँ
 इस दुनिया में ऐसा क्या है
 जो असंभव हो तुम्हारे लिए ?
 क्या तुम नहीं जानते कि
 अगर मन में निश्चय करो
 तो तुम उठा सकते हो पर्वत भी ।
 तुम्हें नहीं मालूम कि
 अगर तुम चाहो
 तो ग्रह-नक्षत्रों की गति भी
 बदल सकते हो तुम ।
 वह अग्निशिखा, तुम्हारे मन में
 जगह-जगह फेंकेगी चिनगारी
 जिससे तुम ही जाओगे आनन्द-मग्न ।
 मैं कहना चाहता हूँ कि
 तुम शक्ति हो, तेज हो
 आनन्द के महासागर हो तुम्हीं ।

५६/जैन ध्यान, योग विशेषांक

तुम्हें छू कर, दुःख भी बन जाता है सुख
 तुम ही मूर्तिमान चेतन्य ।
 (और, दुःख आखिर कहते किसे हैं
 क्या कोई बतला सकेगा मुझे)
 उस परम ज्योति के एक-एक स्पर्श से
 तुम देख सकोगे स्वतः का रूप
 जो है सत्य, ऊर्जस्वित ।
 अन्तर्जगत के भी भीतर
 बहुत-बहुत गहरे
 दुःख-कोषों के भी पार
 तुम देख सकोगे लीलाएँ ।
 युगों-युगों से चलता हुआ मैं
 अब आ रहा हूँ

तुम्हारे पास ।
 तुम्हारी नींद-भरी आँखों पर
 हौले, प्यार-भरी उँगलियाँ
 फिराने के लिए
 मैं एक फकीर, वस्त्रहीन
 एक खाली हाथों वाला बैरागी ।
 एक जादूगर ।
 अब नींद टूट रही है
 अब खुलने दो अपने नेत्र
 उसके प्रकाश में
 जो मेरे अंतःकरण में
 जागृत है अविचल
 सहस्र-दल-कमल की तरह
 जिसका एक अंश है
 वह ज्योति ।



मराठी मूल : विष्णु जयवन्त बोरकर
 हिन्दी अनुवाद : दिनकर सोनवलकर
 (मूल प्रकाशन : जुलाई १९६४)

बातचीत विषय-विवेचन की

एक प्रखर, जीवन्त, बोधगम्य, और आत्मीय विधा है।

जब किसी अधिकारी पुरुष/सुधी/विशुद्धधी मनीषी से

उसके अधीत, अनुभूत, साधित, संबोधित विषय पर

कोई खोजी व्यक्ति बातचीत करता है

तब विषय से संबन्धित कितने, कैसे, कौन, क्या पहलू एक-के-बाद-एक

सामने आते हैं, इसकी न तो कोई पूर्वयोजना हो सकती है, और न कोई कल्पना;

बात चल निकलती है और कमरे, गर्भकक्ष खुलते जाते हैं—

कभी आंगन, कभी बरामदा, कभी कोई गुप्त गलियारा, कभी बैठकखाना, तो

कभी कोई व्यक्तिगत कक्ष। नाना पक्ष किसी एक विषय के उभर कर

उजागर होने लगते हैं।

प्रश्न को पीठ पर लगाम ताने उत्तर, और

उत्तर की पीठ पर जीन-कसे प्रश्न अचूक, मचलते चले आते हैं। ऐसे बौराये

ज्ञान-वसन्त में आप प्रश्न करते जाँँ और पाँव — तत्परता से — उठाते जाँँ;

तर्क करें, खूब करें; किन्तु कुतर्क कतई न करें; धीरज रखें, किन्तु उत्तर को

बड़ा जटाधारी न होने दें।

प्राश्निक को चाहिये कि वह एक भोले शिशु की तरह जिज्ञासा करे

और उत्तरदाता को चाहिये कि वह आसान शब्दों में गूढ़तम विषय

की पूर्णतम/सुलझी/गहरी विवेचना करे। गाँँ पड़ती जाँँ, गाँँ खुलती

जाँँ; और निष्कर्ष में एक विशुद्ध निरग्रन्थता चारों ओर झूम-झनक उठे।

आगामी आठ बातचीतों में यही हुआ है, इनमें कठिन कुछ भी नहीं है,

सरल प्रायः सब कुछ है।

पाँच बातचीतें एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी से,

एक आचार्य समन्तभद्रजी से, एक क्षुल्लक धर्मानन्दजी से,

तथा एक पं. बाहुबली उपाध्ये से।

लगभग सभी बातचीतों में जैन धर्म और दर्शन की मौलिकताएँ ही आधार बनी

हैं, और उत्तरदाताओं ने हमारे प्रिय पाठकों को अपनी ज्ञान-वृष्टि से

संतृप्त किया है। हो सकता है प्रश्न कमजोर और उथले रहे हों; किन्तु

यह तय है कि उत्तर गहरे हैं और उनमें से जैन धर्म और दर्शन की एक

साथक छवि सफलतापूर्वक उभर कर सामने आयी है।

—संपादक



पदार्थानां निमग्नानां
स्वरूपं परमार्थतः
करोति कोऽपि कस्यापि
न किञ्चन कदाचन ॥

—अमितगति

वस्तुतः
समस्त पदार्थ
स्वरूपं मे
निमग्नं हैं ।
इनमें से कोई भी
किसी का भी, कभी भी
रञ्चमात्र उपकार, या
अपकार नहीं करता ।

प्रमादी त्यजति ग्रन्थम्
बाह्यं मुक्त्वापि नान्तरम्
हित्वापि कञ्चुकं सर्पो
गरलं न हि मुञ्चते ॥

—अमितगति

जो प्रमादी है वह अंतरंग
परिग्रह को न छोड़ते हुए
बाह्य परिग्रह को
छोड़ता है,
ठीक वैसे ही
जैसे साँप काँचली को
छोड़ कर भी विष को
नहीं छोड़ता ।

ध्यान : निर्विकल्प आत्मशोध ध्येय : अखण्ड आत्मबोध



एलाचार्य मुनि श्री विद्यानन्द/डॉ. नेमीचन्द जैन; कोथली (कर्नाटक), २६ नवम्बर, १९८२

डॉ. नेमीचन्द जैन : महाराजश्री, ध्यान के सम्बन्ध में बहुत सारी जिज्ञासाएँ मेरे मन में हैं और जिन्हें मैं आपके सामने प्रस्तुत कर रहा हूँ। पहली जिज्ञासा यह है कि ध्यान क्या है ?

एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द : 'ध्यान' एक सामान्य शब्द है। किसी भी विषय को ले कर ध्यान शब्द का प्रयोग किया जा सकता है; जैसे आप ध्यान से सुनिये। एकाग्रता-पूर्वक किसी बात का अवलोकन कर लेने के अर्थ में भी ध्यान शब्द का प्रयोग किया जाता है।

ने. : यह तो इसका व्यापक उपयोग हुआ।

वि. : व्यापक के साथ ही हम चलेंगे। ध्यान से ही चारित्र्य पूर्णता को प्राप्त होता है, ऐसा आगम-सिद्धान्त का वाक्य है। ध्यान की परिभाषा करते हुए 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में लिखा गया है :

अंतो मुहुत्तमेत्तं, लीणं वत्थुम्मि माणसं णाणं ।

ज्झाणं भण्णदि समए, असुहं च सुहं च तं दुविहं ॥

(का., 468)

ने. : यह किस भाषा में है ?

वि. : प्राकृत जैन शौरसेनी में है। इस गाथा का अर्थ इस प्रकार है : वस्तु में जो मन-सम्बन्धी ज्ञान अन्तर्मुहूर्त-मात्र में धारावाही लीनता को प्राप्त होता है अर्थात् एकाग्र होता है, उसे सिद्धान्त में 'ध्यान' कहा गया है और वह शुभ अशुभ के भेद से दो प्रकार का है।

ने. : शुभ ध्यान और अशुभ ध्यान ।

बि. : शुभ ध्यान में आत्मकल्याण और लोककल्याण के लिए उत्तम-से-उत्तम विचार किये जाते हैं । अशुभ ध्यान में दूसरों की बुराई (अहित) के लिए नाना प्रकार के विकल्प किये जाते हैं ।

ध्यान की एक सूक्ष्म परिभाषा 'तत्त्वार्थसूत्र' में इस प्रकार दी गयी है :

***एकाग्रचिन्ता निरोधो ध्यानम् ।

(त. सू. 9/25)

अर्थात् एक का मुख्य चिन्तन हो और अन्य का चिन्तन रुक जाए, उसका नाम ध्यान है ।

ने. : एक को मुख्य कर लें, बाकी को गौण करें, तो उसे हम ध्यान कहेंगे ?

बि. : हाँ। ऐसे ही ध्यान आत्मस्वरूप चिन्तनम्— आत्मस्वरूप के चिन्तन का नाम ध्यान है; क्योंकि यहाँ ध्यान आध्यात्मिक अथवा आत्मिक शान्ति के लिए होने के कारण यह लौकिक ध्यान नहीं है । आत्मकल्याण के लिए और मानसिक, वाचिक, कायिक इत्यादि सांसारिक दुःखों से मुक्ति प्राप्त करने के लिए जो आत्मस्वरूप का चिन्तन है, वही सच्चा ध्यान है । आचार्यों ने ध्यान के अन्तर्गत चार बातें बतायी हैं:— ध्याता, ध्यान, ध्येय; संवर तथा निर्जरा ये दोनों ध्यान के फल हैं ।

ने. : ध्याता किसे कहें ?

बि. : पाँचों इन्द्रियों— स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण—के विषय को त्याग कर मन को ध्यान में लगाने वाला ध्याता है, जो निकट भव्य है, आसन्न भव्य है; अर्थात् समस्त दुःखों से मुक्त होने की योग्यता प्राप्त कर चुका है और जिसकी आत्मा में उसका परिपाक हो चुका है ।

ने. : सरल शब्दों में बताइये कि ध्याता किसे कहते हैं ?

बि. : वह भव्य पुरुष जो संसार-सागर से पार होने का किनारा खोज रहा है ।

ने. : जो आत्मचिन्तन करना चाहता है, क्या उसे हम ध्याता कह सकते हैं ?

बि. : यथास्थित जो पदार्थ हैं; वस्तु जैसे शुद्ध, अपने स्वरूप में है, उसे जानना उसका ध्येय है । अपने आत्मा का जो मूल स्वरूप है, समस्त द्रव्य कर्म, नोकर्म, भाव कर्म रहित एक निराकार-निरंजन परमात्मा का ध्यान ही जिसका ध्येय है, वही ध्याता है ।

ने. : यही उसका ध्येय है ।

बि. : एकाग्र होकर विचार करना ध्यान है । किसी एक शुद्ध परमाणु का आलम्बन ले कर समझिये अथवा आप समझिये दाल अलग, छिलका अलग; आत्मा अलग, शरीर अलग—इस तरह से किसी भी लोकधर्मा वस्तु को ले कर ध्यान किया जा

सकता है; लेकिन एक शर्त है, जिस ध्यान को हम निर्विकल्प करना चाहते हैं, उस ज्ञान में मोह का अंश नहीं होना चाहिये। जिस ज्ञान में मोह का अंश है, वह श्रुतज्ञान नहीं है, यानी भावश्रुतज्ञान नहीं है। भावश्रुतज्ञान उसे कहते हैं, जो लोकज्ञान हो यानी अल्पज्ञान हो, लेकिन वह निर्मोह को लिये हुए हो।

ने. : क्या निर्मोह के लिए अनासक्ति शब्द काम में ले सकते हैं ?

बि. : हाँ।

ने. : इस ध्यान का फल क्या है ?

बि. : जैसे, धूल आने से वारिश के दिनों में खिड़कियाँ बन्द करते हैं और धूल से सारा कमरा न भर जाए, इसलिए दरवाजा भी बन्द कर लेते हैं; इसी प्रकार ध्यान द्वारा मन-वचन-काय रूपी कपाट को बन्द कर लेना है और बन्द करने के बाद पहले की जो धूल है, उसे बाहर निकाल देना है। आत्मा में पाप-पुण्य से जो बुरे और अच्छे विचार आ चुके हैं, पाप-पुण्य के जो कण पड़े हैं, उन्हें बाहर निकालने को शास्त्रीय भाषा में निर्जरा कहते हैं। ध्यान द्वारा कर्मों की जो संवर-निर्जरा होती है, उसका फल मुक्ति है, आत्मशान्ति है, अनन्त और अखण्ड आनन्द है।

ने. : इसका अर्थ यह हुआ कि ध्याता भी आत्मा है और ध्येय भी आत्मा है। ध्यान उस आत्मा को जानने की प्रक्रिया है और निर्जरा उसका फल है।

बि. : हाँ। निर्जरा के बाद आत्मा अनन्त सुख, अनन्त शान्ति, ज्ञान-चैतन्य मात्र रह जाता है। आत्मा केवल ज्ञान-मात्र है; आत्मा ज्ञान-विग्रह है।

ने. : विग्रह यानी प्रतिमा/मूर्ति ?

बि. : ज्ञान-मात्र, चैतन्य-मात्र आत्मा का जो विग्रह है, वही रह जाता है। ध्यान में ही आनन्द लेना, अनन्त काल तक उसी में रमे रहना, उसी में तन्मय/तल्लीन हो जाना, यही ध्यान का फल है।

ने. : जब तक विकल्प होते हैं, तब तक ध्यान जमता नहीं है।

बि. : प्रारम्भिक अवस्था में तो विकल्प होते ही हैं; परन्तु अनन्त/असंख्य विकल्पों को कम करते हुए 'सोऽहं' एक ही विकल्प ध्यान को ले कर रहे, तो क्रमशः वह भी छूट सकता है। हम आत्मा में संसार के समस्त पदार्थों को शून्य समझें। आत्मा के लिए उपादेय केवल शुद्ध आत्मा ही है। उस उपादेय पर अपना लक्ष्य बनाये रखने से उसमें खण्ड-खण्ड ज्ञान न होते हुए अखण्ड आत्मा का बोध होता है।

ने. : आपने स्वर्ण-आभूषणों का दृष्टान्त दिया था।

बि. : जो पुरुष अपने लिए गहना खरीदना चाहता है; उसके लिए वह पैसे इकट्ठा करता है। पैसे इकट्ठा करने के बाद मनपसन्द गहना खरीदने के लिए वह बाजार जाता है।

दुकान में यह गहना खरीदना चाहिये या वह; यह अच्छा है या वह उससे भी अधिक अच्छा है—इस तरह विकल्प करते-करते एक गहना खरीदना तय करता है और उस मनपसन्द गहने को खरीद लेता है। जब उस खरीदे गये गहने को वह पहन लेता है, तो उसे बहुत सुख होता है। खरीदने का जो विकल्प उसके मन में था, पैसे इकट्ठे करने का जो विकल्प था, वह सब समाप्त हो गया, इसलिए अब उसे गहना पहनने में ही आनन्द आने लगा। इसी तरह जब ध्यान की प्रक्रिया चलती है, तब विकल्प चलते हैं, लेकिन जब वह ध्यान में जम जाता है, तो फिर ध्यान में उसे आनन्द आने लगता है।

ने. : निश्चित संकल्प में से आनन्द का स्थायी स्रोत उत्पन्न हो सकता है।

बि. : स्थायी स्रोत स्थितप्रज्ञता में होता है। स्थितप्रज्ञ की जो स्थिति है, वह इस कलियुग में, इस पंचम काल में नहीं है; क्योंकि स्थितप्रज्ञ दशा आने के बाद वह इसी दशा में मुक्त हो सकता है। उसके लिए ऐसी उत्कृष्ट एकाग्रता होनी चाहिये। सर्वोत्कृष्ट ध्यान के लिए उपयुक्त काया/संहनन होना चाहिये।

ने. : संहनन की बात आपने कही, यह तो पारिभाषिक शब्द है। बहुत से पाठक इसे समझ नहीं पायेंगे।

बि. : संहनन से तात्पर्य है, शरीर की शक्ति। विभिन्न आदमियों से बोझ उठाने का कहने पर कोई एक किलो उठायेगा, तो कोई पाँच। अमुक आदमी से एक मन का बोझ उठाने का कहने पर वह कैसे उठा सकेगा? मन को एकाग्र करने के लिए बहुत बड़ी शक्ति यानी आत्मबल चाहिये, जो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार होता है। बरसात में पापड़ मुखाने की इच्छा करते हैं, तो धूप की प्रतीक्षा करनी पड़ती है; इसीलिए ध्यान की प्रक्रिया में प्रारम्भिक अवस्था में जो एकाग्रता चाहिये, वह शास्त्र में बताया गयी है, उसे कर सकते हैं। जैसे, धोबी कपड़े को साफ करने के लिए बार-बार धोता है, स्वच्छ होने तक समय की प्रतीक्षा करता है; किन्तु ऐसा भी नहीं है कि केवल संहनन से ही सब कुछ होगा।

ने. : पुरुषार्थ भी करना होगा।

बि. : पुरुषार्थ भी है। संहनन एक निमित्त, कारण है। निमित्त मिलने पर ही कार्य की सिद्धि होती है। केवल संहनन हो, तो कार्य की सिद्धि हो गयी, ऐसा नहीं है। उसकी धर्मध्यान में रुचि नहीं है, उसका ऐसा लक्ष्य नहीं है, तो उसे आत्मोपलब्धि कैसे होगी? इसीलिए काललब्धि कहिये या समवाय जो है, वह सब साथ होना चाहिये।

एक सामान्य दृष्टान्त देता हूँ; जैसे, आपको रेडियो सुनना है। यदि रेडियो स्टेशन बन्द हो, तो आप सुन नहीं सकेंगे। रेडियो स्टेशन शुरू है, लेकिन यदि आपका रेडियो खराब है, तो भी सुन नहीं सकेंगे। यदि रेडियो स्टेशन शुरू है, रेडियो भी ठीक है, किन्तु बिजली नहीं है, तो भी आप सुन नहीं सकेंगे। और यदि तीनों ठीक हैं, लेकिन कान

ठीक नहीं हैं, तो भी सुन नहीं सकेंगे। चारों ठीक होने पर भी यदि आपको उस भाषा का ज्ञान नहीं है, तो समझ नहीं सकेंगे। इस तरह भाषा का जानना, कान का ठीक होना, बिजली होना, रेडियो स्टेशन शुरू होना, और रेडियो ठीक होना—इन पाँचों का समवाय मिलने पर ही आपको अपने इष्ट की सिद्धि हो सकती है।

ऐसे क्षेत्र में जहाँ पशु-पक्षी ही रहते हैं, धर्म-कर्म का कोई साधन, उपदेश देने वाला न हो, वहाँ यदि आप पहुँच जाएँ, तो वहाँ खा-पीकर जीवन व्यर्थ/निष्फल हो जाएगा; इसलिए उपयुक्त समवाय होना चाहिये।

ने. : नहीं तो फिर जैसे पाषाण पर तीर गिरता है, वैसी स्थिति हो जाएगी।

वि. : कार्तिकेयानुप्रेक्षा में बताया गया है कि श्रावक को धर्मध्यान कैसे होता है ?

धम्ममे एयग्गमणो, जो ण वि वेदेदि पंचहा बिसयं ।

बेरग्गमओ णाणी, धम्मज्झाणं हवे तस्स ॥ (का., 477)

(जो पुरुष ज्ञानी धर्म में एकाग्र मन हो प्रवर्त्त पाँचों इन्द्रियों के विषयों को नहीं वेदे और वैराग्यमयी हो, उस ज्ञानी के धर्मध्यान होता है ।)

अर्थात् पाँचों इन्द्रियाँ बहिर्मुख हैं—कान बाहर की वस्तु को सुनता है, आँख बाहरी वस्तु को देखता है, नाक बाह्य वस्तु को सूँघती है, स्पर्श भी बाहर, जबान बाहर की वस्तु का सेवन करती है। इसी तरह इन्द्रियों के जो विषय हैं, वे रागात्मक बाह्य हैं; लेकिन ध्यान में आत्मा में डुबकी लगानी पड़ेगी। पाँचों इन्द्रियों के जो बाह्य विषय हैं, उन्हें पहले त्यागना होगा ऐसा होने पर ही वैराग्य की भावना होगी, और आत्मा का ध्यान संभव होगा।

धर्मध्यान में प्रतीक शुद्ध होते हैं, जिन्हें हम शुद्धोपयोग कहते हैं। शुभोपयोग और शुद्धोपयोग दोनों सहचारी हैं। शुद्धोपयोग का जो अंश है, वह वीतराग भाव होने के कारण ध्यान के लिए उपयोगी है।

ने. : आपने यह बहुत अच्छा विषय उठाया। शुद्ध और शुभ उपयोग के अन्तर को स्पष्ट कीजिये।

वि. : जैसे, दीपक पर आप सोने या लोहे का ढक्कन ढँक दें, अँधेरा होगा ही। आप यह अवश्य कह सकते हैं कि यह सोने का और वह लोहे का अँधेरा है। ढक्कन कोई-सा भी हो, अन्धेरा हो गया। इसी प्रकार आत्मा के साथ पुण्य-पाप प्रकृति के कारण वह मुक्त नहीं हो सकता है। उपनिषद् में भी एक स्थान पर ऐसी बात कही गयी है :

वासना द्विविधा प्रोक्ता शुद्धा च मलिना तथा ।

मलिना जन्म हेतु स्यात् शुद्धा जन्म विनाशनि ॥

शुभ और अशुभ—दोनों एक हैं, वे मलिन हैं। वे आत्मा को भी मलिन करते हैं। वासना चाहे शुभ हो या अशुभ—दोनों वासना तो हैं ही। वासना को त्यागना ही शुद्धोपयोग है।

ने. : एक लोहा है, एक स्वर्ण है ।

बि. : हाँ । एक लोहे की बेड़ी है, एक सोने की बेड़ी है । बेड़ी डालने के बाद आप बाहर कैसे जा सकते हैं ?

ने. : दोनों हैं तो बेड़ियाँ ही ।

बि. : आप बन्धन में पड़े रहेंगे । पुण्य और पाप दोनों ही बेड़ियाँ हैं— शुभ और अशुभोपयोग — दोनों ही बेड़ियाँ हैं; इसलिए कहते हैं, यद्यपि शुभोपयोग और पुण्य प्रकृतियाँ ऊपर-ऊपर के गुणस्थान तक रहती हैं; तेरहवें गुणस्थान में भी पुण्य रहता ही है; तथापि उस पुण्य को छोड़ने के बाद ही आत्मा मुक्त हो सकता है । गुड़ मीठा है, तो अधिक मीठा खाना भी घातक है । धन अधिक हो गया और दुर्ब्यसनों में पड़ गया, तो सारा वैभव दुःख का कारण बन सकता है; इसीलिए आचार्यों ने पहले धर्म-ध्यान के लिए अशुभ-शुभ दोनों को छोड़ना बताया है; लेकिन क्रम में पहले अशुभ छोड़ा जाएगा, इसलिए कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं— संवर का धर्म क्या है, अर्थात् निर्जरा हो या संवर, उसका क्रम है । राग-द्वेष न करे और पाँचों इन्द्रियों का संवर करे । वे 'वारसाणपेक्खा' में कहते हैं :

सुहजोगस्स पवित्ति संवरणं कुणदि असुह जोगस्स ।

सुहजोगस्स निरोहो सुद्धुवजोगेण संभवदि ॥

(वा., 63)

(शुभयोग की प्रवृत्ति अशुभ योग का संवर करती है और शुद्धोपयोग के द्वारा शुभयोग का निरोध हो जाता है ।)

अर्थात् यह क्रम है; पहले अशुभ को छोड़ना होगा ।

ने. : यानी अशुभ बड़ा दरवाजा है, वह बाहर का गेट है, उसे बन्द करना ही होगा; फिर दूसरा दरवाजा शुभ का है, उसको बन्द करने के बाद ही मुक्ति है । वह ध्रुव मार्ग है ।

बि. : शुद्ध आत्मा की प्राप्ति के लिए शुभोपयोग एक साधन है । आत्मा के शुद्ध परिणामों को बनाये रखना, अपने शुद्ध स्वभाव में देखना, उसी में रम जाना ही शुद्धोपयोग है ।

ने. : उपयोग का अर्थ ध्यान होता है ?

बि. : हाँ । उपयोग का अर्थ ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग है । आप कहते हैं, इस चीज का क्या उपयोग है ? यह कपड़ा पीछने के लिए या किताब रखने के लिए है । उपयोग एक सामान्य शब्द है । आत्मा के दो ही उपयोग हैं—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग । आत्मा ज्ञाता और दृष्टा है । यह आत्मा का स्वभाव है । प्रत्येक आत्मा ज्ञान और दर्शन दोनों से संपन्न है । दर्शन यानी पहले देख लेना—सामान्य अवलोकन

और ज्ञान अर्थात् उसी आकार-प्रकार आदि का चिन्तन करना। इस प्रकार ज्ञान-दर्शन दोनों उपयोग आत्मा के अनन्य गुण हैं।

ने. : यदि उपयोग और ध्यान दोनों को एक ही मान लें, तो कैसे-क्या ?

वि. : उपयोग और ध्यान। ज्ञान-चेतना एक है, अर्थात् उसे अपने आत्मा में अनुभूत हो कर जब भेद-विज्ञान होगा, तब सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी; ऐसा आत्मा के ज्ञान-चेतना से युक्त होने से होगा। आत्मा ज्ञान-चेतना से युक्त है।

ने. : यह चेतना का फल हुआ।

वि. : नहीं। ज्ञान-चेतना का यह फल नहीं है। ज्ञान-चेतना में रम जाना ही ध्यान है। अपने शुद्ध स्वभाव में आना/होना ही ध्यान है।

ने. : इसे आत्मरमण कह सकते हैं ?

वि. : हाँ; इसीलिए ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग — यह स्वयं आत्मा का ही स्वभाव है।

ने. : यह आत्मा से तादात्म्य है, तद्रूप है।

वि. : धर्मध्यान की एक परिभाषा करते हुए देवसेनाचार्य 'भावसंग्रह' में कहते हैं :

अहवा बत्थु सहावो धम्मं बत्थु पुणो ण सो अप्पा ।

ज्ञायंताणं कहियं धम्मज्जाणं मुणिर्देहि ॥

(भा., 373)

(वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं तथा वस्तुओं में और पदार्थों में मुख्य पदार्थ आत्मा है, इसलिए उस आत्मा का ध्यान करना तथा उसके शुद्ध स्वरूप का चिन्तन करना धर्मध्यान है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।)

अर्थात् सरल भाषा में कहें, तो वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। जो वस्तु जिसका स्वभाव है, वह उसका अपना धर्म है तथा वस्तुओं में जो परमार्थ है, वह मुख्य वीतराग आत्मा ही है; यह जैनधर्म की अन्तिम परिभाषा है, इसलिए उस आत्मा का ध्यान करना, उसके स्वरूप का ध्यान करना धर्मध्यान है; ऐसा तीर्थंकरों ने कहा है।

ने. : वस्तुस्वरूप का चिन्तन ध्यान है।

वि. : उस वस्तु का जिसमें कोई भी विकृति नहीं है; जो वस्तु का मूल स्वभाव है।

ने. : ऐसी वस्तु की मौलिकताओं का चिन्तन करना।

वि. : मौलिक और परिशुद्ध का चिन्तन करना। अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं, द्रव्यदृष्टि से मेरा आत्मा शुद्ध है, वर्तमान पर्याय में नहीं। परमशुद्धि के लिए मैं ध्यान करता हूँ, स्वाध्याय करता हूँ, अथवा मैं व्याख्या करता हूँ; कि 'इन सब में एकाग्र हो कर सिद्ध भगवान्-जैसी मेरी विशुद्धि हो'।

ने. : लेकिन ध्यान में शुद्धांश आता है।

वि. : वह प्रारम्भिक अवस्था में है। जब मनुष्य इस अवस्था — चौथे गुणस्थान में — ध्यान करेगा, तब आंशिक शुद्धि ही होगी।

ने. : अंश के माध्यम से अंशी तक पहुँचा जा सकता है।

वि. : हाँ।

ने. : जैसे बिन्दु से सिन्धु।

वि. : यह दृष्टान्त नहीं दे सकते; क्योंकि सिन्धु में प्रत्येक परमाणु स्वतन्त्र रहता है। आत्मा अखण्ड है, इसलिए दृष्टान्त वैसा ही देना चाहिये; यद्यपि दृष्टान्त भी एकदेशीय ही होते हैं। जैसे, सिद्धचक्र पाठ में कहा है :

नामकर्मक्षयापन्नं अणुरूपं जिनेश्वरम् ।

हे भगवन्, आप अणु-जैसे अखण्ड हैं, अणु-जैसे शुद्ध हैं; वैसे ही मेरा आत्मा भी ज्ञान और दर्शन से अखण्ड है, शुद्ध है — इस तरह ध्यान करने के लिए शास्त्रों में कहा है। यह जो उत्तम धर्मध्यान होता है, वह किसे होता है, कैसे होता है, इसके विषय में 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' का एक स्वतन्त्र चिन्तन है :

वज्जियसयलवियप्पो, अप्पसरूवे मणं णिहंत्तो ।

जे चित्ति साणवं तं धम्मं उत्तमं ज्ञाणं ॥

(का., 480)

(जो समस्त अन्य विकल्पों को छोड़ आत्मस्वरूप में मन को रोक कर आनन्द सहित चिन्तन करता है, उसे उत्तम धर्मध्यान होता है ।)

उपादान-शक्ति होती है आत्मा की; जैसे, मिट्टी में घड़ा घड़ने की शक्ति है, वह घड़ेगी। इसी तरह से आत्मा में निकट भव्यपना है, परमात्मा होने की उपादान-शक्ति है, इसे पहचान लेना भी बहुत जरूरी है। आचार्य 'द्रव्यसंग्रह' में कहते हैं :

यस्तु शुद्ध द्रव्य शक्तिरूपः शुद्धपारिणामिक परमभावलक्षण परमनिश्चय मोक्षः स च पूर्वमेव जीवे तिष्ठतीदानों भविष्यतीत्येवं न ।

(द्र. सं.वृ., गा 57)

(जो शुद्ध द्रव्य शक्ति-रूप शुद्ध पारिणामिक परमभाव-रूप लक्षण का धारक परम निश्चय मोक्ष है वह तो जीव में पहले ही विद्यमान है; वह परम निश्चय मोक्ष जीव में अब होगा, ऐसा नहीं है ।)

जैन शास्त्रों में जो पाँच भाव माने गये हैं वे जड़ पदार्थों में नहीं होते हैं ।

ने. : वे कौन-कौन से हैं ?

वि. : औदयिक, उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक और पारिणामिक ।

जीव के जो औदयिक भाव होंगे, वे संसार के कारण हैं। उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक भाव मोक्षमार्ग के कारण हैं। पारिणामिक भाव परमात्मा और सिद्ध भगवान्

में होते हैं। वे न मुक्ति के कारण हैं और न संसार के कारण हैं। पृथक्-पृथक् आत्मा के ये अपने भाव होते हैं, जिनको परिणामिक भाव कहते हैं, ये केवल परमात्मा में होते हैं और सत्तारूप में ये समस्त जीवों में होते हैं; लेकिन वर्तमान में सिद्ध भगवान् में होते हैं। इन्हें 'निष्क्रियः पारिणामिकः' इसलिए कहा, क्योंकि कर्मों के पुण्य-पाप को ग्रहण करने की जो क्रिया थी, वह खतम हो गयी। ये शुद्ध आत्मा के पारिणामिक भाव हैं।

ने. : ध्यान और योग जो शब्द काम में आते हैं, क्या इन्हें हम पर्यायवाची शब्द के रूप में काम में ले सकते हैं ?

वि. : शास्त्रों में अनेक पर्यायवाची शब्द ध्यान अथवा योग के विषय में बताये गये हैं। हमारे देश में कमल के लिए कितने शब्द हैं :

कमलं नलिनं पद्मं सरोजं सरसिरुहं खरदण्डं कोकनदं ।

पुण्डरीकं महोत्पलं इंदीवरं च नीलेस्मिन् सिते कुमुदकरवे ॥

इसी तरह साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, शुद्धोपयोग — ये शब्द एकार्थवाचक हैं। साम्य का अर्थ है समता; रागद्वेष-रहित/स्वास्थ्य आत्मस्थिति—आत्मा में निराकुल स्थिति ।

ने. : यहाँ मैं व्यवधान कर रहा हूँ; जैसे देह के आरोग्य के लिए औषधियाँ हम काम में लेते हैं, उसी तरह से मन और वाणी को निर्दोष बनाने के लिए उपयोग करते हैं। ध्यान का उपयोग हम आत्मा के स्वास्थ्य के लिए करते हैं।

वि. : एक शरीर का रोग होता है; गाली देना वचनों का रोग है। एक मानसिक रोग है जिसें भाव-रोग भी कहते हैं। भव-रोग मंचार-चक्र में फँसना है; और भावरोग परिणाम की अशुद्ध स्थिति है।

ने. : आपने तीन रोग बताये। पहला, देह से सम्बन्धित; दूसरा, वाणी से सम्बन्धित और तीसरा, भाव से सम्बन्धित।

वि. : इसलिए इस भव-रोग से मुक्त होने के लिए परिणामों को स्वस्थ रखना बहुत जरूरी है। 'योगक्षेम' पूछा जाता है। 'योग' का मतलब यहाँ मन-वचन-कार्य और क्षेम का मतलब उनकी पवित्रता, सुरक्षा आदि से है।

ने. : आपने बहुत अच्छा शब्द काम में लिया—परिणामो का स्वास्थ्य। इसका मतलब ?

वि. : अपने परिणामों में किसी भी प्रकार का दुःख, राग-द्वेष न हो। किसी भी दुःख में, राग-द्वेष में परिणामों की परिशुद्धि कम न हो।

ने. : इसका अंग्रेजी में अनुवाद करें, तो 'हाइजीन ऑफ थिंकिंग' (परिणामों का निर्मलता) हो जाता है। विचार को परिशुद्ध रखने की एक प्रक्रिया — स्वास्थ्य।

वि. : बहुत अच्छा । योग शब्द का अर्थ है, 'काययोग व्यापारस्य स्वास्थ्यम्'—मन-वचन-काय का जो व्यापार है, उसे आत्मसाक्षात्कार के लिए अर्थात् आत्मानुभव के लिए लगाना । 'सम्यक् आत्मानुशासनम्' मन-वचन-काय जो इधर-उधर भटक रहे हैं, उनको एक स्थान पर लगाना योग है । मन-वचन-काय, जो नाना तरह से इधर-उधर घूमते हैं, उन्हें रोक देना अर्थात् उन्हें एक स्थान पर स्थिर करना 'चित्त-निरोध' है । दृष्टान्त रूप में, बहिरंग में हम एक स्थान या लक्ष्य पर स्थिर करते हैं; जब कि अन्तरंग में झाँक कर अन्दर ही अवगाहन करना है ।

ने. : लक्ष्य पर स्थिर करना और अन्तरंग में अवगाहन करना ।

वि. : इसके आगे शान्तरस है । लोग कहते हैं, हमें शान्ति चाहिये; इसका मतलब होता है, शान्ति अन्दर है । शुभ और अशुभ उपयोग आत्मा का नहीं है, यह कर्म के कारण है । शुद्धीपयोग को ही ध्यान के लिए उपयोग में लेना चाहिये । शुभ और अशुभ — प्रवृत्ति-लक्षण हैं और शुद्ध निवृत्ति-लक्षण है । ध्यान में हमारा निवृत्ति-लक्षण की ओर पुरुषार्थ होता है । उसे आत्महित में लगाना है ।

ने. : प्रवृत्त करना है ।

वि. : संसार के समस्त पदार्थों से छुड़ा कर आत्महित में प्रवृत्त करना है । सामायिक में समताभाव ही मुख्य है । आचार्य कहते हैं :

सामाद्वयम्हि दु कदे समणो फिर सावगो हवदि जम्हा ।

एदेष कारणेण दु बहु सो सामाद्वयं कुज्ज ।।

(भाव-सामायिक में एकाग्र होने वाला श्रावक भी श्रमण (साधु) होता है, अतः जो श्रमण है, वह सामायिक में अतिशय स्थिर हो ।)

इस तरह दोनों ही अवस्था-प्राप्ति हेतु सामायिक आवश्यक है; चाहे श्रावक हो या साधु । ये तो देह से सम्बन्धित पर्यायवाची शब्द हैं; आत्मा न श्रावक है, न मुनि है, न पण्डित हैं, न विद्वान् है, आत्मा तो आत्मा ही है । इसलिए उस आत्मा में डुबकी लगाने का अधिकार गृहस्थ को भी आंशिक रूप में है, साधु को है ही । श्रमण-श्रावक अपने-अपने विशुद्ध भाव के अनुसार आत्मा में डुबकी लगाते हैं ।

ने. : सामायिक ध्यान ही है ?

वि. : हाँ; ध्यान ही है ।

ने. : मुनि में इसका सातत्य होता है ।

वि. : सामायिक का नियतकाल भी होता है; जैसे : सूर्योदय के पूर्व, मध्याह्न बारह बजे, शाम को । इसे नियतकालिक सामायिक कहते हैं । साधु जो ईर्ष्यापथ-निरीक्षण करते हैं, त्रियाशुद्धि के साथ भी कोई कीट आदि घबराये नहीं; उसे

तकलीफ/कष्ट न पहुँचे, क्योंकि अहिंसा आत्मा का स्वभाव ही है; यह अनियत-कालिक सामायिक है। 'सर्वार्थसिद्धि' में लिखा है :

ईर्यापथाद्यनियतकालम् ।

(स., 9/18)

ने. : इसका मतलब यह हुआ कि अनियतकालिक सामायिक मुनि ही कर सकता है ।

बि. : नहीं । गृहस्थ भी कर सकता है । जो त्रती है, वह भी देख कर चल सकता है । अप्रमत्त होना गृहस्थों के लिए भी आवश्यक है । अप्रमत्त हो कर चलना गृहस्थ के लिए भी जरूरी है । यदि गृहस्थ प्रमत्त होकर चले, तो साँप पर पैर पड़ जाने पर वह काट खाये; यह हम स्थूल रूप से कह रहे हैं । दूसरे जीवों को हमारे कारण / निमित्त पीड़ा/कष्ट न हो, यह इसलिए कि हममें कठणाभाव – अनुकम्पा है । छटे गुणस्थान में भी ऐसा कठणाभाव ठसाठस भरा होना चाहिये, तभी ध्यान हो सकता है ।

ने. : ध्यान क्या, कोई भी कर सकता है; उसके लिए किसी प्रकार की पात्रत, या उपादान की आवश्यकता नहीं है ?

बि. : शास्त्रों में उपादान-शक्ति के लिए निकट भव्य होना और मुक्ति की शक्ति होना – यह पात्रता है ।

ने. : निकट भव्यता का मतलब क्या है ?

बि. : निकट भव्यता का अर्थ है वह व्यक्ति जिसका थोड़ा-सा ही 'अर्द्धपुद्गल परावर्तन'-काल संसार-सागर में बचा हुआ है, इसके बाद वह मुक्त होने वाला है ।

ने. : यह क्या निश्चित हो जाता है ?

बि. : निश्चित क्या ? काललब्धि पा कर उसकी आत्मशक्ति धर्मध्यान से समझिये या सहज ही समझिये, परिपक्व हो जाती है ।

ने. : परिपाक बहुत आवश्यक है ?

बि. : हाँ ।

ने. : निकट भव्य को आसन्न भव्य भी कह सकते हैं ?

बि. : हाँ । सामान्यतः आसन्न भव्य जिनशक्ति मुख्यः । आसन्न भव्य होगा, वही वीतरागता का उपासक होगा, वही अपने आत्मा में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कर लेगा, जिसे सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो गया, वही धर्मध्यान का स्वामी हो सकता है । वही लोग परमात्मा हो सकते हैं ऐसा शास्त्रों में स्पष्ट रूप से लिखा है, जो शुद्ध द्रव्य शक्ति पारिणामिक भावधारक परममोक्ष है, वह तो पहले ही विद्यमान है, परन्तु निश्चय मोक्ष कब होगा, ऐसा नहीं है; लेकिन उसका विधिवत् परिपाक करने के लिए शास्त्रों में दृष्टान्त-रूप सोलह संस्कार करने की बात कही गयी है । धर्मध्यान द्वारा आत्मा में जो किट्टकालिमा अदि दोष हैं, उन्हें दूर करना भी मुख्य है ।

ने. : पात्रता में श्रद्धा की तो बहुत बड़ी भूमिका होनी चाहिये। श्रद्धा नहीं होगी, तो पात्रता का विकास कैसे होगा ?

चि. : हाँ। आत्मा पर श्रद्धा गुण का होना बहुत जरूरी है। मैं अजर-अमर हूँ— यह भावना बहुत जरूरी है। मैं अजर-अमर हूँ— यह भावना नहीं है, तो वह उसके लिए क्यों प्रयत्न करेगा ? यह संसार क्षणिक है, देह के साथ ही आत्मा भी नाश होने वाला है, ऐसी जिसकी कल्पना है, वह क्यों आत्मा की उपलब्धि के लिए प्रयास करेगा ? मुक्ति के लिए प्रयास अथवा धर्मध्यान वही करेगा, जिसको दृढ़ विश्वास एवं श्रद्धा है कि मेरा आत्मा अजर-अमर है; यह न जल से गीला हो सकता है, न शस्त्र से काटा जा सकता है, न अग्नि से जलाया जा सकता है, और न हवा से सुखाया जा सकता है। आत्मा चैतन्यपूर्ण है। ज्ञान-दर्शनमय है।

ने. : आस्था नहीं होगी तो ?

चि. : अब्खण्ड आस्था नहीं होगी, उसकी यथार्थ जानकारी नहीं होगी, तब तक वह धर्मध्यान के लिए अधिक पुरुषार्थ और प्रयत्न नहीं करेगा।

ने. : मुझे लगता है, ध्यान की प्रक्रिया में भी एक क्रम है। जैसे श्रद्धा है, रुचि है, वृत्ति है। इन पर भी कृपया प्रकाश डालिये। श्रद्धा से हम आरम्भ करते हैं। श्रद्धा भी एक प्रकार की रुचि है।

चि. : हाँ। फिर भी पर्यायवाची शब्दों में शास्त्रकारों ने कुछ-न-कुछ अन्तर अवश्य किया है। श्रद्धा, रुचि और प्रतीति - ये शुद्धज्ञान की पर्यायें हैं और जो चारित्र्य गुण की पर्याय है उसे स्वरूपाचरण चारित्र्य कह सकते हैं; क्योंकि शुभ कर्मों में मन-वचन-काय का जो व्यापार होता है, उसे सविकल्प स्वरूपाचरण चारित्र्य कहते हैं अथवा सम्यक् चारित्र्य भी कहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि श्रद्धा गुण रुचि बढ़ा सकता है।

ने. : क्योंकि रुचि बढ़ेगी, तो प्रतीति भी होगी।

चि. : हाँ। ऐसा होगा, तो वह अपने चारित्र्य गुण में रम जाएगा; इसलिए इस पंचमकाल में आचार्यों ने स्पष्ट रूप से धर्मध्यान के लिए कहा है; यद्यपि धर्मध्यान के पाँच भेद हैं : सामायिक, छेदोपस्थापना, पर्यायविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात। इस कलियुग में सामायिक और छेदोपस्थापना दो ही हैं। सामायिक को ध्यान अथवा योग कहिये, अपनी आत्मा में द्रव्यगुण-पर्याय से रम जाने को सामायिक कहेंगे।

ने. : यह ध्यान का प्रथम प्रकार है ?

चि. : हाँ। अपने आत्मा में अप्रमत्त होकर रम जाना है। छेदोपस्थापना में किसी व्रत में, परिणामों में, संबन्ध में टूट आने पर उन्हें दुबारा जोड़ना, गुण में पुनः स्थापित होना है; जैसे, कोई सूत कात रहा हो और वह टूट जाए, तो वह फिर जोड़ देता है; वैसे ही परिणामों में जोड़ देना, अपने चारित्र्य में जोड़ देना;

सम्यक् चारित्र्य अथवा भाव-चारित्र्य कभी-कहीं टूट जाए तो उसे जोड़ देना — यह छेदोपस्थापना है ; क्योंकि साधकावस्था में टूटना संभव है । जैसे, पुलिस सैनिक गोली-चालन का प्रशिक्षण ले रहा है, वह चूक जाता है; उसे बहिरंग शत्रु को मारना है। वह कई तरह के अभ्यास करता है। उसकी यह सारी साधना है, वह प्रैक्टिस (अभ्यास) करता रहता है, जब उसे निशाना सध जाता है, तो वह सफल होता है। इसी तरह साधकावस्था में नाना संकल्प-विकल्प चलते रहते हैं। अनन्त संकल्प-विकल्प हट कर एक ही संकल्प, एक ही ध्यान के लिए उसके मन में विचार होते हैं, यद्यपि वह भी संकल्प है।

ने. : यह असंदिग्ध संकल्प है।

वि. : हाँ। यह जो असंदिग्ध संकल्प है, वह मुक्ति के लिए कार्यरूप है : 'संकल्प कल्पवृक्षस्य'।

ने. : आप छेदोपस्थापना के बारे में बता रहे हैं; जैसे कोई झाड़ उखड़ गया, तो उसे फिर से भूमि में स्थापित करते हैं।

वि. : इसे इस तरह भी कह सकते हैं। कोई कहता है, यह व्रत मैं इसलिए नहीं ले रहा हूँ कि कभी टूट जाएगा। सोचने की बात यह है, रेल में बैठने पर वह गिर सकता है, हवाई जहाज में उड़ने पर भी वह गिर सकता है। फिर भी वह रेल, हवाई जहाज आदि की यात्रा नहीं छोड़ता। यदि व्रत में कोई बाधा आ जाए, तो उसके लिए प्रायश्चित्त है। उसके लिए उपस्थापना है। शास्त्रों में अनेक विधियाँ हैं। रोग होगा, इसलिए भोजन नहीं करूँगा। भोजन सँभाल कर करना, यह सावधानी की बात है; इसलिए छेदोपस्थापना को वह आगे बढ़ा सकेगा; यद्यपि मनुष्य के तीव्र कर्म का उदय होने से छेद भी हो सकता है, फिर भी वह अपनी श्रद्धा से विचलित नहीं होगा, अपने चारित्र्य गुण पर्याय को सतत् अविरत, अविच्छिन्न रूप से पालेगा। कभी किसी कारण से टूट जाए, तो उसे दुबारा जोड़ेगा। इस प्रकार सामायिक और छेदोपस्थापना ध्यान के कार्य हैं।

ने. : शेष तीन कौन-से रह गये ?

वि. : पर्यायविशुद्धि, मूक्षमसांपराय, यथाख्यात। तदनुरूप वज्र वृषभ नाराच संहनन चतुर्थकाल में या तद्भव मोक्षगामी के लिए होता है। पंचमकाल में यह सब संभव नहीं है, इसलिए उसकी चर्चा से विशेष लाभ नहीं है।

ने. : ध्यान में चारित्र्य की पूर्णता है, ऐसा उल्लेख मुझे देखने को मिला। कृपया इस पर थोड़ा विस्तार से बताइये कि क्या ध्यान में चारित्र्य पूर्ण हो सकता है; मुक्ति की ओर पैर उठ सकते हैं? क्या ध्यान के माध्यम से ही यह संभव है?

वि. : ज्ञान और श्रद्धा के संबन्ध में एक सामान्य दृष्टान्त है। अनेक वैद्य या डॉक्टर हैं; फिर भी रोगी किसी विशिष्ट वैद्य या डॉक्टर के पास जाता

है, जिस पर उसकी श्रद्धा है। वह डॉक्टर उसे ज्ञान करवाता है कि अमुक दवा को गरम पानी में लेना है। वह खाने-पीने में गरिष्ठ खाद्य को रोकने को बताता है। रोगी को यह ज्ञात हो गया कि अब गरिष्ठ पदार्थ नहीं खाना है; यह पथ्य पालना भी हो गया, क्योंकि निरोगी होने के लिए यह जरूरी है। वैसे ही चारित्र्य पथ्य है, उसे पाले बिना धर्मध्यान की पूर्णता नहीं हो सकती है।

ने. : धर्मध्यान की पूर्णता बिना चारित्र्य की पूर्णता के नहीं हो सकती। दोनों एक-दूसरे पर निर्भर हैं।

वि. : दोनों एक सिक्के के दो पहलू हैं, यह मानना चाहिये।

ने. : यदि दोनों एक ही सिक्के के अलग-अलग पहलू हैं, तो पहला पहलू ध्यान को मानें ?

वि. : हम चारित्र्य के लिए मानसिक रूप से आसक्ति का विसर्जन करके और विषयों को बाहर ही छोड़ कर अपने-आप को अन्तर्मुख करना सीखें, क्योंकि इन्द्रियजन्य विषय रागजन्य होने से बाहर के पौद्गलिक भाव को ही ग्रहण करते हैं। कर्ण शब्द को, घ्राणेन्द्रिय गंध को, जिह्वा रस को, स्पर्शेन्द्रिय कोमलता को और चक्षु सुन्दरता या रूप को ग्रहण करते रहते हैं। अधिकांश पशुपुत्र नश्वरता को प्राप्त कर ध्रुवता की ओर दौड़ लगा रहे हैं। अनश्वर आत्मा का विषय तो सम्यग्ज्ञान (ज्ञानचेतना) है। वही आत्मा का भोजन (ज्ञानामृत भोजनम्) अथवा आहार है। उसकी प्राप्ति अन्तर्मुख होकर ही जप, ध्यान, स्वाध्याय, संयम द्वारा संभव है, सुलभ है।

ने. : इसका मतलब यह हुआ कि जिसका जो विषय होगा, वही वह ग्रहण करेगा। इन्द्रियों का विषय इन्द्रियाँ ग्रहण करेंगी। आत्मा का विषय आत्मा ग्रहण करेगा।

वि. : अन्तर्मुख होना बहुत जरूरी है।

ने. : यह बहुत तर्कसंगत बात है। बहिर्मुखता इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त हो सकती है और अन्तर्मुखता ध्यान के माध्यम से। यही है मार्ग आत्मा तक पहुँचने का।

वि. : 'समयसार' में अमृतचन्द्राचार्य (टीकाकार) के अनुसार पृथक् आत्मा अर्थात् इन्द्रियों से पृथक् होकर आत्मा में स्थिर होना चाहिये। पृथक् आत्मा के अनेक अर्थ हैं। पृथक्ता की पूर्णता तो सर्वज्ञता में है। भगवान् ही पृथक् आत्मा हैं; बाकी सभी साधक आत्मा हैं। पृथक् आत्मा का अर्थ इन्द्रियों से आत्मा को अलग कर लेना अनिन्द्रियजन्य ज्ञान है। यदि इन्द्रियों के विषयों को हम अन्दर मन के भीतर ले जाएँगे, तो कोलाहल मच जाएगा। एक-एक इन्द्रिय के विषय में अन्दर उद्वेग हैं, चिन्ता है, दुःख है। इन सबको थोड़े समय के लिए ही सही, बाहर छोड़ना होगा, पृथक् आत्मा यानी इन्द्रियों से और संसार के सभी विषयों से आत्मा को पृथक् करने से हम स्व-समयी होते हैं, पृथक्-प्रत्यग् आत्मा होते हैं।

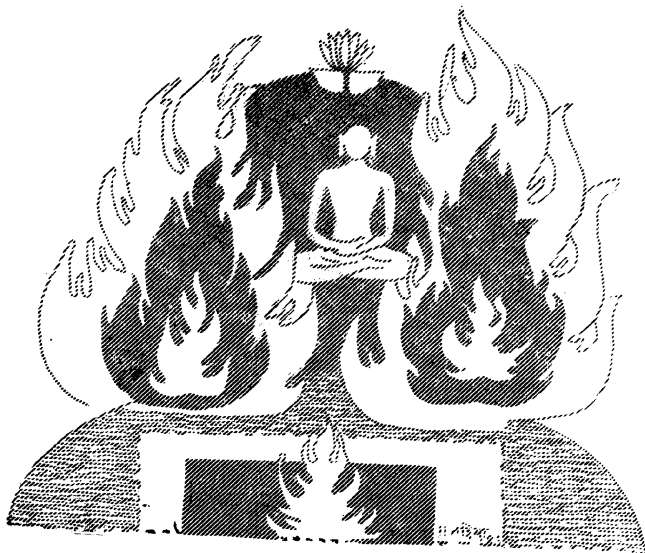
ने. : स्व-समयी होना यानी ध्यानस्थ होना है ।

बि. : स्व-समयी होना अपने आत्मा में स्थिर हो जाना है। 'समयसार' में शब्द हैं— समय और सार। समय के दो अर्थ हैं; एक, आत्मा और दूसरा, समय। इसलिए कुन्दकुन्दाचार्य ने व्यवहार के रूप में बताया है कि जितना समय हम अपने आत्मा के चिन्तवन में देते हैं, वही सार है; बाकी समय संसार है, निस्सार है। जितना समय आपने अपने आत्मा को दे दिया, वही सार है; शेष सब निस्सार— व्यर्थ है।

ने. : जो समय समय को दे दिया, वह सार्थक हो गया; बाकी गया सो गया, मुट्ठी खाली कर गया।

बि. : इस तरह समय शब्द का प्रयोग किया है। भविष्य का समय—क्षणकाल हमारे हाथ में है और भूत का जो बीत गया, वह हमारे काबू में नहीं है। यह क्षणभंगुर संसार है, इसलिए वर्तमान में हमने अपने आत्मा को जो जितना समय दे दिया, उतना ही सार है; लाभदायक है।

ने. : यह कहा जाए कि वर्तमान में रहना ही ध्यान है। मेरे ख्याल से यह ध्यान की बड़ी सार्थक परिभाषा होगी, क्योंकि वर्तमान में ठहरना बहुत मुश्किल है। भविष्य में मनुष्य विभिन्न विकल्पों में चला जाएगा।



वि. : वर्तमानकाल तो एकसमयवर्ती है। भविष्य बहुत बड़ा है। जितना वर्तमान में है, उतना समय ही आप देते रहेंगे, एक क्षण-भर भी यदि आप आत्मा में स्थिर रहते हैं या ध्यान करते हैं, तो असंख्य कर्मों की निर्जरा होगी। शास्त्रों में भी दो बातें कही गयी हैं : ज्ञानाग्नि सर्वकर्माग्नि भस्मसात् कुशते क्षणात् । बिना ज्ञान के हम कर्मक्षय नहीं कर सकते। जैसे साँप है, यह ज्ञात हो जाने पर हम दूसरे रास्ते से जाएँगे। काँटे हैं, तो हम दूसरे रास्ते से जाएँगे। इसी प्रकार जो ज्ञान-रूपी अग्नि है, वह भी कर्मक्षय की कारणभूत है। उसके साथ कहते हैं : ध्यानाग्नि सर्वकर्माग्नि भस्मसात् । जब ध्यान और ज्ञान — दोनों अखण्ड रूप से एकाकार निर्विकल्प हो जाते हैं तब कर्मों का निश्चित क्षय होगा।

दुनिया में जैसे गंगा का जल पवित्र है, उसमें भी दोष हो सकते हैं, उन्हें दूर करने के लिए अग्नि को काम में लाते हैं, लेकिन अग्नि को कैसे शुद्ध किया जाए ? अग्नि स्वयं शुद्ध है। फिर एक और अग्नि है सम्यग्ज्ञान। जो शुद्ध है; उसीका ध्यान करके हम कर्मों का क्षय कर सकते हैं।

ने. : इसीलिए अग्नि को ज्ञान का उपमान माना गया है।

वि. : इतना ही नहीं, वेदों में कहिये, कर्मकाण्ड के ग्रन्थों में कहिये, अग्नि ब्रह्मः—अग्नि ब्रह्मा के समान है। जैसे ब्रह्म परमात्मा पवित्र है, वैसे ही अग्नि पवित्र है। ब्याह-शादी में भी अग्नि को पवित्र मानते हैं। अग्नि कोई सांप्रदायिक भेद; जातिगत, पंथगत भेद नहीं मानती, वह तो साधु-संन्यासी का भेद भी नहीं करती। जो भी उसका स्पर्श करेगा, उसे वह जलायेगी।

ने. : अग्नि का काम ही है जलाना। फिर चाहे कर्म ही क्यों न हों, वे भी जल जाएँगे।

वि. : इसलिए जैसे अग्नि, जो भी उसका स्पर्श करता है, उसे जलाती है, कोई भेदभाव नहीं करती; उसी प्रकार जो भी ध्यान करेगा, उसके कर्म जल जाएँगे।

ने. : ध्यानाग्नि और ज्ञानाग्नि—ऐसे दो शब्द मैंने देखे हैं, तो क्या ज्ञान के माध्यम से ध्यान की अग्नि को प्रज्वलित किया जा सकता है ?

वि. : हाँ। उसकी विधि जानना जरूरी है। बिना विधि के ऐसे ही बैठ गये, तो कुछ नहीं होगा। हर चीज की सहायता के लिए क्रम है। जैसे, दुकान करना है, तो स्थान, सामान, तराजू आदि चाहिये। इसी प्रकार आसन है, मेरुदण्ड को ठीक तरह से रखना यानी आसन को विधिपूर्वक लगाना, अर्धोन्मीलित नेत्र यानी आँखों को आधा खोल कर नासाग्र दृष्टि रखना और आत्मा को द्रव्य-गुण-पर्याय रूप से ठीक तरह से जानना। वह चेतनमय है, ज्ञानमय है। ज्ञानचेतना क्या होती है ? कर्मफलचेतना, कर्मचेतना, ज्ञानचेतना। कर्मफलचेतना एकेन्द्रिय

निगोदकामी जीव हैं। संसार में द्वीन्द्रिय जीव से लेकर मनःपर्यायिज्ञानी तक कर्म-चेतना होती है और ज्ञानचेतना कर्म-भेद से चौथे गुणस्थान से लेकर सिद्ध परत्तमा तक होती है। उसके असंख्यात भेद हैं।

ने. : ज्ञानचेतना के ?

वि. : हाँ। ज्ञानचेतना जब तक कर्म-उपलब्धि स्वानुभव से नहीं करेंगे, तो ज्ञानाग्नि 'सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते क्षणात्' सार्थक नहीं हो सकती; इसलिए श्रुतज्ञान के साथ ज्ञानचेतना का अनुभव करना चाहिये। यह ज्ञानचेतना चौथे गुणस्थान से शुरू हो जाती है अतः चौथे गुणस्थान से ही ध्यान का स्वामी हुआ जा सकता है। उसके बाद पाँचवें और छठे गुणस्थान वाला भी है। वे तीन गुणस्थानी हैं, उन्हें उपचार से धर्मध्यानी माना है। अप्रमत्त गुणस्थान वाला ही मुख्य धर्मध्यान वाला माना गया है।

ने. : यदि देह को चिराग मान लें, तो ध्यान की अग्नि प्रज्वलित की जा सकती है; फिर तो प्रकाश-ही-प्रकाश है।

वि. : मिट्टी का आकार है देह जिसमें स्थित है ज्ञानज्योति। ज्ञानज्योति की लौ हवा लगने से हिलती-कँपती रहती है। उसके प्रकाश में भी कुछ चंचलता है। ध्यानदीप या ज्ञानदीप कहिये अथवा मन कहिये, में एकाग्रता आनी चाहिये। चारों ओर की हवा नहीं लगनी चाहिये; फिर वह अकम्प हो जाता है। इसी प्रकार से इन्द्रियों के द्वारा दुनिया में चारों तरफ से जो विषयरूपी हवा के झोंके आते रहते हैं, उन्हें रोक दिया जाए, तो मन अकम्प हो जाता है। जैसे, पानी है, उसमें हीरा पड़ा है। उसे हमें देखना है। वह हीरा कब तक दिखायी नहीं देगा, जब तक पानी की तरंगें उठ रही हैं। तरंगें उठना बन्द हो जाता है, तो पानी शान्त हो जाता है और हीरा दीख पड़ता है। इसी तरह मन में जब तक संकल्प-विकल्प की तरंगें उठती रहेंगी, तब तक आत्मा का दर्शन/अनुभव नहीं होगा और न एकाग्रता की सिद्धि हो सकेगी। एकाग्रता से अनन्त आनन्द की अनुभूति / उपलब्धि होती है।

ने. : एकाग्रता ?

वि. : हाँ। उस एकाग्रता में आत्मा को यथार्थ रूप से बहुत सूक्ष्म-से-सूक्ष्म में जानना जरूरी है। जो सम्यग्दृष्टि जीव होगा, वह ऐसा करेगा। कुन्दकुदाचार्य ने 'भावपाहुड़' में कहा है :

तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महानुभावो य।

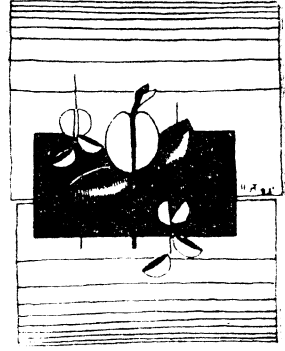
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ।।

(भा., 53)

तीर्थकर : अप्रैल ८३/७३

अर्थात् शिवभूति मुनि ने 'तुषमाष' भिन्न ऐसे शब्द रटते-रटते भावों की विशुद्धता द्वारा महानुभाव होकर केवलज्ञान पाया, यह प्रकट है। किस्सा है :

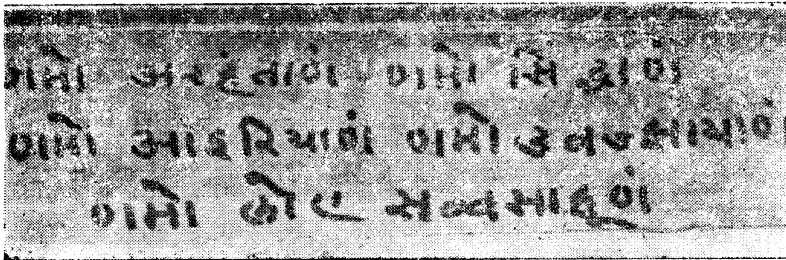
शिवभूति नामक एक सेठ था। उसने मुनि-दीक्षा ली। वह पैसे कमाने में बहुत चतुर था, परन्तु वह धर्मध्यान कुछ भी नहीं जानता था। आचार्यों ने उसे पढ़ाने का अनेक तरह से प्रयत्न किया, फिर भी वह भूल जाता था। तब उससे कहा कि दाल अलग, छिलका अलग; आत्मा अलग, शरीर अलग; बस,



इतना ही अल्प भेद-विज्ञान रटो। ऐसा लगातार रटते-रटते उसे आत्मबोध हो सका। अल्पज्ञानी भी मोक्ष जा सकता है। द्रव्यश्रुत छोटा-सा भी हो, भावश्रुत तो अनन्त है; इसलिए आचार्य कहते हैं, द्रव्यश्रुत छोटा-सा हो, भावश्रुत अनन्त है, फिर भी वह अल्पज्ञानी है अर्थात् जिस अल्पज्ञान में - श्रुतज्ञान में हमारे मोह का अंश नहीं है, तो हमें केवलज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। जैसे, हमारे पैर में काँटा है, तो हम तीव्र गति से नहीं चल सकेंगे, जब तक वह काँटा नहीं निकलेगा। मोड़ की जो शल्य है, उसके निकले बिना ध्यान नहीं होगा।

ने. : निष्कण्टक हुए बिना यात्रा नहीं हो सकती।

वि. : उसमें निरीह वृत्ति चाहिये या यों कहिये, निरीहता चाहिये। □ □



शुभ के बिना शुद्ध की कुल्हाड़ी उठेगी नहीं



डॉ. नेमीचन्द्र जैन : महाराजश्री, और भी ऐसे शाश्वत प्रश्न हैं; जैसे शुभ और शुद्ध शब्द हैं, जिन पर आपने कल प्रकाश डाला था। मैं समझता हूँ, इन दो शब्दों के कारण इधर की शताब्दी में बड़ी गलतफहमियाँ हुईं; बहुत भ्रान्तियाँ फैलीं; इन शब्दों को, इन विशेषणों को असंदिग्ध करना बहुत जरूरी है। इन्हें स्पष्ट करने के लिए आपने दो उपमाएँ सामने रखी थीं। एक कुल्हाड़ी की उपमा थी और दूसरी उपमा उस आदमी की थी, जिसका एक पैर भीतर और एक पैर बाहर है। शुभ और शुद्ध; शुद्ध और शुभ - इन दो शब्दों को, विशेषणों को समझाने के लिए इन दो दृष्टान्तों को विस्तार से बतायेंगे तो उत्तम होगा, हमारे पाठक उपकृत होंगे।

एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द : शास्त्रों में, पारिभाषिक शब्द हैं। 'जयधवला' में स्पष्टतया प्रतिपादित है कि चौथे, पाँचवें, छठे इत्यादि जो नीचे के गुणस्थान हैं, उनमें शुद्ध और शुभ दोनों परिणाम होते हैं। शुद्ध का अंश बहुत कम होता है और शुभ का अंश बहुत ज्यादा होता है।

ने. : अशुभ नहीं होता है ?

द्वि. : नहीं। इधर शुभ के परिणामों में से निकल नहीं रहे हैं और जितने शुद्ध परिणाम रागरहित हैं, उनसे निर्जरा भी हो रही है। ये दोनों साथ-साथ चलते हैं। इधर कर्म की निर्जरा हुई, उधर पुण्य कर्म का बन्ध भी हो सकता है; इसीलिए, आचार्यों ने शुभोपयोगी आत्मा को भी धर्मपरिणत आत्मा कहा है। पूजा,

अभिषेक, जाप आदि को परम्परा से मोक्ष का कारण माना गया है। मैंने जो कुल्हाड़ी का दृष्टान्त दिया था, वह इसलिए कि कुल्हाड़ी में धार जितनी तेज होगी, उतना ही अच्छा वह काटेगी; यहाँ कर्मों को काटने की बात है।

ने. : कुल्हाड़ी में एक धार वाला फल (हिस्सा) होता है और एक जिसमें मूठ/डण्डा लगा रहता है।

वि. : आप कहें कि हमें विशाल वृक्ष को काटना है, तो केवल मूठ/डण्डे से तो नहीं काट सकते हैं और सिर्फ कुल्हाड़ी लेकर बैठेंगे, तब भी नहीं काट सकते हैं। जिस तरह कुल्हाड़ी और उसकी मूठ/डण्डा दोनों साथ-साथ उपयोगी हैं, वैसे ही मूठ/डण्डा तो शुभोपयोग है और कुल्हाड़ी की जो धार है, वह शुद्धोपयोग है। जैसे कुल्हाड़ी के साथ दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, उसी तरह 'जयधवला' में वीरसेनाचार्य स्पष्ट कहते हैं कि शुभ और शुद्ध परिणामों से ही कर्मों का क्षय होगा—**सुह-सुद्धपरिणामेहि कम्मक्खयाभावे तक्खयाणु ववत्तिवो ।**

ने. : शुभ के बिना शुद्ध की कुल्हाड़ी उठेगी नहीं।

वि. : नहीं उठेगी। इस तरह शुभ और शुद्ध—दोनों एक अवस्था में होते हैं अर्थात् किसी को हम हेय नहीं कह सकते हैं। जब मन्दिर में प्रवेश करना है, तो एक पैर अन्दर होगा, दूसरा बाहर। दोनों पैर एक साथ अन्दर कैसे रखेंगे? इस दृष्टान्त में एक पैर शुभ है और दूसरा पैर शुद्ध है। शुभ का जो अंश है, वह हमें मोक्ष के लिए परम्परा से कारणीभूत है। इसलिए शुद्ध परिणाम ही हमारा मुख्य/मूल लक्ष्य है। शुद्धोपयोग अथवा स्वरूपाचरण चारित्र्य। शुद्धोपयोग की जो भूमिका है, उसमें अंशरूप शुभ और शुद्धोपयोग रहता है। इस पर भी ध्यान देना चाहिये कि जो शुद्ध परिणाम हैं, वे कर्मक्षय के कारणभूत हैं। जैनाचार्य कहते हैं: 'धर्मः शुद्धोपयोग स्यात्'। धर्म क्या है? वह तो शुद्धोपयोग ही है; परन्तु वहाँ शुद्धोपयोग की सिद्धि के लिए आचार्यों ने भी तपस्वियों के लिए एक बात कही है। उसे भी आपको थोड़ा-सा बता रहा हूँ। हमारे जो तीर्थंकर हुए, उनका जो लक्ष्य है, वह तो पूर्ण शुद्धोपयोग ही है—अत्यन्त भाव; फिर भी उसकी प्राप्ति के लिए वे जो आराधना करते हैं, नाना प्रकार के बहिरंग और अन्तरंग तप, उपवास आदि करते हैं, वे भी महत्त्वपूर्ण हैं।

ने. : पूजा आदि भी ?

वि. : गृहस्थों के लिए पूजा आदि है ही। कहने का तात्पर्य यह कि उस क्षायिक भाव को प्राप्त करने के लिए धार्मिक अवस्था में शुद्धोपयोग के लक्ष्य हैं; परन्तु वह सर्वथा शुद्धोपयोग में रम नहीं सकता है, इसके साथ शुभोपयोग भी होता है। जो उल्लूक्य है, उसकी प्राप्ति के लिए, उस दशा में भी व्रत-उपवास इत्यादि नाना प्रकार के जो बहिरंग-अन्तरंग तप हैं, उन्हें भी उसे करना पड़ता है।

ने. : क्षायोपशमिक को सरल शब्दों में समझा दीजिये ।

वि. : क्षायोपशमिक का अर्थ है जघन्य भाव । मैं एक सामान्य दृष्टान्त देता हूँ कि जीव के क्षायोपशमिक भाव कैसे होते हैं ? जैसे, मुनार की चिमटी, चिमटी में सोने का गहना है। वह बनाते समय उसे कभी अग्नि में डालता है, कभी हथोड़ी से पीटा है। वह ज्यादा मुड़ जाएगा, इसलिए ठण्डे पानी में डालता है। ठण्डे पानी में डालने से वह ठण्डा पड़ जाता है। फिर अग्नि में डालने से गरम हो जाता है। मुनार की चिमटी कभी अग्नि में, कभी पानी में। इसी प्रकार क्षायोपशमिक भाव हैं, वे कभी उपशम हो जाते हैं, कभी क्षय हो जाते हैं। उसके परिणाम कभी गरम और कभी ठण्डे हो जाते हैं। इस तरह एक-से परिणाम नहीं रहते। वे कभी शुद्ध और कभी शुभ होते रहते हैं।

ने. : और क्षायिक ?

वि. : क्षायिक जो है, वह तो बिलकुल निर्मल, सम्यक् है; ऐसा शास्त्रों में दृष्टान्त दिया है। जैसे, नदी का जो मलिन जल है, यदि उसे हम बतन में रखें और उसमें थोड़ी-सी फिटकरी डाल दें तो धीरे-धीरे उसका मैल नीचे बैठ जाता है, जल ऊपर से बहुत शुद्ध / साफ दिख पड़ता है; परन्तु उसकी मलिनता नीचे बैठी हुई है। इसी प्रकार परिणाम शुभ हो जाते हैं, जब वह नियम-व्रत आदि करता है। फिर जब संकल्प-विकल्प उठते हैं, तब मलिनता आ जाती है। इस तरह से जो शुभ भाव होते हैं, वे कर्मों को दबा-दबाकर ऊपर करते हैं। कर्म वहाँ से हटते नहीं हैं। जैसे, शत्रु को कोई दवाता है, तो वह दब जाता है, लेकिन फिर शक्ति बढ़ती है, तो आगे बढ़ता है। ऐसे ही वे कर्मशत्रु पुरुषार्थ के बल से दब तो जाते हैं, लेकिन वहाँ से हटते नहीं, नष्ट नहीं होते हैं।

ने. : यह तो लौकिकता-अलौकिकता का युद्ध है। विना संघर्ष के कुछ होता नहीं।

वि. : संघर्ष तो होता है।

ने. : सबसे पहला संघर्ष होता है ध्यान में शुभ और अशुभ के बीच। उसके बाद शुभ और शुद्ध के बीच। यदि शुद्ध विजयी हो जाए, तो हमारा झण्डा लहराने लगता है।

वि. : सही बात है।

ने. : ध्यान की प्रथम अवस्था हो गयी शुभ - शुभ और अशुभ में संघर्ष। द्वितीय अवस्था, हो गयी शुभ और शुद्ध में संघर्ष, और तृतीय अवस्था, हो गयी शुद्धोपयोग।

वि. : हमारे मन में मिथ्यात्व के जा भाव हैं, उन्हें हटाने के लिए ध्यान के द्वारा बहुत पुरुषार्थ करना चाहिये; जैसे, स्वाभिमानी स्वतन्त्र देश पर शत्रु का झण्डा लग जाता है, तो सेनापति और सेना तब तक दूसरा कुछ नहीं सोचते हैं, जब तक परतन्त्रता का झण्डा फेंक कर अपनी स्वतन्त्रता का झण्डा गाड़ न लें। इसी तरह हमारी आत्मा पर मिथ्यात्व ने झण्डा गाड़ रखा है, उसे उखाड़ कर जब तक हम फेंक नहीं देते, तब तक स्वातन्त्र्य - सम्यक्त्व की प्राप्ति कैसे होगी ?

ने. : पहले तो पता ही नहीं लगता है कि मिथ्यात्व का झण्डा गड़ा हुआ है। ध्यान से मिथ्यात्व के झण्डे की ओर हमारा कहीं-न-कहीं लक्ष्य बनता है कि उस झण्डे को उखाड़ फेंकना है।

वि. : जिस मिथ्यात्व के द्वारा हमारा आत्मा दुःखी है - इसका ज्ञान होगा, तभी उसको हटाने का प्रयत्न / पुरुषार्थ हम करेंगे।

ने. : आपने बहुत अच्छी बात कही कि भारत की आजादी का जो संघर्ष था, उसमें अंग्रेज यानी मिथ्यात्व और हम यानी गांधीजी का मोर्चा या पक्ष सम्यक्त्व था; और उसमें सम्यक्त्व की विजय हुई। जैसे भारतीय विजय वाहर हुई, वैसे ही हमें आन्तरिक आजादी प्राप्त करना है।

वि. : आचार्यों ने ग्रन्थों में ऐसा दृष्टान्त दिया है। जब मिथ्यात्व का उदय होता है, तब वस्तु-स्वरूप पर परदा पड़ जाता है। जब अज्ञान का उदय होता है, तब वह अ-तत्त्व को तत्त्व समझ बैठता है।

ने. : उसकी अतत्त्व में रुचि रहती है।

वि. : हाँ। अज्ञान में रुचि रहती है। जब उसे असंयम का उदय होता है, तब वह पंच पापों में रमण करता है। अतिरमण कहे, तो वह अन्नती हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य ही मुक्ति के कारण हैं और मोक्षमार्ग के कारण भी हैं। जिनमें यह अखण्ड अनुभव होता है, वे कर्मों का क्षय कर सकते हैं। जब तक वह खण्ड-खण्ड है, तब तक शुद्धोपयोग अंशतः रहता है।

ने. : ध्यान के जो पदस्थ आदि भेद हैं, उन पर भी हम थोड़ा विचार करें, जो गृहस्थ है, वह एकदम सूक्ष्मताओं की ओर यात्रा नहीं कर सकता। कहीं धीरे से उसकी स्थूल पकड़ होगी, तभी वह ध्यान पर जाएगा। मैं सोचता हूँ, ध्यान का आरम्भ पदस्थता से ही होता है।

वि. : हाँ। बात यह है; जैसे, बालक होता है, तो वह तीन पहिये की गाड़ी पकड़ कर चलता है। जब वह स्वयं स्वतन्त्र चलना शुरू कर देता है, तब उससे कहे, अब तीन पहिये की गाड़ी पकड़ो, तो वह नहीं पकड़ेगा।

ने. : आपने तीन पहिये बहुत अच्छा कहा; क्योंकि अशुभ, शुभ और शुद्ध-ये तीन पहिये हो गये। तीन फिर धीरे-धीरे दो और फिर एक।

वि. : हाँ। तीन पहियों का वह तब तक सहारा लेता है, जब तक वह स्वतन्त्रतापूर्वक चल नहीं सकता। इसी तरह हमारा मन जब तक निरवलम्ब होकर विचरता नहीं है तब तक किसी-न-किसी मन्त्र का हमें आलम्बन लेना होगा; इसीलिए आचार्यों ने पदस्थ मन्त्र वाक्यस्थम्—एक छोटा-सा वाक्य णमो अरहंताणं दिया।

ने. : यह भाषा से संबन्धित हो गया।

वि. : पदस्थ जो है, वह भाषा से संबन्धित है—शुद्धात्मक और भावात्मक। जैसे, द्रव्यपूजा और भावपूजा। भाव को बनाये रखने के लिए शुद्ध पौद्गलिक शब्दों का भी सहारा लेना होता है। जैसे कुन्दकुन्दाचार्य ने साधना-प्रधान ग्रन्थ 'नियमसार' में स्पष्ट शब्दों में कहा है : 'जाणदि पस्सदि सव्वं सोऽहं इदि चित्ते णाणी'।

(हे ज्ञानी पुरुष, सोऽहं-सोऽहं करके ध्यान कर। तू ज्ञाता-दृष्टा है, तू अनन्त शक्तिशाली है, केवलज्ञानी है।) ज्ञानी पहले से ही 'सोऽहं-सोऽहं' करके ध्यान करते हैं। उसमें जब ज्ञानी स्थिर हो जाता है, तब वह शुद्धोपयोग की तरफ बढ़ जाता है। यह पदस्थ ध्यान है। जो शुद्धोपयोग की ओर पैर रखने की शुरुआत कर देता है।

ने. : क्या पूजा भी पदस्थ ध्यान है? क्या पदस्थ ध्यान के अन्तर्गत हम पूजा को ग्रहण कर सकते हैं?

वि. : भगवान् का अभिषेक देखना, मन्त्रों के साथ पूजा बोलना, सिद्धचक्र पाठों को बोलते हुए पूजा करना इत्यादि के साथ भी हम एकाग्र हो जाते हैं। यह भी भाव आत्मरुचिरूप पदस्थ ध्यान है।

ने. : पदस्थ ध्यान में भाषा तो आती ही है।

वि. : उसमें भाषा और भाव—दोनों हैं। मन्त्र आदि का जो ध्यान है, उसे 'भावपूर्वक' पढ़ना भी तो पदस्थ ध्यान है।

ने. : पदों का जो उपयोग हमें एकाग्रता की ओर ले जाए, वह ध्यान कहलायेगा। यदि पूजा हमारा वह उद्देश्य पूरा करती है, तो वह पूजा भी पदस्थ ध्यान के अन्तर्गत आ सकती है।

वि. : बिलकुल ठीक। कोई पूजा हो, जाप हो, स्तुति-स्तोत्र हो—उसे आसन लगा कर एकाग्रता से भावपूर्वक बोलते हैं, वह भी पदस्थ ध्यान है। शुद्ध परमाणु का चिन्तन भी ध्यान है। फिर जो भी आलम्बन हो, किसी भी शुद्ध पदार्थ का हो। जब हम—णमो अरहंताणं का भावपूर्वक चिन्तन करते हैं, तब वह भी पदस्थ ध्यान ही है।

ने. : यहाँ (कोथली में) सिद्धचक्र विधान चल रहा है। क्या यह भी पदस्थ ध्यान के अन्तर्गत आता है ?

वि. : उसके मन्त्रों में सिद्धों के गुणों का वर्णन है। जैसे मध्य में आ गया 'ॐ ह्रीं श्रीं हिरण्यगर्भाय नमः' यह भगवान् आदिनाथ का एक नाम है, जो इस सिद्धचक्र पाठ में आ गया है। उधर महाभारत में कहा है :

'हिरण्यगर्भः योगस्यवेत्ता नान्यः
पुरातनाः ।'

ने. : योग के प्रथम वक्ता भगवान् आदिनाथ हैं।

वि. : लोक और परलोक दोनों को प्रशस्त करके बतलाने वाले आदिनाथ हैं— 'हिरण्यगर्भ'।

ने. : 'हिरण्यगर्भ' का अर्थ क्या है ?

वि. : इसका अर्थ है, माता के गर्भ में रहते ही जिनके घर में स्वर्ण की वृष्टि होती है, तो उनकी माता हिरण्यगर्भा है, उनके निमित्त से समृद्धियाँ बढ़ गयीं, उनकी वृष्टि हो गयी, इससे जन्म से ही उनका 'हिरण्यगर्भ' नाम रखा।

ने. : पदस्थ ध्यान के अन्तर्गत 'ॐ' पर प्रकाश डालिये।

वि. : हमारे शास्त्रों में 'ॐ' को 'प्रणव' भी कहा है। यह बीजाक्षर मन्त्र है। यह सर्वकामफल-प्रदायक है— धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष— चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए कारणीभूत है। ॐ के ध्यान का महत्त्व दर्शाने वाला यह मंगलाचरण है :

ॐकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।

कामदं मोक्षदं चैव ओंकाराय नमोनमः ॥

ॐ को प्रणव इसलिए कहा कि वह प्र+णव हमेशा ताजा रहता है। इस प्रकार ॐ बीजाक्षर मन्त्र है और पदस्थ ध्यान है। 'ह्रीं' शब्द माया बीजाक्षर है। और 'भवबन्धविमोचनायते' भी है। 'ह्रीं' शब्द में चौबीसों तीर्थकर आ जाते हैं।

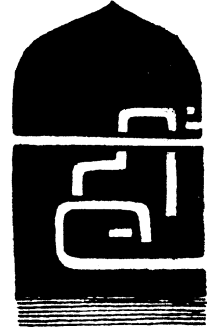
ने. : 'ह्रीं' को आपने माया बीजाक्षर कहा और 'भवविमोचक' भी कहा ; यह क्यों ?

वि. : इसे आजमाया गया है। यह इसलिए भी कहा, चूँकि संसार के जो माया-मोह हैं, उन्हें दूर करने की शक्ति भी यह रखता है। यह माया को वशीभूत कर सकता है। माया में मोह, ममता आदि आ गये।

ने. : वशीभूत करने वाला होने से माया बीजाक्षर कहा।

वि. : फिर 'श्रीं' है, वह ब्रह्मश्रुत पद है। 'श्रीं' का ध्यान करने से मन का

जो क्षोभ है, चंचलता है, उसे दूर करने में यह समर्थ है। यह 'श्री' सुख देने वाला है। 'ह्रीं' कल्याणवाचक है; जबकि 'श्रीं' शान्तिवाचक है। 'ॐ ह्रीं श्रीं नमः' के उच्चारण से बहुत आनन्द पैदा होता है, क्योंकि 'नमः' के उच्चारण-मात्र से अहंकार का विसर्जन होता है। इससे अहंकार का विसर्जन और आनन्द की प्राप्ति होती है। जैसे, हम गुरुओं के पैर छू लेते हैं; तो आनन्द होता है; जैसे, माता-पिता के पैर बच्चे पड़ते हैं, तो उन्हें आनन्द होता है वैसे ही इस 'नमस्' शब्द में अहंकार का विसर्जन है। जो मानकषाय है, वह सम्यक् दृष्टि में नहीं होती, मिथ्यादृष्टि में होती है। सम्यग्दृष्टि का यह लक्षण है कि वह अहंकार का विसर्जन करे। अहंकार का जहाँ विसर्जन हुआ, वहीं से ध्यान का शुभारंभ है। अहंकार के विसर्जन के बिना ध्यान नहीं हो सकता, इसलिए 'नमः' मद पूर्ण आनन्द का कारण है। जब हम बोलते हैं 'स्वाहा' तो इसमें जो शक्ति है, उससे आत्मा की शक्ति बढ़ जाती है। इसमें आत्म-शक्ति को दर्शाया जा सकता है। 'स्वाहा' शब्द आत्मवाचक है।



ने. : कुल मिला कर मन्त्र हुआ—'ॐ ह्रीं श्रीं नमः'।

वि. : 'ॐ'—पंचपरमेष्ठीवाचक है; और यह 'प्रणव' है, इसमें 'सर्व काम-फलप्रदाय' मोक्ष गर्भित है।

ने. : 'ह्रीं' से ?

वि. : 'ह्रीं' कल्याणवाचक है।

ने. : यह स्वस्तिवाचक शब्द है। 'श्रीं' ?

वि. : 'श्रीं' मन की चंचलता को शान्त करता है।

ने. : 'नमः' शब्द अहंकार को विसर्जित करता है।

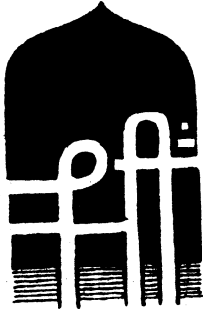
वि. : अहंकार को विसर्जित कर आनन्द उत्पन्न करता है। जब हम अपने गुरु को नमस्कार करते हैं, तो आनन्द होता है कि आज हमने अपने गुरु का दर्शन किया। इसी प्रकार जब तीर्थंकर के मन्दिर में जा कर भगवान् की मूर्ति का दर्शन करते हैं, तब मन में आनन्द उत्पन्न होता है।

ने. : 'स्वाहा' आत्मवाची है।

वि. : हाँ। आत्मा को दर्शाता है।

ने. : आत्मबोधक है। इस तरह यह सारा मन्त्र अद्भुत चमत्कार उत्पन्न कर सकता है। इससे कल्याण की ओर हमारा ध्यान जाता है।

तीर्थंकर : अप्रैल ८३/८१



वि. : हाँ। एक छोटा-सा पद मैंने पहले भी बताया था—सोऽहं इति शक्तिः जैसे, 'रिएक्टर' से शक्ति चार्ज (उत्पन्न) करते हैं, वैसे ही 'सोऽहं' परमात्मा के ध्यान से आत्मा की शक्ति बढ़ जाती है।

ने. : 'सोऽहं' का अर्थ हुआ—'वह मैं हूँ'। यह शरीर मैं नहीं हूँ, मैं इससे भिन्न वह हूँ।

वि. : यह भी अर्थ होता है 'सोऽहं' परमात्मा सिद्ध परमात्मा का आलम्बन लेते हैं। जैसे सिद्ध भगवान् हैं, वैसे ही मेरा आत्मा भी शुद्ध और सिद्ध है। इस वर्तमान पर्याय में सिद्ध होने के लिए मैं ध्यान कर रहा हूँ। इस प्रकार के भाव ध्यान में होते हैं कि जैसा परमात्मा है, वैसे ही मेरा आत्मा है। ऐसा ध्यान करते-करते अथवा ऐसा ध्यान होते-होते मैं ही, मेरा आत्मा ही उपास्य है, ऐसी स्थिति आ जाती है, तब कर्मों का क्षय होता है।

ने. : ध्याता, ध्येय, ध्यान—तीनों एक हो जाते हैं; विकल्प छूट जाते हैं। तीनों एकाकार हो जाते हैं।

वि. : वाह ! ठीक है।

ने. : यह तो 'पदस्थ' ध्यान हुआ। इसके आगे 'पिण्डस्थ' ध्यान है न ?

वि. : पिण्डस्थ ध्यान से वह निलिप्त-निर्मुक्त-निर्वन्ध हो जाता है, अर्थात् वह संसार के जाल से मुक्त हो जाता है।

वि. : ध्यान के द्वारा वह मुक्त होता है, ऐसा मान लिया गया है। पदस्थ के बाद पिण्डस्थ ध्यान आता है।

ने. : इन दोनों में क्या भेद हुआ ?

वि. : पदस्थ ध्यान णमोकार मन्त्र आदि का ध्यान कहलाता है अर्थात् 'ॐ ह्रीं श्रीं' आदि कोई भी मन्त्र ले सकते हैं।

ने. : यहाँ मन्त्र शब्द और अर्थ है ?

वि. : हाँ शब्द और अर्थ के साथ भाव भी है। हमें ध्यान की स्थिति में शब्द, अर्थ और भाव—तीनों की जानकारी होना बहुत जरूरी है। घड़ा शब्द कहने से या रटने से घड़ा नहीं हो जाता।

ने. : उसमें पानी नहीं भरा जा सकता।

वि. : घट शब्द कहने पर विद्यार्थी घड़ा शब्द को रटेगा, 'घटः घटौ' शब्द ही रहेगा, परन्तु कुम्हार के घर में घट कहेंगे, तो वह घड़ा बतायेगा, उस घड़े में जल भरा जाता है, यह जो ज्ञान है हमारे आत्मा में प्रतिबिम्बित हुआ,

उसे घट-ज्ञान कहा गया। तब फिर शब्द, अर्थ और ज्ञान स्पष्ट होगा। इसी प्रकार मन्त्र के शब्दों को रटना, मन्त्र के शब्दों को समझना और उन्हें ज्ञानाकार बनाना जरूरी है।

ने. : पहले मन्त्र का शुद्धोच्चार होना चाहिये।

वि. : पहले शुद्धोच्चार, फिर स्पष्ट अर्थबोध; जैसे, 'णमो अरहंताण', 'णमो सिद्धाण'।

वि. : हाँ। फिर निरंजन-निराकार का ध्यान होता है। यह मन्त्रों का योग है। फिर पिण्डस्थ आता है। पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनां - शरीर में ठहरा हुआ निजात्मा है, उसका चिन्तवन; मेरा जितना शरीर है, उसमें ठसाठस। तिल में तेल-जैसा मेरा आत्मा अथवा दूध में जिस तरह घी है, उसी तरह मेरे शरीर में आत्मा व्याप्त है। उस आत्मा का ध्यान करना पिण्डस्थ ध्यान है।

ने. : ऐसा लगता है, यहाँ भाषा विरक्त हो जाती है ?

वि. : हाँ। पिण्डस्थ ध्यान में अंगुष्ठ से लेकर मस्तिष्क तक आत्मा भरा है।

वह चैतन्य आत्मा है, इस तरह का बोध होता है।

ने. : यह ध्यान का द्वितीय चरण है।

वि. : आत्मा का चिन्तवन करना अथवा एकाग्रता लाने के लिए स्थूल रूप से आत्मा को प्रथम समय में दण्डाकार समुद्घात बना लेना चौदह राजू प्रमाण तक। उसमें जब मन विचलित हो तब फिर कपाट-रूप समुद्घात बना लेना; फिर आगे-पीछे प्रतर आकार रूप मंथन नामक समुद्घात हो कर स्थिर हो जाना—यह ध्यान-मुद्रा है। फिर चौथे समय में समस्त लोक में व्याप्त हो जाते हैं।

ने. : यानी फैल कर फिर सिमिट जाना।

वि. : क्योंकि जितना शरीर है, आत्मा उतना नहीं है; वह तो व्यापक है।

ने. : आप नहीं सोचते, यह कल्पना में हुआ।

वि. : कल्पना में नहीं है। यह समुद्घात है। ध्यान की अनेक प्रक्रियाएँ हैं, जिनमें समुद्घात को भी एक ध्यान बताया गया है। उत्तम कौन है? जो अपने आत्मा में स्थिर है। चिन्ता करने वाला अधम आदमी है, लेकिन जो आत्मा का चिन्तवन करता है, वह उत्तम है; क्योंकि जिसने अपने आत्मा की उपलब्धि कर ली, वह संसार-समुद्र के पार जा सकता है।

ने. : इसमें शरीर को लोक-प्रमाण बना लेना होता है।

वि. : संत तुकाराम के ऊपर भी जैनधर्म का प्रभाव है, वे कहते हैं, तुका झाला भाभाळा येवढा मैं लोकाकार प्रमाण हो गया, उनके ध्यान में यह था।



ने. : देह का विसर्जन भी होता है ।

बि. : मैं छोटा हूँ, ऐसा नहीं । जितना विशाल आकाश है, जितना लोकाकाश है, उतना बड़ा मैं हूँ ।

ने. : इसका अर्थ यह हुआ कि विशालता और व्यापकता में से ही आत्मबोध हो सकता है ।

बि. : हो सकता है । इससे सीमाएँ टूट जाती हैं । मेरा यह मकान है, मेरा यह मोहल्ला है, मेरा यह गाँव है, मेरा यह नगर है, मेरा

यह देश है—ये सारी सीमाएँ टूट जाती हैं ।

ने. : इसमें 'मेरा' निकल जाता है ।

बि. : मैं हमेशा एक दृष्टान्त देता हूँ । आप कहाँ से आये ? तो कहते हैं, इस घर से आये । फिर पूछा तो कहता है कि अमुक मोहल्ले से आया हूँ । फिर कोई बाहर से आये, तो कहते हैं कि मैं इन्दौर से आया हूँ । जब वह उस प्रान्त से छूट कर चला जाता है, तो पूछते हैं कि आप कहाँ से आये ? तब कहता है कि मैं मध्यप्रदेश से आया हूँ । वह अपने को मकान, मोहल्ला, गाँव को छोड़ कर तब वह खुद को प्रान्त इतना विशाल मानने लगा । वहाँ से उड़ कर वह अमेरिका जाए, तो पूछने पर वह कहेगा कि मैं भारत से आया हूँ । यानी उसने अपने को भारत जितना बड़ा बना लिया । जब अमेरिका से उड़ कर वह चन्द्रलोक जाए, वहाँ कोई उससे पूछे, तो वह कहेगा कि मैं पृथ्वी से आया हूँ । वह पृथ्वी जितना हो गया, तब उसकी सारी संकीर्ण सीमाएँ टूट गयीं ; इस तरह समुद्रघात में दृष्टि विशाल होती है और उसमें मन भी एकाग्र हो सकता है, समताभाव भी उत्पन्न होता है ।

ने. : पदस्थ में से एकाग्रता और पिण्डस्थ में से व्यापकता ध्यान के दो परिणाम इनसे आये । पिण्डस्थ के विषय में और कुछ बतायेंगे ?

बि. : पिण्डस्थ के साथ ज्ञानचेतना का चिन्तवन स्वानुभूति का अनुभव करते रहना चाहिये ; क्योंकि जब अपना शुद्ध स्वरूप स्वात्मा का ध्यान करेंगे, तभी स्वानुभूति होगी ।

ने. : फिर पिण्डस्थ से रूपस्थ ध्यान की ओर आना होगा ।

बि. : पिण्डस्थ के बाद रूपस्थ ध्यान—रूपस्थं सर्वं चिद्रूपं—सकल परमात्मा-अरहंतदेव का द्रव्य-गुण पर्याय से चिन्तवन करना और अपने भी द्रव्य-गुण-पर्याय का चिन्तवन करना चाहिये । वे केवलज्ञानी हैं ; क्योंकि ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोह-

नीय, अन्तराय — इन चारों कर्मों का नाश कर दिया। उनके शुद्ध आत्मा का ध्यान, इस-
लिए रूपस्थ ध्यान होमा कि चार घातिया कर्म बैठे हुए हैं।

ने. : रूपस्थ और पिण्डस्थ ध्यान में क्या फर्क है ?

वि. : पिण्डस्थ में तो हम कर्मों से छद्मस्थ जीव हैं और रूपस्थ में चार घातिया
कर्म नष्ट होकर केवलज्ञानी हैं।

ने. : जो रूपस्थ ध्यान कर रहा है, वह उस तरह से है ?

वि. : हाँ। अरहंत-सिद्ध का ध्यान करता है। उसके बाद आचार्य बताते हैं :
रूपातीतं निरञ्जनम् । जो आठों कर्मरहित, द्रव्य कर्म, भाव कर्म और नो कर्म से रहित
हैं, जिनमें ढाँचा-रूप में शरीर भी नहीं है, आठों कर्म भी नहीं हैं। यहाँ अंजन से
तात्पर्य है कर्म और निरंजन से कर्मरहित इस प्रकार निरंजन-निराकार रूप समस्त कर्मों
से रहित वह आत्मा सिद्धात्मा, उसका ध्यान अन्तिम है; इसलिए जिसमें पारिणामिक
भाव होते हैं, वह रूपातीत ध्यान कहलाता है। रूपातीत ध्यान परमात्मा का शुद्धरूप
ध्यान है। अपनी आत्मा को परमात्मा समझ कर ध्यान करना है।

ने. : यह है रूपातीत ध्यान।

वि. : जो परमात्मा हैं, पहले उनके गुणों को समझ लेना है। रूपातीत सिद्ध
भगवान् ऐसे हैं — निरंजन-निराकार, यह समझ कर फिर अपनी आत्मा में अपनी परम शुद्धि
के लिए ध्यान करना है। द्रव्य दृष्टि से आत्मा शुद्ध है, वर्तमान पर्याय में नहीं है।

ने. : भद्रध्यान शब्द आया था; इसके विषय में कुछ बताइये।

वि. : देवसेनाचार्य ने 'भाव-संग्रह' में बहुत सुन्दर कहा है :

भद्रस्स लक्खणं पुण धम्मं चित्तइ भोयपरिमुक्को ।

चित्तिय धम्मं सेवइ पुणरवि भोए जहिच्छाए ॥ (भा. ३६५)

जो जीव भोगों को त्याग कर धर्म का चिन्तन करता है, और धर्म का चिन्तन
करता हुआ भी अपनी इच्छानुसार भोगों का सेवन करता है, उसके भद्रध्यान समझना
चाहिये। संसार के रागयुक्त आलम्बन छोड़ कर वह अब धर्मध्यान के लिए देव, गुरु
और शास्त्र के वीतराग भाव का आलम्बन लेता है; अर्थात् जो जीव भोगों को
त्याग कर धर्म का चिन्तन करता है, वह किसी इन्द्रिय का भोग भोगता नहीं; उसका
लक्ष्य अतीन्द्रिय आत्मा की ओर रहता है।

ने. : वह भोगों से उदास हो जाता है।

वि. : वह धर्म का चिन्तन करता है; जो आत्मा का धर्म है, वह उसका
चिन्तन करता है।

ने. : मुमुक्षु करता है या मुनि ?

वि. : मुमुक्षु कहिये या मुनि कहिये, चौथे गुणस्थान में होने से, उपचार से मुमुक्षु कह सकते हैं। वह धर्म का चिन्तन करता हुआ भी अपनी इच्छानुसार भोगों का सेवन करता है। साधारण भाषा में कहते हैं :

धर्म करत संसार सुख, धर्म करत निर्वाण ।

धर्मपंथ साधे बिना, नर निर्यच समान ॥

धर्म भी कर रहा है और संसार-सुख भी भोग रहा है, वह गृहस्थ है; लेकिन वह अपनी गृहस्थी कैसे कर रहा है, जैसे, रोगी कड़वी औषधि पीता है, यद्यपि उसकी पीने की इच्छा नहीं है, फिर भी रोग का निदान करना है। इसी प्रकार से गृहस्थ चारित्र्य मोहनीय कर्म के उदय के कारण, फिर भी वह चिन्तन करता है कि कब छुटकारा होगा। शंकराचार्य ने भी लिखा है :

योगरतो वा भोगरतो वा संगरतो वा संगविहीनः ।

यस्य ब्रह्मणि रमते चित्तं नंदति नंदति नंदत्येव ॥

कहने का तात्पर्य यह है कि जब वह धर्मध्यान करता है, तो अपने अन्दर ध्यान करता है। जब धर्मध्यान छूट जाता है, तो अपनी दुकान-गृहस्थी को देखने लगता है।

ने. : कभी वह भद्र हो जाता है, तो कभी अभद्र हो जाता है ?

वि. : हाँ। बहुत अच्छा कहा आपने !

ने. : यह आज्ञाविचय क्या है ?

वि. : जैसे यह जीव छद्मस्थ है, वह सूक्ष्म तत्त्वों की जानकारी नहीं कर सकता है, तो प्रारम्भिक अवस्था में हमें किसी पर विश्वास रखना ही होगा। अध्यापक पर विश्वास रखता है, तो बच्चे को अक्षरज्ञान होता है। यह साधन है। इसी तरह से हमारे आचार्यों ने शास्त्र में जो बातें कही हैं उन्हें समझ कर निश्चय करना है। गृहस्थों का सागर धर्म है, वह एक पगडण्डी है। जैसे, बाप परदेश गया हो और दो-चार साल बाद वह परदेश से आया हो, तो माँ परिचय करवाती है कि देखो बेटा ! यह तुम्हारे पिताजी हैं। उस बच्चे को पहले माँ पर विश्वास करना होगा। यदि वह विश्वास नहीं करेगा, तो पहले परिचय कैसे होगा ? इसी प्रकार जिनवाणी माता के कहने पर हमें आत्मा पर विश्वास करना होगा कि आत्मा चैतन्ययुक्त है, ज्ञानयुक्त है। यह जिनवाणी माँ हमें अपने आत्मा का परिचय करवाती है।

ने. : वैसे ही, जैसे अमेरिका में किसी व्यक्ति का जन्म हुआ और वह भारत लाया गया। उसके माता-पिता कह रहे हैं कि असली देश तो यह है भारत।

वि. : यह भी ठीक है, ऐसा भी कह सकते हैं।

ने. : यह तो एक संकेत हुआ। इसे ध्यान की श्रेणी में कैसे लायेंगे ?

वि. : हमारे गुरु ने कहा है, वह सत्य है, प्रारम्भिक छद्मस्थ अवस्था में अल्प-
ज्ञानी को ऐसा मान कर चलना होगा : आज्ञा सिद्धान्तु तद्ग्राह्यं ।

ने. : आगम-आज्ञा ?

वि. : हाँ। आगम में जो बातें तत्त्वज्ञान के बारे में कही गयी हैं, वे सत्य हैं।

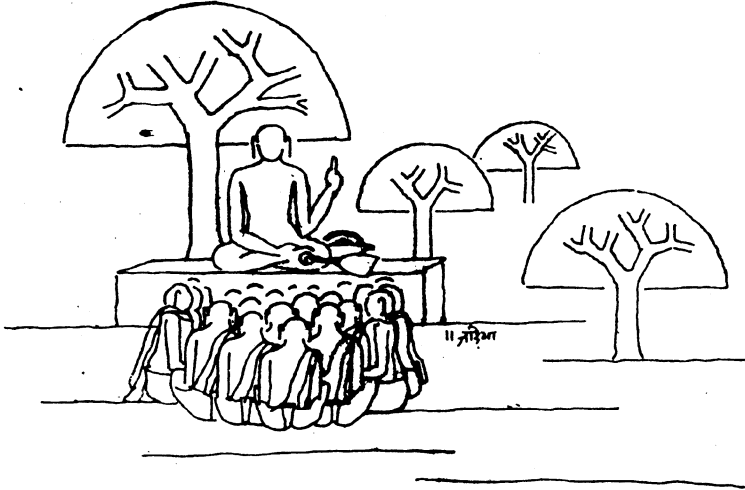
ने. : ऐसा मान कर आत्मशोधन में लगे रहना होगा।

वि. : आत्मशोधन में लगे रहना, यह आज्ञाविचय धर्मध्यान है, क्योंकि आगम
पर विश्वास रखना है।

ने. : यदि इसे प्रथम कह दिया; तो द्वितीय क्या हुआ ?

वि. : द्वितीय भद्रध्यान हो गया।

ने. : अच्छा थोड़ा क्रम गड़बड़ा गया। पहले भद्रध्यान पर बातचीत कर ली,
फिर आज्ञाविचय पर; आज्ञाविचय प्रथम, उसके बाद भद्रध्यान।



जैसा शोर बाहर, वैसा भीतर; शान्त करने का माध्यम ध्यान

डॉ. नेमीचन्द जैन : महाराजश्री, मैं आपके सामने बहुत सारे प्रश्न, बहुत सारी जिज्ञासाएँ रख चुका हूँ। मैं सोचता हूँ कि ध्यान और परिणाम का बहुत गहरा सम्बन्ध है। भीतर जो घटनाएँ घटित होती हैं, उनका ध्यान से सीधा सम्बन्ध है। जो लेश्या-प्रकरण है, वह परिणामों से सम्बन्धित है। क्या ध्यान का और लेश्या का कोई सम्बन्ध बनता है ?

एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द : हाँ; हमारे यहाँ जो लेश्याएँ हैं, वे सब औदयिक मानी गयी हैं। औदयिक, जो कर्म के उदय से होती हैं। जीव के पाँच भाव माने गये हैं : औदयिक, उपशम, क्षायोपशम, क्षायक, पारिणामिक। औदयिक कर्म के उदय से होते हैं और उनमें जो मन-वचन-काय की चंचलताएँ और क्रोध-मान-माय-लोभ की रंजकताएँ हैं, उन्हें लेश्या कहते हैं।

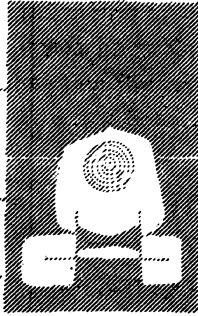
ने. : लेश्या की फिर से परिभाषा कर दीजिये।

वि. : लेश्या की जो परिभाषा शास्त्रों में की गयी है, वह मैं आपको बता दूँ। 'धवला' ग्रन्थकार ने कहा है कि जो कर्मस्कन्धों से आत्मा को लिप्त कर ज्ञानावरणादि प्रदान करते हैं, कषाय रूप परिणत करते हैं, उन्हें लेश्या कहते हैं। यहाँ कषाय-सम्बन्धी योग-प्रवृत्ति ही लेश्या है; इतना मात्र अर्थ नहीं किया गया; इसके साथ मन-वचन-काय की चंचलता के साथ माया-मोह का संबन्ध हो जाता है, तो वह कर्म से लिप्त होने के कारण लेश्या कहा है।

ने. : लेश्याएँ कितने प्रकार की हैं ?

वि. : छह प्रकार की हैं : कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल (श्वेत)। इस तरह से छह लेश्याएँ हमारे यहाँ मानी गयी हैं। उनमें तर-तमता के भेद से एक-एक में तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम; मन्द, मन्दतर, मन्दतम होती हैं। व्यक्तियों के परिणाम असंख्य हो सकते हैं। परिणाम मन्द, मन्दतर, मन्दतम हैं और तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम भी हैं।

ने. : इस प्रकार यह कषाय के अनुसार व्यक्तियों का वर्गीकरण है ?



वि. : हाँ। चित्तवृत्तियों का वर्गीकरण है।

ने. : इसी को लेश्या कहते हैं। आचार्यों ने इन्हें अपने ढंग से समझाया है।

वि. : जब मन पर कषाय तैनात हो जाती है, तो वह लेश्या कहलाती है। उस पर धर्मात्मा अंकुश लगा सकता है; ध्यान से भी लगाया जा सकता है।

ने. : मन पर जब कषाय आरूढ़ हो जाए, तब उसे क्या कहेंगे?

वि. : लेश्या औदयिक कुवेद भाव है। कृष्ण, नील, और कापोत - ये तीन लेश्याएँ हैं। इन्द्रियजन्य सुखों के प्रति परिणामों में जो गृद्धता है; ईर्ष्या, विषाद, कुवेद - यह सब पशु के समान है। इस प्रकार पंचेन्द्रियों की गृद्धता, ईर्ष्या, विषाद आदि जो कुवेद है, वह कृष्ण लेश्या कहलाती है।

ने. : जैसे बाहर बहुत शोरगुल सुनायी पड़ता है, वैसे ही अन्दर भी कषायों का शोरगुल सुनायी पड़ता है। इस शोरगुल को शान्त करने का माध्यम ध्यान ही है न?

वि. : हाँ।

ने. : लेश्याओं का जो वर्गीकरण है वह क्या भीतरी शोरगुल का वर्गीकरण है ?

बि. : और क्या, शोरगुल का वर्गीकरण ही है। शोरगुल में जो कृष्ण लेश्या-प्रधान व्यक्ति होता है, वह सदैव आर्त्त-रौद्र ध्यान-परायण होता है, उसमें अनन्तानुबन्धी क्रोध, मत्सर, धर्मरहितता होती है; यानी वह धर्म को कानों से सुनता ही नहीं है; उसके क्रूर परिणाम होते हैं और उसे सात्त्विक बात कभी रचती नहीं है।

ने. : ऐसे लोगों की संख्या समाज में बहुत है।

बि. : बहुत बढ़ गयी है।

ने. : इन व्यक्तियों को धर्म की ओर कैसे लाया जाए ?

बि. : व्यक्ति अपने परिणामों को सुधार सकता है। दूसरों के परिणामों को कौन सुधार सकता है ? हाँ, प्रेरणा दे सकता है, मार्ग बता सकता है। हर व्यक्ति का आत्मा स्वयं-का-स्वयं-गुरु है; क्योंकि जब तक उसका मन पलटे नहीं और वह स्वयं पलटाने का प्रयत्न नहीं करे, तब तक दूसरे का उपदेश कभी लागू नहीं होगा।

ने. : स्वयं-का-गुरु-स्वयं। दूसरा कोई कुछ नहीं कर सकता, मात्र प्रेरणा दे सकता है।

बि. : अपने को गुरु और दूसरे को शिष्य कहना अध्यात्मवाद ने अधम लक्षण माना है।

ने. : उपचार से तो गुरु-शिष्य हैं।

बि. : उपचार से गुरु कहना चाहिये। हर कार्य के लिए गुरु चाहिये, इसमें तो कोई संशय नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि अपना मन-परिणमन करने के लिए स्वयं को गुरु बनना चाहिये।

ने. : यह जो कृष्ण लेश्या है, यह आर्त्त-रौद्र-प्रधान है ?

बि. : हाँ। कृष्ण लेश्या वाला अनन्तानुबन्धी क्रोध करता है। उसके शरीर से काले रंग की गैस निकलती है, जिसका आसपास के वातावरण पर बुरा प्रभाव पड़ता है। जैसे तेजो लेश्या फेंकने के बाद आग लगती है, इसी तरह से कृष्ण लेश्या वाले की नाक से अनन्तानुबन्धी क्रोध के काले रंग की गैस निकलती है।

ने. : तरंगें निकलती हैं ?

बि. : हाँ। वे बुरा प्रभाव डालती हैं। नील लेश्या-प्रधान व्यक्ति सदैव आलस्य-प्रधान रहेगा।

ने. : प्रमादी ?

बि. : हाँ। बुद्धि में अत्यन्त मन्द, सुस्त, कृपण, और कामासक्त वह होता है। ऐसा व्यक्ति आर्त्त-रौद्र ध्यान कर सकता है, धर्मध्यान नहीं कर सकता। वह दम्भी होता है और व्यसन आदि में एकदम फँस जाता है।

ने. : कृष्ण लेश्या से बेहतर होता है ?

वि. : हाँ, दोनों लेकिन एक तरह से भाई-भाई हैं ।

वि. : लेकिन दो बुराइयों में से यह कम बुराई वाला होता है ।

वि. : हाँ । परिणामों के कारण कुछ अन्तर रहता है । नील लेश्या में नीले रंग की गैस निकलती है । कृष्ण के बाद नीला रंग ही निकलता है । वह अपने अधम उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रपंच करता रहता है ।

ने. : लेश्याओं से सूचना भी मिलती है कि कौन आदमी कैसा है ?

वि. : हाँ । लेश्याओं से व्यक्ति के गुण-धर्म की झलक दिखने पर वह पकड़ में आ जाता है ।

ने. : जिसकी ध्यानावस्था सूक्ष्म होगी वही यह समझ सकेगा ।

वि. : हाँ । कापोत लेश्या-प्रधान व्यक्ति सदैव शोकाकुल रहता है । वह मानसिक दृष्टि से त्रस्त रहता है । वह परनिन्दा और आत्मस्तुति करता है । एक दूसरे को लड़ा-भिड़ा देना उसकी प्रवृत्ति होती है । नारदमुनि की कापोत लेश्या होती है तभी वह लड़ाई करवा सकता है अन्यथा नहीं ।

ने. : पीत चौथी लेश्या है ?

वि. : हाँ । इस लेश्या का रंग पीला होता है । पीत लेश्या-युक्त जो व्यक्ति होता है वह सम्यग्दृष्टि हो सकता है । वह प्रबुद्ध होता है जागरूक रहता है । वह करुणावान् और विवेकी होता है । वह प्रसन्न भी रहता है ।

ने. : पाँचवीं पद्म लेश्या है ?

वि. : हाँ । पद्म लेश्या-प्रधान व्यक्ति दयावान् होता है । वह सदैव दान-परायण होता है । वह देव-अर्चन-पूजन करने वाला पवित्र और नित्य आनन्द मग्न रहता है । परोपकार आदि कार्य वह सेवाभाव से करता है ।

ने. : पद्म का अर्थ है कमल । वैसा रंग होने के साथ उसमें कमल-जैसी निर्लिप्तता होती होगी ?

वि. : हाँ । उसमें निर्लिप्तता आ जाती है । आपने सही बात कही ।

ने. : छठी शुक्ल लेश्या है ?

वि. : हाँ । शुक्ल लेश्या वाला शुभ होता है । वह राग-द्वेष से मुक्त होता है । वह परमात्मभावसम्पन्न होता है और हमेशा परमात्मा में अपने मन को बनाये रखता है ।

ने. : यह शुक्ल लेश्या तो दुर्लभ है ।

वि. : वह आत्मनिष्ठ होता है। उसको विश्वास होता है कि मेरा कल्याण स्वयं मेरे आत्मा से ही होने वाला है दूसरे से नहीं; इसलिए वह अपने आत्मा में अनुभूति के लिए प्रयत्नशील रहता है।

प्रथम से लेकर चतुर्थ गुणस्थान-पर्यन्त षट् लेश्याओं का सद्भाव शास्त्रों में लिखा है; अर्थात् पहले गुणस्थान से लेकर चौथे गुणस्थान तक प्रधान भाव से छह लेश्याएँ होती हैं।

ने. : कभी एक प्रधान हो जाती है, तो कभी दूसरी प्रधान हो जाती है।

वि. : प्रधानता-गौणता होती है। चौथे गुणस्थान वाला परिवार चलाता है, उद्योग करता है। पंचम गुणस्थान में तीन शुभ लेश्याएँ होती हैं। छठे-सातवें गुणस्थान-पर्यन्त भी तीन शुभ लेश्याएँ होती हैं, उनमें कुछ मन्दता होती है। अष्टम से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक शुक्ल लेश्या रहती है; क्योंकि आठवें गुणस्थान में उसमें कोई विकल्प नहीं होते, इसलिए उसमें शुक्ल लेश्या उत्तरोत्तर होती है; लेकिन क्षायिक सम्यग्दृष्टि को चौथे गुणस्थान में भी जघन्य कापोत लेश्या होती है। उसमें कृष्ण और नील लेश्याएँ नहीं होती हैं।

ने. : पहले हमने पात्रता पर विचार किया था कि ध्यान का पात्र कौन हो सकता है? लेश्याओं में लगता है, उपादान भी होता है।

वि. : पात्र व्यक्ति होगा, सम्यग्दृष्टि, शुक्ल लेश्या वाला। पद्म लेश्या वाला भी पात्र होगा, क्योंकि वह पूजा-अर्चा, दान-दया-परायण होता है। उसमें ऐसे उपादान है।

ने. : क्या पीत लेश्या वाला ध्यान का पात्र नहीं हो सकता?

वि. : पीत लेश्या वाले में मन्द कषाय तो होते हैं, परन्तु वह धार्मिक हो सकता है, धर्मात्मा नहीं हो सकता है। वह ऊपरी-ऊपरी धार्मिक क्रियाएँ करते रहता है।

ने. : धार्मिक और धर्मात्मा में आप क्या अन्तर करते हैं?

वि. : धार्मिक बाह्य धार्मिक क्रियाएँ अथवा कर्मकाण्ड करने वाला होता है। वह दान आदि देता है; कहीं लड़ाई-संघर्ष होता है, तो बीच-बचाव के लिए पहुँच जाता है। धर्मात्मा आत्मकल्याण की ओर प्रवृत्त होता है। उसकी रूचि आत्मचिन्तन में ही होती है।

ने. : पद्म और शुक्ल लेश्या वाले यदि ध्यान की ओर जाएँ, तो सफल हो सकते हैं?

वि. : हाँ। वे सम्यग्दृष्टि होते हैं, इसलिए सफल हो सकते हैं।

ने. : लेश्याओं के प्रकरण के साथ एक प्रकरण और जुड़ जाता है भेद-विज्ञान का।

वि. : जो सिद्ध परमात्मा हैं, जिन्हें अयोगी कहते हैं, वे लेश्या-रहित होते हैं । वे तो वीतराग हैं ।

ने. : भेद-विज्ञान में शरीर की पृथक्ता - भिन्नता का बोध अथवा प्रतीति होती है ।

वि. : भेद-विज्ञान की एक बात मैं बताता हूँ । हमारे यहाँ आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती हुए हैं, 'द्रव्यसंग्रह' के कर्ता (प्रणेता) । उनसे पूछा गया कि आप गुणानुवाद क्यों करते हैं ? उन्होंने मंगलाचरण में कहा :

जीवमजीवं दब्धं जिणवरवसहेण जेण णिहिट्टं ।

देविद विद बंदं बंदे तं सव्वदा सिरसा ॥

हम अनादि काल से मिथ्यात्व के कारण यह समझते आये कि शरीर और आत्मा एक हैं, लेकिन भगवान् ने उपदेश में कहा कि आत्मा और अनात्मा, शरीर और आत्मा में भिन्नता/पृथक्ता है, यह जो भेद-विज्ञान जिनेन्द्र भगवान् ने हमें दर्शाया है, इस कृतज्ञता के कारण हम उन्हें नमस्कार करते हैं ।

ने. : एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने इस मंगलाचरण में भगवान् आदिनाथ की वन्दना की है; क्योंकि वे योग के आदि प्रवर्तक थे ।

वि. : वाह, बहुत ठीक—

जीवमजीवं दब्धं जिणवरवसहेण जेण णिहिट्टं ।

देविद विद बंदं बंदे तं सव्वदा सिरसा ॥

तो आप नमस्कार क्यों कर रहे हैं, इसलिए कि साधु पुरुष कभी भी किये गये उपकार को भूलता नहीं है । भगवान् ने क्या उपकार किया ? मैंने तो आत्मा और शरीर को एक समझा था, परन्तु भगवान् ऋषभदेव ने सर्वप्रथम हमें यह बताया कि आत्मा और अनात्मा — दोनों दो स्वतन्त्र पदार्थ हैं । जो अनात्मा पदार्थ शरीर आदि है, वह तो जड़ है और जो आत्मा है, वह आध्यात्मिक चैतन्य से पूर्ण किन्तु भौतिकता से परे है । चेतन आत्मा और भौतिकता में बहुत अन्तर है । अन्त में प्रिय सब के लिए यदि कोई है, तो अपना आत्मा ही है ।

एक उदाहरण; कोई स्त्री बहुत से गहने पहिन कर जा रही है अथवा कोई पुरुष अंधेरे में बहुत से गहने ले कर चला जा रहा है । रास्ते में चाकू ले कर कोई खड़ा हो गया । वह कहता है कि आप जान नहीं लेना चाहो, तो सारे गहने ले लो । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि उसको जान प्यारी है, गहने नहीं । उसे पता लग जाता है कि गहने कीमती नहीं हैं, जान कीमती है । उससे पहले उसको ज्ञान नहीं होता है । पहले तो वह सोचता है कि कहीं मेरे गहने नहीं चले जाएँ, जान चाहे जाए; इसीलिए वह उनकी सुरक्षा करता है, उन्हें छिपा कर रखता है कि कहीं चले न जाएँ ।

जब अँधेरे में कोई चाकू ले कर खड़ा हो जाता है, तब उसे पता चलता है कि गहने कीमती नहीं हैं ; गहने तो दुबारा कमाये जा सकते हैं, परन्तु जान दुबारा नहीं मिल सकती ।

ने. : खतरा उपस्थित होने पर दुर्लभ वस्तु का बोध होता है ।

वि. : दुर्लभता का ही बोध नहीं होता, भेद-विज्ञान भी हो जाता है । यह अलग है, मैं अलग हूँ; फिर भी मैंने दोनों को एक समझा था । इसकी संगति के कारण मेरा प्राण भी जा सकता है । इसी प्रकार संसार-चक्र में मैं फँसा हुआ हूँ, वह भी इस शरीर आदि के कारण हूँ । कोई मेरा नहीं है ।

भगवान् ने भेद-विज्ञान करवाया कि यह जीव अलग है । उस ज्ञान को कराने का जो उपकार है; मोक्ष का जो मार्ग उन्होंने प्रशस्त किया, उनके उस ऋण के लिए हम नमस्कार करके उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए, उनके उपकार का स्मरण करने के लिए उन्हें नमस्कार करते हैं । उनके अनन्त उपकार हैं ।

ने. : ध्यान की छैनी जब चलती है, तभी तो यह भेद-विज्ञान प्रकट होता है ।

वि. : सही बात है । ध्यान की छैनी के लिए; अथवा आत्मा अनात्मा का यथार्थ ज्ञान; पं. टोडरमलजी के शब्दों में आपा-पर का भेद-विज्ञान ।

ने. : इसे और स्पष्ट कीजिये ।

वि. : शिवभूति कुछ भी नहीं था । वह मन्द बुद्धि वाला था ।

बिना पढ़े परतीति गहि राख्यो गाढ़ अपार ।

याद करत तुषमाष को उत्तर गयो भवपार ॥

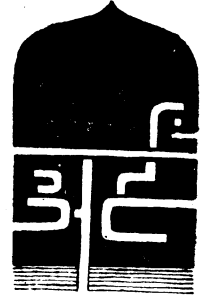
शिवभूति जीवादि पदार्थों के नाम जानता ही नहीं था । 'तुषमाष' शब्द सिद्धान्त के हैं नहीं; फिर उस 'तुषमाष' नामक स्तोक द्रव्यश्रुत को ले कर वह केवलज्ञान तक पहुँचा ।

ने. : आप कहना यह चाहते हैं कि शास्त्र-वाचन की बजाय तत्त्वबोध जरूरी है ।

वि. : तत्त्वबोध बहुत जरूरी है । और तत्त्व कोई भी हो सकता है । इस संसार की किसी भी चीज को देखिये; जैसे, दाल अलग, छिलका अलग - यह द्वादशांग भगवान् की साक्षात् वाणी थोड़े ही है । द्रव्यश्रुत कहीं से भी ले सकते हैं; किसी भी प्रकार से आप ले सकते हैं । आचार्य ने क्या लिया; सोना और सोने का पत्थर अलग है । दाल और छिलका अलग है । इस प्रकार आप जो लौकिक द्रव्यश्रुत है, उसे भेद-विज्ञान के लिए साधन-रूप में ले सकते हैं ।

ने. : आप भैसे का दृष्टान्त सुना रहे थे । मैं समझता हूँ, वह भी भेद-विज्ञान से जुड़ जाता है । कृपया उसे बताइये ।

वि. : एक बार एक पेड़ के नीचे एक आचार्य बैठे हुए थे। उधर से कोई भैंसे के लिए सिर पर घास रख कर ले जा रहा था। उसने उन्हें प्रणाम किया, तो साधु ने आशीर्वाद देते हुए कहा कि भले प्राणी, भगवान् का थोड़ा ध्यान करते जाओ। उसने कहा कि महाराज, हम तो किसान हैं, अज्ञानी हैं, हम कहाँ धर्मध्यान कर सकते हैं। तब वे उसे उसीकी यानी किसान की भाषा में समझाने लगे कि ऐसी बात नहीं है। 'यह क्या है?' किसान ने बताया कि यह चारा है। 'कहाँ ले जा रहे हो?' घर ले जा रहा हूँ, वहाँ भैंसा है। तब उन्होंने पूछा कि तेरा सब से ज्यादा प्यार किस पर है? उस



किसान ने कहा कि सब से ज्यादा प्यार उस भैंसे पर है, क्योंकि उससे ही गुजारा होता है। गाड़ी जोतता हूँ, माल बेचता हूँ। वही मेरा अपना प्राणप्रिय है, उसी पर प्यार है। तब उन्होंने कहा कि हमारा कहना मानोगे? उसने कहा, ठीक है। इतना कह कर उस किसान ने सिर से घास उतार कर रख दिया और उस छोटी-सी गुफा में बैठ गया। साधु ने उससे कहा, तुम यह कहो - मेरा भैंसा, मेरा भैंसा। अब वह किसान, 'मेरा भैंसा, मेरा भैंसा' का ध्यान करने लगा। वह भला प्राणी यह भूल गया और फिर कहने लगा कि 'मैं भैंसा हूँ, मैं भैंसा हूँ'। 'मेरा भैंसा नहीं, मैं भैंसा'। दैवयोग से उसके दो सींग निकल आये। है तो यह अलंकार। सींग निकल आने पर वह उस गुफा के बाहर आना चाहता था, परन्तु उस गुफा का दरवाजा छोटा था, इस कारण वे उसमें फँस गये। अब वह सोच-विचार में पड़ गया कि अरे, यह क्या हो गया?

इसी प्रकार यह जीव चमड़े के ढाँचे/शरीर में आ फँसा है; इसलिए पहला सिद्धान्त तो यह है कि मेरा कुछ भी नहीं है।

एकोमे शास्वतश्चात्मा ज्ञानदर्शन लक्षणः।

शेषा बहिर्भावा सर्व संयोगलक्षणाः।।

ने. : यह भेद-विज्ञान का प्रथम चरण है।

वि. : हाँ। इसे आप भेद-विज्ञान का मन्त्र समझिये; मूल मानिये। इसके आधार पर वह भैंसे का ध्यान छोड़ कर 'मैं भैंसा नहीं हूँ' कहने लगा। वह मनुष्य पर्याय में आ गया। मैं मनुष्य भी नहीं हूँ, मैं तो शुद्ध परमात्मा हूँ, तब उसने अपने आत्मा को परमात्मा बनाया। इसलिए हमारे शास्त्रों में जो दृष्टान्त दिया है, उसके द्वारा समझाना है। इस तरह बहिरंग के जितने आलम्बन हैं, मन उन्हीं के पीछे लगा हुआ है। ध्यान तो करना चाहिये आत्मा का; ऐसा नहीं है कि चटाई साथ रखो, तो उसी का ध्यान करो। पिच्छी-कमण्डलु का ध्यान करो, माला है तो उसी का ध्यान करो। अरे भाई, वह सारे साधनों को ठीक करने के लिए लगा हुआ है; लेकिन जो साध्य है, उपादेय है, उसे ठीक करने के लिए वह प्रयत्न नहीं कर रहा है।

तीर्थकर : अप्रैल ८३/९५

ने. : इसे कहते हैं आत्मशोधन, जो ध्यान के माध्यम से ही हो सकता है। भेद-विज्ञान को भी यदि ठीक तरह से समझना हो, तो ध्यान के माध्यम से ही समझा जा सकता है।

वि. : बिल्कुल सही बात कही आपने। इसलिए मैं मनुष्य हूँ, यह छोड़ना होगा। मैं जैन हूँ, यह भी छोड़ना होगा वि. मैं श्रावक हूँ, अथवा मैं श्रमण हूँ; मैं पुरुष हूँ अथवा नारी हूँ। मैं तो शुद्ध आत्मा हूँ। आत्मा न तो पुरुष है, न श्रावक है और न साधु है। आत्मा परमात्मा है। यह स्थिति आना जरूरी है।

ने. : अहंकार छोड़ना पड़ेगा। शुद्धोपयोग का अलंकार ग्रहण करना होगा।

वि. : रत्नाकर कवि ने कहा है; जिसे तुम अलंकृत करते हो, यह चमड़े का ढाँचा-मात्र है। यह तुम्हारे साथ जाने वाला नहीं है। तुमने माला आदि पहिन ली, लेकिन यह सब हेय है। एक बार भी तुम रत्नत्रयरूपी माला आत्मा को पहिना देते, तो अलंकृत हो जाते अर्थात् यदि तुम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्यरूपी माला अपने आत्मा को पहिना देते; तो तुम अजर-अमर हो जाते। उपादेय और उपादान तो है एकमेव आत्मा, इसे अच्छी तरह से समझना परमावश्यक है। □



एकाग्रता से सब संभव : उपवास कर ले तो ध्यान में खूब मग्न हो सकते हैं

डॉ. नेमीचन्द जैन : महाराजश्री, आप अपने जीवन के ध्यान-संबन्धी अनुभव हम सबको बताइये, ताकि हम ध्यान के माध्यम से उस प्रशस्त मार्ग पर अग्रसर हो सकें, जिस पर तीर्थंकर, साधुगण और हमारे पूज्यजन गये हैं। ध्यान की प्रक्रिया से गुजरते हुए आपको जो विविध अनुभव हुए और हो रहे हैं, उन पर प्रकाश डालिये।

एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द : बचपन में ही मैं ध्यान शब्द से परिचित हो गया था। ये श्लोक स्मरणीय और उल्लेखनीय हैं :

पूर्वाह्णे निजपाद पाणिवदनं प्रक्षालय पृतैर्जलं ।

यः पूर्वाभिमुखं सुखासनगतो वर्षोत्तमो वा द्विजः ॥

संध्यावन्दनमारेभिजगुरु प्रोक्तेन मंत्रेण वा ।

धर्मध्यान परो नरः प्रतिदिनं सस्यात्सदारोग्यवान् ॥

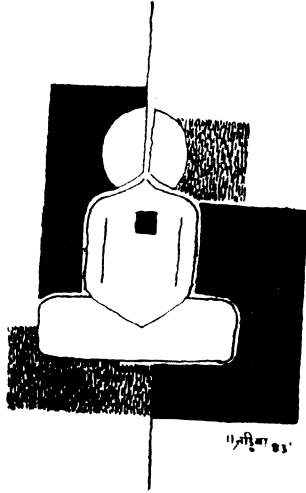
इनका आशय यह है कि जो धर्मध्यान करता है, वह हमेशा निरोगी रहता है। शरीर से तो निरोगी होता ही है, यह कोई बड़ी बात नहीं है, मन से भी होता है, क्योंकि मानसिक स्वस्थता का शरीर पर प्रभाव पड़ता ही है। मेरी यह धारणा हो गयी थी कि स्वास्थ्य के लिए धर्मध्यान करना ही चाहिये।

ने. : आरम्भ में ?

वि. : हाँ! जब मैं बहुत छोटा था।

ने. : छोटे यानी उस समय आपकी वय क्या होगी ?

वि. : आठ-दस साल की। आगे चल कर जब मुझे रत्नकरण्ड श्रावकाचार, द्रव्यसंग्रह आदि पढ़ाये गये, तब मेरे मन में उन्हें सीखते समय लगा कि ध्यान करना अच्छा है। ये ग्रन्थ आत्मा से सम्बन्धित होने से मानसिक स्वास्थ्य के लिए और परिणाम की निर्मलता के लिए हैं, ऐसी भावनाएँ बन गयीं। धीरे-धीरे प्रारम्भिक प्रयोग के रूप में णमोकार मन्त्र का जाप होने लगा, क्योंकि इसी से ध्यान की साधना हो सकती है।



ने. : पदस्थ ध्यान ?

वि. : हाँ ! यह ध्यान शुरू हुआ ।

ने. : आप जानते नहीं थे, लेकिन वह था उसीका रूप ।

वि. : णमोकार मन्त्र का जाप करते हुए मेरी धारणा बनती गयी कि आत्मा में जो कर्म हैं, वे अशुद्ध हैं; इनके निकल जाने पर आत्मा शुद्ध होती है । जब ये विचार शास्त्रों में पढ़ने को मिले, तो मैं प्रातः और संध्या काल मन्दिर में मूर्ति के सामने दो बार जाप करता था । आसन लगा कर आँखें मूंद कर एकाग्रतापूर्वक नासिकाग्र दृष्टि करते समय पाँच-दस मिनट मुझे बड़ी शान्ति मिलती थी । एकाग्र तो हो नहीं पाता था; होता यह था

कि जितने झंझट के कामकाज थे, उनसे छूट जाता था । मैं भगवान् के सामने बैठा हूँ, उससे मेरे परिणामों में वीतरागता, निर्मलता, समता के भाव सामान्यतया स्थूल रूप में होते थे ।

ने. : यह आधी शताब्दी पहले की बात है ।

वि. : आगे चल कर जैसे-जैसे मैं आचार्य समन्तभद्रजी (कुंभोज) के सम्पर्क में आया, उनके साथ सामायिक में बैठना, जाप करना, जाप में कैसे खड़े रहना, दिशा-वन्दन करना इत्यादि मैंने उनसे सीखा । दिशा-वन्दन चारों तरफ कर लेना होता है—चतुर्दिशि वन्दना—

प्राग् दिग् विदिगन्तरे, केवलजिनसिद्धसाधुगण देवाः ।

ये सर्वद्विसमृद्धाः योगीशास्तानह वन्दे ॥१॥

चारों दिशाओं में फिर तीन बार आवर्त के साथ णमोकार मन्त्र 'असिआउसा' अथवा 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' बोलता था । 'असिआउसा' में ही ज्यादा विश्वास था । प्रारम्भ में जल्दी-जल्दी बोलने से ही मन एकाग्र होता था । णमोकार मन्त्र पूरा बोलने से एकाग्रता टूट जाती या भंग हो जाती थी । 'असिआउसा' बोलने से क्रम टूटता नहीं था, धारा बनी रहती थी और बहुत लम्बे मन्त्रों से धारा टूट जाती थी; अविच्छिन्न नहीं रहती थी ।

अनुभव की बात यह है कि शास्त्र पढ़ने, या स्वाध्याय करने के बाद बैठने पर मन बहुत जल्दी थोड़ी देर के लिए एकाग्र होता है । स्वाध्याय के तत्काल बाद ध्यान में बैठना चाहिये ।

ने. : यह दीक्षा के पूर्व की बात है ।

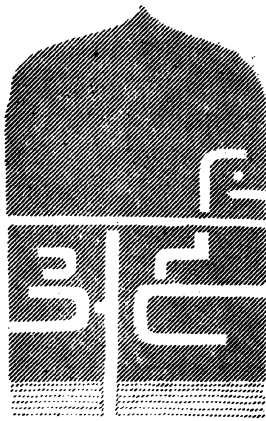
वि. : हाँ । स्वाध्याय के बाद ध्यान और फिर ध्यान के बाद स्वाध्याय, यदि इसी में उपयोग को लगाये रखें, तो कुछ क्षणों में कुछ क्षणों के लिए भी एकाग्रता और आनन्द का अनुभव होता है । मिनटों की बात नहीं, कुछ सेकण्डों के लिए अथवा कुछ क्षणों के लिए ही एकाग्रता सधती है । उतने क्षण में जो एकाग्रता होती है, उससे कर्मों का संवर और निर्जरा होती है । अब मैं कह रहा हूँ, पहले संवर-निर्जरा की बात नहीं थी, क्योंकि शब्द रटे हुए थे । ज्ञान के द्वारा संवर कर सकते हैं और उसी तरह स्वरूप में रमण करने से चारित्र्य की पूर्णता को प्राप्त कर सकते हैं । ऐसी एकाग्रता होती थी कि यदि शरीर पर चीटी आदि चढ़ जाए, तो विचलन नहीं होता था ।

कहने का तात्पर्य यह है कि एकाग्रता से सब संभव है । एकाग्रता अपने-आप एकदम हो जाती है, ऐसा नहीं हो सकता । मुझे तो स्वाध्याय के बल पर एकाग्रता का अभ्यास हो गया है । जब मैं पढ़ता हूँ, तो सारी दुनिया को कुछ समय के लिए भूल जाता हूँ । मैं शास्त्र रख कर चिन्तन करने लगता हूँ । ध्यान तो क्षण-भर लगता है, लेकिन मैं अनेक क्षण ध्यानपूर्वक बिता सकता हूँ । इसलिए बताया है कि अध्ययन में ध्यान है । मेरा अनुभव है कि स्वाध्याय और ध्यान में पारस्परिक संबन्ध है । ज्ञान-ध्यान तपोरतः का अर्थ अब मुझे समझ में आ रहा है । ज्ञान और ध्यान—जब ज्ञान बोलो, तो स्वाध्याय हो जाए और ध्यान बोलें, तो एकाग्रता हो जाए; ये दोनों एक-दूसरे के पूरक और संबन्धित हैं; इसलिए स्वाध्याय करते-करते बाद में ध्यान में बैठिये ।

उस समय महाराज (समन्तभद्राचार्यजी) मुझे बगल में बैठा लेते थे । पहले स्तुति बोलते थे; क्योंकि कुछ लोग बैठे हों, तो विकल्प उठते हैं । आपस में बातचीत भी कर सकते हैं । ऐसा न हो, इसलिए भगवान् की कोई स्तुति बोलते-बोलते 'ॐ नमः, ॐ नमः' चार-पाँच बार बोल कर चुपचाप बैठ जाते, ऐसा सुनने में भी एकाग्रता हो जाती थी । कोई विकल्प नहीं आते थे । यह मेरा स्वानुभव है कि कोई स्तुति/स्तोत्र बोलते हैं, फिर णमोकार मन्त्र बोलते हैं, फिर 'ॐ नमः, ॐ नमः' पाँच-दस बार बोलते हैं, तो अन्तरंग के सारे विकल्प शान्त होते हैं ।

ने. : विकल्पों का विरेचन होता है ?

वि. : हाँ । विकल्पों का संवर हो जाता है । इस तरह ध्यान से शान्ति; ध्यान से नींद भी अच्छी आती है । एक बात और स्वानुभव की बताऊँ । जिस दिन मैं उपवास करता हूँ, उस दिन ध्यान बहुत अच्छा होता है । उपवास में ध्यान अच्छा लगता है । मुझे यह लग रहा है कि उपवास और ध्यान में बहुत गहरा संबन्ध है; क्योंकि भोजन करने के बाद शरीर में कुछ जड़ता आ जाती है । प्रमाद या जिसे



आलस्य कहिये, ग्लानि कहिये, भोजन के बाद शरीर में आ ही जाती है और उपवास कर लें, तो ध्यान में खूब मग्न हो सकते हैं। उपवास-काल में बार-बार मन में यही आता है कि स्वाध्याय नहीं, ध्यान ही करो। ऐसे विचार अपने-आप स्वतः ही आने लगते हैं। उपवास से स्नायुओं को विश्रान्ति मिलती है और विश्रान्ति से एकाग्रता में सहायता पहुँचती है। भोजन के बाद स्नायुओं की तेज गति से ध्यान में एकाग्रता हो नहीं पाती है; इसलिए मेरा स्वानुभव है कि उपवास में ध्यान बहुत अच्छी तरह से होता है।

ने. : उपवास में शरीर का कारखाना बन्द रहता है।

वि. : बिल्कुल ठीक। शरीर का कारखाना बन्द रहने से आत्मा में आप सरलता-पूर्वक मग्न हो सकते हैं और शान्त चित्त से बैठ सकते हैं। ध्यान की जो बातें शास्त्रों में लिखी गयी हैं, आत्मा अलग; शरीर अलग है—‘सोऽहं’—चिन्तन के जो भी वाक्य अपने शास्त्रों में दिये गये हैं, उनको देख कर भी कभी-कभी मन उनके अर्थ, उनके भाव के चिन्तन में लग जाता है। थोड़ी देर के लिए बिना विकल्प के बैठ जाने का प्रयत्न करें। इस तरह करने से मानसिक शान्ति मिलती है। जब विकल्प बढ़ जाते हैं, तब ध्यान में लगे। बहुत सारे विकल्प उठें, तब ध्यान में लगने पर बहुत से विकल्प शान्त हो जाते हैं। शब्द विशेष का चिन्तन करने पर विकल्प तो रहता है, लेकिन वह ध्यान में सहायक हो सकता है। हमारे यहाँ ध्यान के लिए इस तरह के वाक्य बड़े उपयोगी हैं : सिद्धस्वरूपोऽहं, शुद्धस्वरूपोऽहं, निराकार स्वरूपोऽहं, ज्ञानानन्द स्वरूपोऽहं, अनन्तज्ञान स्वरूपोऽहं, अनन्तदर्शन स्वरूपोऽहं; जो भी सिद्धों के गुण हैं, उन स्वरूप में हैं।

ने. : इस तरह की प्रतिध्वनियाँ रोम-रोम में गूँज उठें।

वि. : इस तरह की प्रतिध्वनियाँ निकालते-निकालते एकदम चुप बैठ जाने पर बहुत एकाग्रता आती है; परन्तु एक बात मैं स्वानुभव से बताता हूँ कि यदि ध्यान में सौ गुणा सफलता चाहिये हो, तो उपवास करो। बिना उपवास के हम पाँच-दस प्रतिशत सफल हो सकते हैं; लेकिन नव्वे प्रतिशत सफलता तो उपवास से ही मिल सकती है।

ने. : ऐसा आपका स्वानुभव है।

वि. : जिस दिन उपवास नहीं, उस दिन ध्यान में सफलता पाँच, दस या पन्द्रह प्रतिशत मिलती है। उपवास से ज्यादा-से-ज्यादा ध्यान में एकाग्रता हो पाती है।

ने. : मन की चंचलता भोजन के साथ जुड़ी हुई है ?

वि. : हाँ ! यह मेरा स्वानुभव है । जिस दिन उपवास करता हूँ, उस दिन एकाग्रता स्वतः होती है । उस दिन कुछ भी नहीं चाहिये, स्वाध्याय भी नहीं चाहिये । ध्यान में जल्दी बैठ जाओ, ऐसा मन अपने-आप करने लगता है । उपवास के दिन ऐसा लगता है, किसी से बात नहीं करो, मन ध्यान की ओर स्वतः ही अग्रसर होता है और परिणामों में निर्मलता आती है । इससे स्पष्ट सिद्ध है कि जो वहिरंग तप उपवास है, वह ध्यान के लिए बहुत ही उपयोगी है; इसीलिए हमारे प्राचीन ऋषि-मुनि आदि ध्यान करने के लिए जंगलों में एक-एक, दो-दो दिनों के लिए उपवास पर बैठते थे, पन्द्रह-पन्द्रह दिनों तक भी उपवास पर बैठते थे । अब मुझे लगता है, ऐसी शक्ति जब उपवास की है, तब परिणाम अवश्य ही शान्त होते हैं ।

ने. : उपवास तो शरीर का मौन है ?

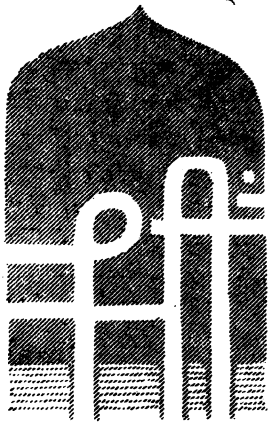
वि. : हाँ ! यह सत्य है । मनोदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड में से कायदण्ड के लिए उपवास की बहुत आवश्यकता है; वचनदण्ड तो आप छोड़ सकते हैं ।

ने. : मौन ले सकते हैं ।

वि. : चुप बैठ सकते हैं, लेकिन कायदण्ड तभी संभव है, जब आप उपवास करें । तभी शरीर भी मौन हो सकता है । तीव्र मानसिक वेग को रोकने के लिए भी उपवास एक साधन है; उसके साथ आत्मा के विषय में सूक्ष्म अध्ययन भी चाहिये — सूक्ष्म जिज्ञेदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्येत — जिनेन्द्र भगवान् का सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तत्त्व है, उससे परिचित होना है, आत्मा से भी परिचित होना है, तो वह उपवास से होगा, थोड़ा ध्यान से भी होगा । एकाग्रता से भले ही हम घण्टे-भर बैठें, लेकिन उपवास में कुछ क्षणों के लिए हम इतने एकाग्र हो जाते हैं, कि हम अपने को भी भूल सकते हैं । पहले मुझे एकाग्र होने के लिए बहुत प्रयत्न करना होता था । जैसे, माला लेकर जपो । अंगुली से माला जपो, या दीवार पर एक बिन्दु हो, तो उसे देखने बैठ जाओ अथवा किसी शब्द के अर्थ का चिन्तन करो । अब क्या होता है, जब आसन लगा कर बैठ जाता हूँ, तब कोई विकल्प नहीं उठते ।

एक बात और, प्रारम्भिक अवस्था में, जैसे बहुत चिन्ता-फिकर है, तो क्षण-भर के लिए श्वासोच्छ्वास को रोक लीजिये; फिर धीरे-धीरे श्वासोच्छ्वास लीजिये, इससे भी मानसिक विकल्प तत्काल बन्द हो जाते हैं । श्वासोच्छ्वास से विकल्पों को मन से हटा सकते हैं, यह भी एक प्रक्रिया है । उसका भी मुझे अनुभव है । जब बहुत से विकल्प उठ ही गये, तो श्वासोच्छ्वास की यह प्रक्रिया अपने-आप होती है । यह प्रक्रिया भी उपयोगी सिद्ध हुई ।

ने. : ध्यान में आलम्बन का क्या महत्त्व है ? इस विषय में आपका क्या अनुभव है ?



वि. : कर्ण-युगल में लिखने के बाद नासिका के अग्र-भाग के ऊपर 'ॐ ह्रीं श्रीं' लिखना। फिर क्रमशः मुख पर, हृदय एवं नाभि पर, सिर पर, तालु में, भ्रुकुटि पर 'ॐ ह्रीं श्रीं' लिखना। ये सब ध्यान के स्थान / केन्द्र कहे गये हैं। इनमें से किसी एक स्थान पर चित्त को लगाते रहना। जहाँ तक एक स्थान पर ध्यान टिकता है, टिकने दो। यदि वहाँ से हटता है, तो दूसरे स्थान पर लगाओ। इस तरह से भी बीजाक्षरों के द्वारा जो ध्यान होता है, उससे भी मुझे बहुत लाभ हुआ है।

ने. : ऐसा आपने किया है ?

वि. : हाँ! और कभी-कभी करता भी हूँ। 'अष्टपाट्ट' में जो श्लोक है उसका आशय भी यह है कि चित्त के आलम्बन के लिए 'ॐ ह्रीं श्रीं' को इन स्थानों (कर्णयुगल, मुख, हृदय, नाभि आदि) पर लिखो और इन मन्त्रों को पहले एकाग्रतापूर्वक आसन जमा कर बैठने के बाद अपने को 'चत्तारि मंगलम्', 'चत्तारि सरणं पञ्चजामि' उच्चार के साथ सफेद रंग से 'ॐ ह्रीं श्रीं' लिखो।

ने. : इसका मतलब यह हुआ कि सारे शरीर में इस मन्त्र को घुमा देना चाहिये।

वि. : और इसी तरह आपको यह भी मालूम है कि ध्यान के लिए हमारे शरीर में पाँच रंग हैं। तीर्थंकर भी पाँच रंग के हैं। दो तीर्थंकर सफेद रंग वाले, दो नीले रंग वाले भी हैं। इनसे सम्बन्धित यह श्लोक है :

'प्रालेय नील हरितारुण, पीतभासं, यन्मूर्तिमव्यय सुखावसथं मुनीन्द्रा।

ध्यायन्ति सप्ततिशतं जिनबल्लभानां, त्यद्ध्यानतोऽस्तु सततं मम सुप्रभातम् ॥

मैं भी चन्द्रप्रभु भगवान् की शुभ्र मूर्ति का ध्यान कर लेता हूँ। ध्यान करने के लिए तत्पर व्यक्ति से मैं यह भी कहता हूँ कि तीर्थंकर के शरीर के वर्ण का भी ध्यान करो। यह शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक एकाग्रता के लिए सहायक होता है। मन जब इसमें रमने लगता है, तब वह आत्मचिन्तन की ओर अग्रसर होता है।

ने. : ध्यान और 'सोऽहं' से संबन्धित वह दृष्टान्त सुनाइये जो आप प्रवचन में कहा करते हैं।

वि. : एक झोपड़ी थी, उसमें एक वस्त्रधारी साधु (संन्यासी) रहता था। धर्म और ध्यान के संबन्ध में जानने की जिज्ञासा ले कर एक विद्यार्थी उस साधु के पास पहुँचा। उसने कहा, 'महात्माजी, मुझे धर्म और ध्यान सिखाइये'। साधु को वह विद्यार्थी भला लगा, उसने कहा, 'तुझे धर्म सीखना है, तो झोपड़ी में झाड़ू लगाया करो, कपड़े धोओ, भोजन बनाओ, हमें खाना खिलाओ, बर्तन माँजो, गाय को चारा डालो।' वह विद्यार्थी ये सारे काम करने लगा। साधु को जब ध्यान करना होता, तब विद्यार्थी को वह झोपड़ी के बाहर बिठाकर अन्दर ध्यान करने चला जाता। वह विद्यार्थी सोचता था, ऐसा तो नहीं कि गुरुजी झोपड़ी में अकेले-अकेले भोजन करते हों; उत्सुकतावश, एक दिन उसने झोपड़ी की थोड़ी-सी घास उठा कर अन्दर देखा कि वे तो बिलकुल ध्यानस्थ हैं। उसे यह विचित्र-सा लगा। ध्यान समाप्त होने पर उसने गुरुजी से पूछा कि आप अन्दर क्या किया करते हैं? तब गुरुजी ने बताया कि मैं धर्मध्यान करता हूँ। शिष्य ने कहा कि मैं यहाँ कोई बर्तन माँजने के लिए नहीं आया हूँ; आप कृपया मुझे भी ध्यान करना सिखाइये। अब मैं तभी अन्य काम करूँगा, जब आप मुझे भी ध्यान करना सिखायेंगे। इस पर गुरु ने कहा, ऐसी बात है, तो तू मेरी बगल में बैठ कर 'सोऽहं' का जाप कर। अब वह शिष्य गुरुजी के साथ प्रतिदिन प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल 'सोऽहं' का जाप करने लगा।

ने. : बाकी समय वह सारे काम करता था ?

वि. : हाँ। एक दिन उस शिष्य के मन में सोऽहं का अर्थ जानने की जिज्ञासा हुई। गुरुजी से पूछने पर उन्होंने उसे बताया कि सोऽहं का अर्थ है, जैसा परमात्मा है, वैसा ही मेरा आत्मा है। शिष्य ने कहा, यह तो ठीक है। अब मुझे बताइये कि हम तो उसका ध्यान करते हैं, लेकिन वह किसका करता है? गुरु ने कहा, वह किसी का नहीं करता। शिष्य से तो उन्होंने इतना कह दिया, लेकिन बाद में उनके मन में विचार आया कि इसने सही बात कही है। परमात्मा के आनन्द में कितने दिन रहना है। ध्यान में स्वावलम्बी होना आवश्यक है—

यः परात्मा स येवाहं यो हं यः परमस्तथा ।

अहमेकमयोपास्यो नान्यः कश्चित् इतिस्तथः ॥'

अर्थात् जैसा परमात्मा है, वैसा मैं भी हूँ। जैसा मैं हूँ, वैसा परमात्मा भी है। इस तरह से तो ध्यानभावना चलती रहती है, परन्तु मैं ही मेरा उपास्य हूँ, उपासक हूँ और दुनिया में कोई मेरा उपास्य-उपासक नहीं है। ऐसा अभेद अपना आत्मा सिद्ध आत्मा की तरह जानने पर ही हो सकता है कि 'अहम् ब्रह्मास्मि' अथवा 'अप्पा सो परमप्पा'। अपना ही आत्मा जब ध्यान करता है, तब निरालम्बन, बिलकुल कोई आलम्बन नहीं, उस समय वह बहुत समर्थ बनता है।

तीर्थकर : अप्रैल ८३/१०३

अनेक क्षणों के बाद एक छोटा-सा क्षण आता है, जब एकाग्रता में कहीं ऐसी अनुभूति होती है, हो सकती है।

ने. : आप मौन के विषय में बता रहे थे कि मौन और ध्यान का परस्पर सम्बन्ध है, आगे बताइये।

वि. : आठ-पन्द्रह दिनों का मौन लेने से अध्ययन बहुत होता है। किसी एक विषय को ले कर हमें अध्ययन-मनन-चिन्तन करना है; ध्यान, समझिये, प्रतिक्रमण है। किसी एक विषय को ले कर क्या-क्या, कहाँ-कहाँ कहा गया है, यह ढूँढ़ना है, इस तरह स्वाध्याय के साथ मौन आवश्यक है। उपवास के साथ ध्यान तो जुड़ना ही चाहिये। ध्यान, उपवास और मौन—ये परस्पर सम्बद्ध हैं।

ने. : ध्यान, उपवास और मौन का त्रिकोण बन जाना चाहिये।

वि. : हाँ। इसके लिए यह श्लोक दृष्टव्य है :

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः ।

भवन्ति तस्मात् संसर्गं जनैर्योगी ततस्स्थजेत् ॥

जिसका आशय है, हे योगी ! जन-सम्पर्क कम करो। ध्यान और अध्ययन में ही एकाग्रतापूर्वक बैठो। ऐसे भी मौन के दिनों में जनसम्पर्क काफ़ी टूट जाता है। एकान्त में स्वाध्याय भी उत्तम होता है। जब स्वाध्याय से थक जाएँ, तब ध्यान; फिर ध्यान से थक जाएँ, तब स्वाध्याय।

ने. : ध्यान से कोई थक भी सकता है ?

वि. : साधक अभी तो छद्मस्थ है और वह है साधना का मार्ग। शरीर में कुछ परिवर्तन होना ज़रूरी है। पहले साधक थक जाता है, उसकी अपनी सीमा है। ध्यान के बाद स्वाध्याय करने लगते हैं। कोई लेट कर भी स्वाध्याय कर लेते हैं। लेटे-लेटे मनन-चिन्तन भी करते हैं। स्वाध्याय करते-करते ध्यान-मग्न भी हो जाते हैं।

ने. : मौन के समय बहुत-सी गुत्थियाँ सुलझ जाती होंगी ?

वि. : गुत्थियाँ खुल जाती हैं और स्मरण-शक्ति बहुत बढ़ जाती है। मेरी जो स्मरण-शक्ति है, उसके बढ़ने का मूल कारण मौन है।

ने. : या ध्यान है ?

वि. : मौन और ध्यान हैं ।

ने. : स्वाध्याय ?

वि. : स्वाध्याय तो है ही । मौन से एक लाभ यह होता है कि भूख कम लगती है । मेरा अपना अनुभव है, जितने-जितने दिनों का मौन बढ़ता जाता है, भूख भी कम लगती है । इसका कारण यह भी है, शारीरिक श्रम कम होता है । केवल शरीर-शुद्धि के लिए बाहर जाते हैं । बोलना कम होने के कारण भी भूख कम लगती है । थोड़ा-सा खाने से काम चल जाता है । उन दिनों पेट भी बहुत हल्का हो जाता है, ध्यान और अध्ययन के लिए यह बात मैंने देखी है कि बहुत ही हल्का भोजन करना पड़ता है । थोड़ा-सा भोजन करना यानी ऊनोदर से शरीर हल्का रहता है । उसमें प्रमाद / आलस्य भी नहीं आता ।

ने. : मौन ध्यान के लिए अधिक उपयोगी है । उससे एकाग्रता और स्मरण-शक्ति भी बढ़ जाती है ।

वि. : स्मरण-शक्ति निश्चित रूप से बढ़ जाती है; यह तो मेरा अपना अनुभव है । दस-बारह साल पहले से कुछ महीनों का मैं मौन रखता आया हूँ । अभी दो-चार साल से ज्यादा मौन नहीं रख पाया हूँ, लेकिन कुछ काल बाद मौन रखने का विचार है ।

ने. : आपने उल्लेख किया था कि आपकी कुण्डलिनी जागृत हो गयी थी, शायद मौन के समय ऐसा हुआ होगा ?

वि. : मुझे दो बातों से कुण्डलिनी-जागृति की बात याद आती है । जब मैं एकाग्र होकर जाप करता, तब कुण्डलिनी जागृत होती । कुण्डलिनी का भी मार्ग होता है । उन दिनों मैंने भोजन भी बहुत थोड़ा कर दिया, नींद भी रात में दो-तीन घण्टे की लेता । जब भी लेटने की कोशिश करता; प्रातः, मध्याह्न जब भी मैं लेटता था, तब तत्काल कुण्डलिनी जागृत हो जाती थी । पेट खाली है और फिर उपवास है, बिलकुल आलस्य-रहित है, शरीर में किसी प्रकार से जरा-सी भी जड़ता नहीं है, ऐसी अवस्था में कुण्डलिनी एक-दो बार जागृत हुई । ऐसी प्रतीति हुई कि चन्द्रमा की किरणों-जैसी किसी वस्तु से मैंने नहा लिया है और मेरी स्मरण-शक्ति बढ़ गयी है ।

कुण्डलिनी जागृत करने का कोई विचार नहीं था । कुण्डलिनी कैसे जागृत की जाती है, यह तो विचार रहते थे; लेकिन यह सहज ही जागृत हो गयी । सन् १९६६ की बात है । चातुर्मास के बाद दिसम्बर-जनवरी में मौन रखा था । उस समय मैं दिल्ली में था । कुण्डलिनी जागृत जरूर हुई थी; यह स्थिति वही थी जिसे हम शुक्ल लेश्या कहते हैं, चन्द्रमा-जैसा प्रकाश ।

ने. : क्या ऐसा प्रकाश चारों तरफ था ?

बि. : चारों तरफ नहीं, अन्दर-ही-अन्दर ।

ने. : अन्दर-बाहर ।

बि. : अन्दर से झक-झक जैसा प्रकाश दिखायी दिया । जैसे आँखों में झलक आ जाती है, वैसी झलक सारे शरीर के अन्दर आ गयी ।

ने. : ध्यान में आपको और कोई विशेषता दिखायी देती है ?

बि. : ध्यान का विषय ऐसा है कि यहाँ अनुभव कहने की भी एक सीमा है । जैसे गूंगे आदमी के गुड़ खाने पर वह बता नहीं सकता है । उसके अंधेरे में मिस्री खाने पर वह उसका रंग बता नहीं सकता । उसका आकार शायद वह बता सकता है, लेकिन वह कह नहीं सकता; इसलिए आत्मा को सुनना या सुनाना संभव नहीं है । इसके लिए गुरु गूंगा है और शिष्य बहरा है । इसी तरह ध्यान के विषय में अनुभव बताना हो, तो कहना चाहिये कि गुरु गूंगा है और शिष्य बहरा है ।

ने. : यह तो बड़ा मुश्किल जोड़ा है ।

बि. : दृष्टान्त के द्वारा यह और स्पष्ट हो जाएगा । जैसे, सुई छोटी हो, छेद भी छोटा हो और धागा मोटा हो तो पिरोते समय मन की एकाग्रता और शरीर की अकम्पता होनी चाहिये; अर्थात् सुई में वह धागा मन-वचन-काय की एकाग्रता के बाद ही पिरोया जा सकता है । मन कहीं हो, वचन कहीं हो तो वह धागा उस सुई में नहीं पिरोया जा सकेगा । बारीक सुई में मोटा धागा एकाग्रता-पूर्वक आँख थोड़ी-सी खोल कर पिरोना पड़ता है । उस समय एक ही विकल्प होता है ।

ने. : यानी आँख भी एक करना होता है । एकाग्रता इतनी कि आँख भी पूरी खोल नहीं सकते ।

बि. : हाँ । इसी तरह शास्त्रों में लिखे गये तत्त्वज्ञान के विषय में है । सूत्र शब्द का अर्थ वाक्य होता है; सूत्र शब्द का अर्थ धागा भी होता है । जैसे सुई में धागा पिरोने से वह सुई कहीं नहीं खोयेगी, क्योंकि उसमें धागा डला है, इसलिए हाथ में आ जाएगी । इसी प्रकार जो आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान ध्यान के द्वारा सूत्र रूप में आता है, वह कभी विस्मृत नहीं होता, हर स्थिति में वह साथ रहेगा । आत्मा में भी तत्त्वज्ञान के जो सूत्र हैं, छोटे-छोटे वाक्य हैं, उन्हें पिरोये रखना है, उनका चिन्तन करते रहना है । उस चिन्तन से मनुष्य की गति अथवा परिणाम उदात्त और शुद्ध हो जाते हैं ।

ने. : फिर वह कहीं खोयेगा नहीं ।

बि. : वह संसार में कहीं खोयेगा नहीं ।

ने : भ्रम या गलतफहमी को तुरन्त पकड़ लेगा ।

वि. : जैसे कहीं चढ़ना हो तो ऊपर रस्सी डाल कर उसे पकड़ कर चढ़ जाते हैं, वैसे ही आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान के सूत्रों को पकड़ कर हम अपने परिणामों को ऊपर ले जा सकते हैं ।

ने : आरोहण कर सकते हैं ।

वि : हाँ । इस ध्यान में किसी-न-किसी का आलम्बन लेना जरूरी है । एक बात और, जैसे, किसी को दीपक लेकर सीढ़ी उतरना है, कहीं हवा से दीपक बुझ नहीं जाए इसलिए दीपक के सामने हाथ रख कर धीरे-धीरे उतरते समय वह इतना एकाग्र हो जाता है कि दीपक की तरफ लक्ष्य उसके मन-वचन-काय का होता है । इसी प्रकार अपना ध्यान बार-बार भंग होता है, उसे बुझने न देने के लिए तत्त्वज्ञान का कोई-न-कोई आलम्बन आवश्यक है । परमात्मा के गुणों का चिन्तवन उपयोगी है । इससे भी ध्यान में एकाग्रता, बड़ी एकाग्रता होती है । मैं स्वानुभव बताता हूँ कि जब मैं कोई भी प्रमाण वाक्य को लेकर ध्यान करता हूँ, तो आनन्द आता है ।

ने : आप अपने चित्त की हथेली पर ध्यान का दीपक एकाग्रता से बराबर अकम्प बनाये रखते हैं; यह, ऐसा एकाग्रता से ही संभव है ।

वि : हाँ । साधु को ध्यान करना है, तो उसे अतीत का शोक किसी प्रकार से कभी भी नहीं करना चाहिये । ध्यान के समय अपना मान हो या अपमान, उसका विस्मरण होना चाहिये और अनावश्यक बातों पर विशेष रूप से जल्प भी नहीं करना चाहिये । उसमें किसी तरह के विकल्प नहीं आने चाहिये । उसे पूर्ण संतोष-वृत्ति रखना चाहिये । यदि ये तीनों पथ्य पाले जाएँ, तो ध्यान में एकाग्रता सहज ही आयेगी । अतीत का शोक होगा, तो हठात् उसे धक्का देना होगा और अनावश्यक बातों पर ब्रेक लगाना होगा यानी अपने मन पर नियन्त्रण करना होगा और वर्तमान में संतोष रखने के लिए प्रसन्नता रखना जरूरी होगा ।

ने : उल्लास होना चाहिये ?

वि. : उल्लास रखना, प्रसन्नता रखना आदि बातों से शारीरिक ऊर्जा बढ़ती है । आत्मा की कान्ति भी बढ़ जाती है ।

ने : यानी अतीत को बिलकुल विस्मृत कर देना होगा ?

वि. : हाँ ।

ने. : और भविष्य की कल्पना भी नहीं करना है ?

वि. : हाँ ।

ने : वर्तमान को जितना भी निर्मल और अविचल बनाया जा सके, उसमें ठहरने का प्रयत्न करना चाहिये ।

वि : हाँ। दूसरी बात, ध्यान के लिए आत्मा का यथार्थ रूप में जानना जरूरी है।

ने : वस्तुस्वरूप का ?

वि : उसके वस्तुस्वरूप को जानना बहुत जरूरी है। आचार्य ने कहा :

पयडी सील सहावो, जीवंगाणं अणाइ संबंधो ।

कणयोवले मलं वा ताणतित्थं सयं सिद्धं ॥

अर्थात् प्रकृति का अपना स्वभाव है। जैसे, जल का स्वभाव अधोगमन है, शीतल है; दीपक है, अग्नि है, उसका स्वभाव ऊर्ध्वगमन है। स्वभाव के विपरीत जल का कभी ऊर्ध्वगमन नहीं होगा और अग्नि का कभी अधोगमन नहीं होगा। अनादि से उनका यह अपना स्वभाव है। इसी तरह जीव का भी स्वभाव ज्ञानचेतना है, ज्ञानोपयोग-दर्शनोपयोग है। उसे ज्ञानोपयोग-दर्शनोपयोग में संकल्प-विकल्प को कम करते रहना और उसके स्वभाव को जानना है। इस तरह साधक के लिए शुद्ध आत्मा को जानना जरूरी है।

ने : शुद्ध आत्मा को जानने के साधनरूप नय के विषय में प्रारंभ में बताइये।

वि : हमारे यहाँ तीन नय मान गये हैं : १. व्यवहार नय, २. अशुद्ध निश्चय नय, ३. शुद्ध निश्चय नय। व्यवहार में आत्मा कर्मों का बन्ध कर लेता है, वह कर्मों को करता है। जैसे, घी की कटोरी है, काढ़े से जल गयी? घी से जल गयी। अरे, घी जला होता, तो पीते कैसे? वह घी तो उसी कटोरी में है, अग्नि ने जला दिया। इस तरह जो भाव कर्म हैं, कषाय आदि से अशान्त होकर बन्ध कर रहे हैं, इसे लेश्या कहा। यह आत्मा और कर्म के संयोग से होती है। जैसे हल्दी और चूना मिलाने से लाल रंग होता है या बनता है। लाल रंग किसका है? हल्दी का है या चूने का है? यह तो दोनों का संमिश्रण है। लड़का किसका है, माँ का है या बाप का? वह तो दोनों का संमिश्रण है। इसी प्रकार द्रव्यकर्म, भावकर्म और आत्मा — इन तीनों के परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध जो हैं, उनसे कषाय उत्पन्न हो जाती है। सर्वथा आत्मा से नहीं, सर्वथा कर्म से नहीं, इसलिए कर्म और आत्मा — दोनों के सहयोग से क्रोध आदि कषाय उत्पन्न होते हैं। इसे भी ठीक तरह से जान लेना जरूरी है।

ने : 'समयसार' की १५ वीं गाथा पर प्रकाश डालिये।

वि : कुन्दकुन्दाचार्य भव्य जीवों से कहते हैं —

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अण्णणमविसेसं ।

अपदेस-संत-मञ्जं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥

जो भव्य आत्मा आत्मा को अवद्व, अस्पृष्ट, अनन्य, और अविशेष (तथा उपलक्षण से पूर्वोक्त गाथा में कथित नियत और असंयुक्त) अप्रदेश का मतलब है अखण्ड । इसी तरह शान्त और सुस्थिर, मज्झं—ये सब बातें कहाँ देखें अर्थात् पस्सदि—आत्मा में जो अनुभव करता है, वही आत्मा सम्पूर्ण जिनशासन को जानता है । जो 'एकं जाणे वो सव्वं जाणे'—जिसने एक अपने आत्मा को जाना यानी अनुभव कर लिया, वह सारी दुनिया को जानता है ।

ने. : और यह ध्यान के बिना हो नहीं सकता है ?

वि. : हाँ; इसलिए यह भी ध्यान रखिये, इसमें यह भी बताया है कि अपदेस—अखण्ड, यदि अखण्ड वस्तु का अनुभव खण्ड-खण्ड रूप से करेंगे, तो दिक्कत बढ़ती जाएगी ।

ने. : सर्वांश होना चाहिये ।

वि. : सर्वांश रूप में हमें ध्यान करना है । 'संत' शब्द इसलिए दे दिया कि साधु शान्तरस-प्रधान है । जो नी रस हैं—शृंगार, करुणा, अद्भुत, बीभत्स, रोद्र, शान्त आदि । इनमें से जो आठ रस हैं, वे लौकिक हैं और जो अलौकिक तथा पारमाथिक है, वह है शान्तरस । शान्तरस आत्मा का शुद्ध स्वभाव है । यद्यपि शान्तरस की पूर्णता का अनुभव शुद्धात्मा ही कर सकता है, तथापि आंशिक रूप में उसका अनुभव हम सब भी करते हैं । ऐसे तो हम हमेशा शान्त रहते हैं, फिर थोड़े-से निमित्त-नैमित्तिक कारण मिल जाएँ, तो अशान्त हो जाते हैं । यह स्थिति शुद्धात्मा में नहीं होती, इसलिए शान्तरस आत्मा का स्वभाव है ।

ने. : फिर भी अशान्त बहुत समय तक नहीं रहा जा सकता । शान्त सर्वथा रहा जा सकता है ।

वि. : आपने बहुत अच्छी बात कही; इसीलिए शान्तरस अध्यात्म को उत्पन्न करने में कारणभूत है । वह स्थायीभाव बनाने में कारणभूत है; अतः 'शान्तरसेन्द्रः' शान्तरस को रसरज कहा है ।

ने. : लौकिक में तो शृंगार को रसरज माना है ।

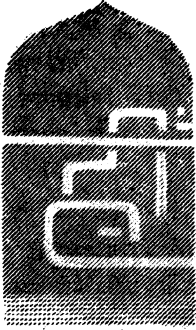
वि. : करुणा को भी कह सकते हैं ।

ने. : लेकिन सारे रसों में श्रेष्ठ तो शान्तरस ही है ।

वि. : हाँ । और सब रसों में वही अधिपति है । उस शान्तरस को सर्वरसों का स्वामी भी मान सकते हैं । श्रेष्ठतम कह सकते हैं और सम्पूर्ण मंगलों की निधि भी शान्तरस है—आत्मा को मंगलमय करने के लिए ।

ने. : इस शान्तरस से मुक्ति तक जा सकते हैं ।

वि. : हाँ । और उसके हृदय प्रदेशों में स्थित होने पर निरूपम सुख की प्राप्ति हो सकती है ।



ने. : यहाँ गाथा में जो 'संत' शब्द आया है, उसका अर्थ शान्त ही है ?

बि. : हाँ। क्योंकि उपसंत में से उप हटा दें, तो संत बचता है। हम साधु को संत पुरुष कहते हैं। यह देशी भाषा का शब्द है। हिन्दी में आमतौर से संत पुरुष ही कहते हैं। संत का मतलब है, शान्त पुरुष। गृहस्थों को शान्त पुरुष क्यों नहीं कहा जाता; क्योंकि वे संसार के पदार्थों के कारण शान्त नहीं रह सकते हैं। बहुत सज्जन शान्ति-प्रिय व्यक्ति को भी संत पुरुष कहते हैं। संत शब्द शान्तरस का ही

द्योतक है। हमारे आचार्य सूत्रभाषी थे, सूत्रज्ञ थे।

ने. : वैसे भी प्राकृत का स्वभाव है, उसमें तालव्य 'श' का प्रयोग नहीं होता है, दन्त्य का ही प्रयोग होता है।

बि. : हाँ। प्राकृत में एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं; इसलिए शब्दार्थ अनेक होते हैं, अनेकान्त को लेकर अनेक अर्थ होते हैं। वे परस्पर विरोधी भी हो सकते हैं।

ने. : इस गाथा का सम्पूर्ण अर्थ करते हुए ध्यान ने थोड़ी मदद की होगी ?

बि. : बहुत मदद की। मैं इस गाथा को एकाग्रतापूर्वक गाता था। अपना आत्मा अबद्ध है, अस्पृष्ट है, इस तरह से मन में चलता था; यह मनन विचार में, चिन्तन में होता था।

ने. : स्वाध्याय करते समय ?

बि. : हाँ। स्वाध्याय करते समय और आँख मीच कर चिन्तन करते समय—यह आत्मा अबद्ध है, अस्पृष्ट है, मानना ही होगा शुद्ध नय की अपेक्षा से, द्रव्य की दृष्टि से आत्मा शुद्ध ही है। 'आत्मा तो कर्मों से बँधा हुआ है' यह ध्यान में रखना होगा; इसलिए समयसार 'शान्तस्वरूपोऽहं' आत्मा के जितने भी विशेषण हैं, उसका ध्यान और चिन्तन किया जाए।

ने. : क्या अभी भी आप इस गाथा का पाठ करते रहते हैं ?

बि. : हाँ। इस गाथा का अर्थ करते समय इसको जिनशासन का विशेषण माना जाए। अपदेस कहने से द्रव्यश्रुत संत कह दिया। द्रव्य की बजाय भावश्रुत कह दिया। 'मज्झ' का किसी ने अर्थ ही नहीं किया। हमारे जयसेनाचार्य ने 'मज्झ' शब्द को ऐसे ही छोड़ दिया।

ने. : आपका ध्यान इस ओर गया।

बि. : मेरा ध्यान गया। बहुत-से विद्वानों ने इस पर प्रकाश भी डाला है,

परन्तु गाथा का अर्थ बैठता नहीं है। अनेक ग्रन्थों के आधार पर अर्थ लगाने पर मुझे स्पष्ट हुआ कि अपदेस का अर्थ अखण्ड परमाणु है। हमारे आचार्य कहते हैं कि दृष्टान्तों का अर्थ एकदेश लेना चाहिये। जैसे- 'नामकर्म क्षयापन्नं अणुरूपं जिनेश्वरम्'- जिनेश्वर ! नामकर्म के क्षय होने से आप अणुरूप हैं। अणुरूप कूट आत्मा नहीं, अणु जैसे अखण्ड है, वैसे आप अखण्ड हैं। शुद्ध परमाणु अखण्ड है, तो शुद्ध आत्मा भी अखण्ड है; इसलिए एकदेश अखण्डता का बोध कराने के लिए यह कहा है।

ने. : यह तो उपमा है। उपमा में सम्पूर्णता तो नहीं होती, झलक होती है। जैसी गुणधर्म की झलक आप देना चाहते हैं। अणु में वही बात कही गयी है; अनुमान लगाया गया है।

बि. : अणु का ध्यान लगाने को भी कहा है। 'नियमसार' की टीका में बताया भी है; इसलिए निरीह वृत्ति होनी चाहिये।

ने. : निरीह से क्या मतलब लेते हैं ?

बि. : यानी कोई इच्छा नहीं होनी चाहिये।

ने. : कामना-मुक्त ?

बि. : कामना-युक्त होना चाहिये। जिस ज्ञान में और ध्यान में यदि मोह का अंश हो, तो वह स्थायी रूप से बहुत देर तक टिक नहीं सकता।

ने. : मुक्ति की कामना तो रहेगी ?

बि. : मुक्ति की कामना दसवें गुणस्थान तक रहेगी। वह भी कैसे ? मैं जल्दी मोक्ष जाऊँ। यह भी मोह का पर्याय होने से नहीं होनी चाहिये। जैसे लौकिक में आप लोग कहते हैं कि 'बिन मांगे मोती मिले, मांगे मिले न भीख'।

ने. : याचना करने से वह नहीं मिलती।

बि. : मुक्ति सहज साध्य है, वह प्रयत्न-साध्य सर्वथा नहीं है। फिर भी प्रयत्न करना पड़ता है।

ने. : निष्काम होना चाहिये।

बि. : निष्काम होने में बहुत लाभ हैं। मांगने पर तो थोड़ा-सा ही पा सकते हैं। मोह का पर्याय होने से लोभ कषाय का ही अंश है। परमाणु-मात्र लोभ-कषाय मोह का कारण है। वह आत्मा को परिणामों में ऊपर नहीं उठने देता।

ने. : यही तो सबमें बड़ा घातक है।

बि. : इसलिए संज्वलन लोभ कषाय दसवें गुणस्थान तक रहती है। दसवें गुणस्थान तक सराग ध्यान भी कहा है। राग का अंश परमाणु-मात्र भी परिणाम में होने से मोह के कारण उसे मुक्ति नहीं मिल सकती।

ने. : फिर ग्यारहवें गुणस्थान से साधक/साधु मोहमुक्त चलने लगता है ?

बि. : यदि वह क्षपक श्रेणीवाला होगा, तो तेरहवें गुणस्थान में जाएगा। जो

निर्ग्रन्थ मुनि कहलाते हैं, वे वास्तव में बारहवें गुणस्थान तक कहलाते हैं; इसके बाद केवलज्ञान होगा।

ने. : रास्ता निश्चित हो जाता है।

वि. : हाँ। रास्ता तो निश्चित हो ही जाता है। उपशम वाला होगा, तो कभी गिर भी जाता है।

ने. : ध्यान के लिए यह एक बहुत अच्छी गाथा है।

वि. : हाँ। बहुत अच्छी है। इसमें सब दृष्टान्तों के साथ दिया है कि आत्मानुभव कैसे करें? मैं त्रिकाली शुद्ध हूँ, कमलवत् निर्मल और अबद्ध हूँ और त्रिकाली स्वभाव में अस्पृष्ट हूँ, जैसे सजल कमलवत्, कर्म से अस्पृष्ट हूँ, पृथक् हूँ। इसी तरह मेरा त्रिकाली स्वभाव नहीं है; क्या नहीं है? व्यंजन पर्याय। द्रव्य दृष्टि से मैं घटा नहीं हूँ। इसी तरह आचार्य फिर कहते हैं, समस्त पर्यायों में स्वर्ण नाना रूप तो धारण कर लेता है, फिर भी नर-नारी का पर्याय रूप मेरे आत्मा का नहीं है। मैं अभेद रूप हूँ। वैभाविक परिणाम मेरे नहीं हैं। जैसे उष्ण जल है, वैसे कषाय-युक्त मेरा स्वभाव नहीं है। इसी प्रकार आत्मा के साथ एक-एक बात को जोड़ते हुए यथार्थ आत्मा को जान लेना चाहिये; फिर अनुभव के लिए प्रयत्न करना चाहिये। ध्यान में उस आत्मा को सर्वांग रूप से, सम्पूर्ण रूप से जहाँ तक हमारी बुद्धि क्षयोपशम की हो वहाँ तक, उसे जानने की ठीक-ठीक कोशिश करनी चाहिये। यदि ध्यान में स्थिरता हो, तो यह हो सकता है।

ने. : आँखें बन्द कर लें, तो अन्धेरा होता है। यदि ध्यान करते हैं, तो अन्दर उजाला होगा ही।

वि. : हाँ। आपने अच्छी बात कही।

ने. : इस तरह का अध्ययन/स्वाध्याय होता है, तो वह ध्यान में प्रकाश उत्पन्न कर देता है।

वि. : सही बात है।

ने. : यदि स्वाध्याय-प्रधान अध्ययन नहीं होगा, तो अन्धेरा-ही-अन्धेरा है।

वि. : यद्यपि 'लघुतत्त्व स्फोट' में भगवान् के लिए शान्तरस के बारे में थोड़ा-सा बताया है।

ने. : यह 'लघुतत्त्वस्फोट' किसका है?

वि. : यह अमृतचन्द्राचार्य का है।

ने. : यह कौन-सी शताब्दी का है?

वि. : दसवीं शताब्दी का समझिये। इसकी एक गाथा में कहा गया है—
'हे भगवन्, आपका जो स्वभाव है, वह तीन रसोंवाला था; संकीर्ण रस बोलें तो लौकिक रस वाला था'।

ने. : सीमित था ।

बि. : खास स्वभाव वाला नहीं था । बदलता रहता था — करुणारस, रौद्ररस, वीभत्सरस ।

ने. : तरंगों की तरह था ?

बि. : हाँ । जब आपको केवलज्ञान-रूपी लक्ष्मी प्राप्त हो गयी, तो आपने अपने को शान्तरस — प्रशान्तरस वाला बना लिया ।

ने. : वह तो स्थायी हो गया ।

बि. : यद्यपि जैनाचार्यों ने वीररस-प्रधान भी कहा है; आप वीर हैं । बहिरंग शत्रु को जीतने वाले अपने को वीर कहते हैं । आपने कर्मशत्रु को अन्दर से उखाड़ कर फेंक दिया, तो आप वीररस वाले हैं, वे वीररस को आत्मा पर लाये ।

ने. : आत्मा को कर्ममुक्त करने के लिए; अतिवीर भी तो कहा । वे वीरता को अतिक्रान्त कर गये ।

बि. : बहुत अच्छा कहा आपने ।

ने. : यह शान्तरस हममें वैराग्य उत्पन्न करता है । यह ध्यान के लिए बहुत आवश्यक है । ध्यान करते-करते व्यक्ति शान्तरस में अवगाहन करने लगता है, ऐसा मानना चाहिये ।

बि. : इसलिए 'स्व-समय' को आत्मदीक्षा कहा है अर्थात् आत्मा स्वयंदीक्षा यानी ज्ञान ही दीक्षा है और केवलज्ञान-प्राप्ति के लिए साधना है — ध्यान । दीक्षा लेते समय ज्ञान ही दीक्षा है ।

ने. : ज्ञान-दीक्षा होनी चाहिये; देह-दीक्षा तो होती नहीं ।

बि. : ज्ञान-दीक्षा ही ध्यान-दीक्षा है । यह ध्यान-दीक्षा केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए है; इसलिए हम जो क्रियाकाण्ड आदि करते हैं, वे तो एक ही सिक्के के दो पहलु हैं अन्तरंग तपस्या और बहिरंग तपस्या ।

ने. : ज्ञान के कारण कोई विचलन नहीं हो सकता ।

बि. : हर समय ज्ञान बनाये रखना जरूरी है । कुन्दकुन्दाचार्य ने भी कहा : भरतखंड में यह पंचमकाल है; फिर भी यहाँ हम ध्यान कर सकते हैं और ध्यान में सभी लोग स्थिर हो सकते हैं । मैं ऐसा नहीं मानता कि पंचमकाल में ध्यान नहीं होता । एक जरूरी बात और ध्यान में रखना है कि सौ व्यक्ति परीक्षा में बैठें, तो प्रथम श्रेणी में एक-दो ही उत्तीर्ण होंगे । इसी तरह ध्यान में भी है । सौ व्यक्ति ध्यान कर रहे हैं, उनमें एक अपने मन-वचन-काय को एकाग्र करके ध्यान कर रहा है, स्थिर हो रहा है । कोई क्षण-क्षण में अपनी स्थिति बदलता है । ध्यान में असंख्य भाव या परिणाम हो सकते हैं ।

ने. : सबकी अलग-अलग पात्रता है; एक-सी पात्रता ध्यान की सबकी कैसे हो सकती है ?

बि. : आपने अच्छी बात कही। जैसे कोई दुकान में बैठता है, वह एक घण्टे में हजारों कमा लेता है, और कोई सुबह से शाम तक बठने पर भी दस कमाता है। कोई कमाता ही नहीं है; कोई नुकसान भी उठा लेता है। इसी तरह यह जरूरी नहीं कि ध्यान में लाभ हो ही; किन्तु प्रयत्न अवश्य करना है।



ने. : यदि ध्यान आर्त्त या रौद्र में चला गया, तो घाटा हो जाएगा।

बि. : इसलिए घाटे के लिए भी तैयार रहना है। घोड़े पर बैठूंगा, तो गिर जाऊंगा, तो क्या घोड़े पर बैठेगा ही नहीं? ध्यान पर बैठूंगा, तो जमेगा नहीं, इसलिए क्या वह ध्यान पर बैठेगा ही नहीं?

ने. : असफलताओं में से सफलता उत्पन्न हो सकती है।

बि. : जीवन तो आदिकाल से असफल ही रहा है। सफलता के लिए हमें प्रयत्न करना है।

ने. : 'असफल' शब्द में 'सफल' शब्द तो है ही। 'अ' को हटाना है।

बि. : ध्यान के द्वारा आत्मोपलब्धि ही श्रेयस्कर है।

ने. : महाराजश्री, आपके सान्निध्य में गत दो दिनों से यहाँ स्वाध्याय ही हो रहा है। मेरा केन्द्र ध्यान पर ही रहा है। विविध विषयों पर बातचीत हुई, अब कृपया आप नवनीत-रूप में कहिये।

बि. : यह ध्यान में रखना जरूरी है, जब हमें यह प्रतीति हो जाए कि अब हम बच नहीं सकते—उपसर्ग, रोग आदि से तो हाय-हाय करने की बजाय शान्ति से मरण के लिए सिंहवृत्ति—शेर के जैसे प्रतिकार करते रहना है।

ने. : हम सिंहवृत्ति से बैठ जाएँ।

बि. : सिंहवृत्ति होनी चाहिये। प्रतिकार के लिए मना नहीं किया है वह उपचार के लिए करना है; लेकिन जब प्रतिकार संभव नहीं हो, वहाँ 'प्राण-प्रयाण वेलां प्रतिक्रिया...' प्राण जा रहा है, तब क्या प्रतिक्रिया करेंगे? अब तो प्रतिक्रिया यही करनी है कि शरीर आत्मा को छोड़ने से पहले आत्मा अपने शरीर को शान्ति से, सन्तोष से, अपने हाथ से छोड़ दे।

ने. : शरीर से उतरे, इससे पूर्व वह स्वयं उसे उतार कर रख दे।

बि. : हाँ। मरण को मांगलिक बना सकते हैं। जब जन्म और विवाह को महोत्सव कहते हैं, तो मृत्यु को महोत्सव क्यों नहीं बना सकते? मृत्यु पर परमात्मा के ध्यान के साथ जोड़ मिलाना है और शरीर छोड़ देना है, इस तरह मृत्यु अनन्त

आनन्द का कारणीभूत है। ऐसे ही जो भव्यजीव हैं, वे संसार में निकट भविष्य में मुक्त हो सकते हैं, दो-तीन भव, ज्यादा-से-ज्यादा सात भव। परमात्मा के ध्यान के साथ जिसने शरीर को छोड़ा, उसकी मृत्यु मंगलमय है। शूरवीर को ज्ञात है कि मृत्यु आयेगी, इसलिए वह कभी मृत्यु से डरता नहीं, भयभीत नहीं होता; वह यथार्थ ज्ञानी जो है, वह कभी दुःखी भी नहीं होता।

छोटा-सा दृष्टान्त देता हूँ। एक बच्चा था। माँ-बाप मेले में गये थे। एक मिट्टी का खिलौना बहुत सुन्दर था। बच्चे के चाहने पर उसे खरीद लिया। वह बच्चा उस खिलौने के साथ खूब खेलता था। एक बार सीढ़ी से उतरते समय उसके हाथ से वह खिलौना गिर गया और उसके टुकड़े-टुकड़े हो गये। वह फूट-फूट कर रोने लगा। माँ-बाप रो नहीं रहे थे, वे प्रसन्न थे और मुस्करा रहे थे। वे इसलिए नहीं रो रहे थे, क्योंकि वे जानते थे कि खिलौना मिट्टी का था, वह स्वभावतया टूटने वाला ही था। बालक को यह तो मालूम है कि वह मिट्टी का है, लेकिन राग अथवा मोहवश वह जानता नहीं था कि वह टूट भी सकता है।

ऐसे ही जो सम्यग्दृष्टि होगा, ज्ञानी होगा, वह कहेगा या समझेगा कि मिट्टी-जैसा यह शरीर है, इसे हम शाश्वत या एक-सा बनाये नहीं रख सकते हैं। भौतिकवादी का सिद्धान्त है कि शरीर को अन्त तक बचाओ, पर अध्यात्मवादी का निश्चित मत है कि यदि शरीर जाना चाहता है, तो प्रसन्नतापूर्वक उसकी बिदाई कर दो।

ने. : शरीर का सम्यक् या सम्पूर्ण उपयोग करने के बाद उसे छोड़ने में क्या आपत्ति है ?

वि. : मकान पुराना जर्जर हो गया, उसकी लकड़ी, पत्थर आदि गिरने लगे, तो उसे गिरने से पहले ही छोड़ देना बुद्धिमानों का काम है, अध्यात्मवादियों का कर्तव्य है।

ने. : जब मकान खाली करने का समय आ गया . . .

वि. : फिर हम कहेँ कि ठहरेंगे, तो दुःख उठाना पड़ेगा।

ने. : ज्ञानी पता लगा लेता है या उसे अपनी शारीरिक स्थिति का वास्तविक पता लग जाता है।

वि. : हमारे यहाँ शास्त्रों में कहा है, जो अध्यात्मवादी होगा :

भक्तइष्णायविही जह्णमंतोमुहुत्तयं होदि ।

बारसवरिसा जेट्टा तम्मज्जे होदि मज्झमया ॥

(गोम्मटसार-कर्मकाण्ड, 60)

व्यक्ति बारह वर्ष पहले पता लगा ले कि अब मृत्यु आने वाली है, तब उसे निरीह वृत्ति से, विरक्तता से, और लौकिक सब बातों से सब संपर्क कम करके अध्यात्म में लीन होने की कोशिश करना चाहिये। बुद्धि या शक्ति की न्यूनता के कारण यदि बारह साल पहले नहीं जान सकते, तो छह साल; छह साल नहीं, तो

तीर्थकर : अप्रैल ८३/११५

तीन साल; एक साल, छह महीने, एक महीना, पन्द्रह दिन, सप्ताह; सप्ताह भी नहीं तो एक दिन, एक दिन भी नहीं तो ४० मिनट, या फिर अन्तमूर्हर्त में भी जान कर अपने आत्मा में स्थिर हो कर शरीर को छोड़ सकता है और परमात्मा के ध्यान में मग्न हो सकता है। मैं सभी पापों से मुक्त हो जाता हूँ, सबसे मेरा कोई संबन्ध नहीं है, खानपान से मैं व्रत लेता हूँ, दुनिया में मेरी कोई इच्छा नहीं है।

‘योगवाशिष्ठ’ में आया है कि राम से जब पूछा गया कि अब आपकी क्या इच्छा है? उन्होंने उत्तर में कहा, मैंने दुनिया की कोई इच्छा नहीं रखी। जिस प्रकार सभी इक्ष्वाकुवंशी लोगों ने आत्मा में शान्ति स्थापित कर ली, उसी प्रकार मैं भी शान्ति स्थापित करना चाहता हूँ। महाकवि कालिदास ने भी लिखा है, बाल्या-वस्था में सारी झंझटों को छोड़ो और विद्याध्ययन में प्रवीण बनो। वे माता-पिता के ऋण से थोड़ा उऋण होने के लिए गृहस्थ रहते हैं। इक्ष्वाकुवंशियों की यह परिपाटी रही, आदिनाथ भगवान् कुछ काल गृहस्थ रहे: बाल सफेद होने लगे, बुढ़ापा पकड़े इससे पहले ही आप मुनि बन जाइये, विरक्त हो जाइये और मृत्यु निकट आ जाए, तो मन-वचन-काय की एकाग्रता करके शरीर को छोड़ दीजिये। सम्यग्दृष्टि को इसका पूर्वाभास हो जाता है।

ने. : उसे पहले से ही संकेत मिल जाते हैं। मृत्यु के आसार नजर आने लगते हैं। वातावरण भी सूचित करता है। शरीर से भी प्रकट होने लगता है। ऐसे क्षण का रचनात्मक उपयोग करना चाहिये।

वि. : मृत्यु के चिह्न भी शास्त्रों में बताये गये हैं। ‘मृत्युसंचय’ नामक ग्रन्थ में लक्षण बताते हुए लिखा है, जैसे : स्नान करने के बाद धोती से तत्काल पानी उड़ जाता है, अपनी जो प्रतिच्छाया पड़ती है, उसका देखने के बाद फिर दिखायी नहीं देना, इत्यादि ऐसे मृत्यु को पहले से जानने के लिए अनेक साधन या चिह्न बताये हैं।

ने. : कुछ लोगों ने देख रखा है कि मृत्यु के पूर्व ऐसा होता है।

वि. : इसी प्रकार ज्योतिषशास्त्र के अनुसार आयु की मर्यादा होती है। जन्म-कुण्डली से भी पता लग सकता है। उससे भी थोड़ा जान कर वह मृत्यु से सजग रह सकता है। जितना भी उसे काम करना है, वह कर ले।

ने. : लेकिन यह स्वाध्याय तथा ध्यान के बिना हो नहीं सकता; और न ही उनके बिना मृत्यु को सुखद/मंगलमय बनाया जा सकता।

वि. : अमावस्या को सूर्यग्रहण लगेगा, पूर्णिमा को चन्द्रग्रहण लगेगा — यह काल निश्चित है। जैसे यह निश्चित है, वैसे ही अपने आयुर्कर्म के अनुसार मृत्यु निश्चित है ही।

ने. : इस बातचीत के समापन में कृपया कुछ कहिये।

वि. : बात यह है, जैन समाज में ध्यान की पद्धति की परिपाटी तो है ही, इसमें संशय नहीं। व्रती लोग सामायिक करते हैं; परन्तु सामान्य गृहस्थ हैं, श्रावक हैं, उनमें यह वृत्ति कम है। ध्यान की ओर ध्यान आकृष्ट हो, यही समापन में कहना है। □ □

आलम्बन में व्यक्त के साथ अव्यक्त को अवश्य देखें

डॉ. नेमीचन्द जैन : महाराजश्री, ध्यान के सन्दर्भ में बहुत सारे विषयों पर आप से विचार-विमर्श हुआ है। ध्यान में / ध्यान द्वारा जो निर्विकल्पता होती है/ आती है, उस पर कृपया प्रकाश डालिये।

एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्द : सम्यग्दृष्टि के आत्मा में जब सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य रूपी रत्नत्रय की प्राप्ति हो जाती है, वह ब्रती हो जाता है, तब उसकी जो ज्ञानचेतना है, वह निर्विकल्पता की ओर मुड़ने लगती है। शुद्धात्मा से जो ज्ञानचेतना है, वह भी वास्तव में निर्विकल्प ज्ञान की ही है, क्योंकि जितने काल तक शुद्ध आत्मानुभव होता रहता है, उतने ही काल तक उपयोगात्मक ज्ञानचेतना कहलाती है और उस काल में शुद्धात्मा से हट कर दूसरे पदार्थों की ओर ज्ञान जागता नहीं है; इसलिए उस समय संक्रान्ति के न होने से उपयोगात्मक ज्ञान को ही 'पंचास्तिकाय' के अनुसार निर्विकल्प कहा गया है।

ने. : क्या उपयोगात्मक ज्ञान निर्विकल्प है ?

वि. : हाँ। एक बात खयाल में रखने की है। सामान्य आत्मा के ज्ञान के दो उपयोग माने गये हैं। दर्शन तो सामान्य अवलोकन है, जिसे अवग्रह कहते हैं, वह निर्विकल्प है अर्थात् हम तत्काल किसी पदार्थ को देखते हैं, तब दर्शन में निर्विकल्प दशा होती है। फिर यह दीवार है, यह मूर्ति है, यह मन्दिर है इत्यादि विकल्प उठते हैं, यह मूर्तिक है। हमारे आत्मा में अनादि से इस जीव में दर्शन तो निर्विकल्प है ही; ज्ञान को निर्विकल्प बनाने के लिए ध्यान की आवश्यकता है।

ने. : दर्शन निर्विकल्प आरंभ से ही है।

वि. : हाँ। यह सभी आत्माओं में स्वयंसिद्ध है।

ने. : चाहे वह किसी भी जन्म-जन्मान्तर में रहे; वह आत्मा का गुण ही है।

वि. : पंचेन्द्रिय सैनी जीव का भी किसी पदार्थ को सामान्य तौर पर देखना निर्विकल्प है। यह जो निर्विकल्पता है, वह तो आत्मा में स्वयंसिद्ध ही है। केवल ज्ञान को निर्विकल्प बनाने के लिए ध्यान और योग की आवश्यकता है। यहाँ 'योग' शब्द का अर्थ मन-वचन-काय की एकाग्रता है।

ने. : इससे यह स्पष्ट हो गया कि दर्शन तो निर्विकल्प होता ही है, लेकिन ज्ञान निर्विकल्प नहीं होता, उसे हम ध्यान के माध्यम से निर्विकल्प बना सकते हैं।

वि. : हाँ। वात यह है, एक विकल्प नष्ट होने के बाद जब तक दूसरा विकल्प उत्पन्न नहीं होता, उस सूक्ष्म मध्य समय में निर्विकल्प रूप आत्मा के परिणाम स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं।

ने. : एक विकल्प तो है ही मन में, कोई-न-कोई रहेगा, इसके बाद जैसे ही दूसरा विकल्प आना चाहता है, तो बीच में एक रेखा दिखायी पड़ेगी, उस सूक्ष्म रेखा पर विकल्प शायद नहीं होंगे।

वि. : एक विकल्प विनष्ट होने से दूसरे विकल्प के उत्पन्न होने के मध्य हम एकाग्र हो कर संवर और निर्जरा कर सकते हैं।

ने. : इसका मतलब यह हुआ कि पहले जो विकल्प था, वह तो भूत/अतीत था और आने वाला जो विकल्प है, वह है भविष्य और जो बीच की रेखा है, वह है वर्तमान।

वि. : वर्तमान काल ही निर्विकल्प दशा है, वह बहुत उपादेय है। एक बात और, जो हमारे व्यक्त विकल्प हैं, वे नष्ट हो सकते हैं, कुछ क्षण के लिए; परन्तु जो अव्यक्त विकल्प आत्मा में हैं, उनसे निर्विकल्प दशा तो आगे के बारहवें गुण-स्थान के अन्त में प्राप्त होती है।

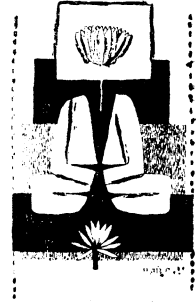
ने. : अव्यक्त का कहना तो मुश्किल है, वह बाद में होता है; लेकिन जो व्यक्त विकल्प हैं, उन्हें नष्ट किया जा सकता है।

वि. : दसवें गुणस्थान तक वे अव्यक्त रहते ही हैं — सूक्ष्म लोभ कषाय होने के कारण; परन्तु चौथे, पाँचवें, छठे गुणस्थानों में अभ्यास दशा में जो व्यक्त विकल्प होते हैं, वे नष्ट हो सकते हैं और जो अव्यक्त हैं, वे रहते हैं।

ने. : व्यक्त और अव्यक्त विकल्प का कोई उदाहरण दीजिये।

वि. : जैसे, हम सोचते रहते हैं, यह व्यक्त विकल्प है; और हम एकाग्र हो जाएँ, तो आत्मा के अन्दर जो प्रक्रिया चलती रहती है जिसका हमें भान नहीं रहता, परन्तु शास्त्रों के अनुसार वे होते हैं। ऐसा कहा गया है, जो सत्य है क्योंकि पानी के ऊपर हवा के कारण तरंगें हैं, वे बन्द हो सकती हैं, परन्तु पानी के अन्दर प्रक्रिया चलती रहती है, तल में या बीच में, कहीं भी हमें दिखायी नहीं देती हैं, वह अव्यक्त रूप ही है।

ने. : यह उदाहरण ठीक है। पानी के ऊपर जो तरंगें उठती हैं, वे तो दिखायी देंगी, वे व्यक्त हैं और पानी के भीतर तल में जो हलचल चल रही है, वह ऊपर



नहीं दिखायी देगी, वह अव्यक्त है। इस तरह एक विकल्प, और फिर आने वाले विकल्प के बीच में कोई रेखा है।

वि. : जैसे, फूल है, वह दिखायी देता है, परन्तु उसमें जो खुशबू-मुग्धांधि है, वह दिखायी नहीं देती।

ने. : यद्यपि मूर्त तो है, लेकिन आँखों के लिए विषय नहीं है, इसलिए दिखायी नहीं देती।

वि. : दूसरी बात, वह जो निर्विकल्प दशा है, उसमें यदि मोह का अंश नहीं है, तो वह संवर-निर्जरा का कारण है। कितने ही परमाणु अमृत हो, परन्तु उसमें थोड़ा-सा भी परमाणु परिमाण भी विष का अंश हो, तो वह मारक है। जो मोह का अंश है, वह ध्यान में विघ्न डालने वाला है; इसलिए निर्विकल्प दशा के लिए प्रयत्न करते रहना चाहिये।

ने. : दो विकल्पों की मध्यवर्ती जो शून्यता है, वह तो निर्विकल्प है, उसका आभास मिल जाता है, उसका उपयोग हम करें, तो शायद बड़ी निर्विकल्पता प्राप्त हो सकती है।

वि. : मन्द गति से, धीरे-धीरे जब हम श्वासोच्छ्वास लेते हैं। और आरंभ में किसी मन्त्र का आलम्बन लेते हैं ठीक जैसा कि शिवभूति ने कभी 'तुषमास' का आलम्बन लिया था, वह साधारण-सा द्रव्यश्रुत है, बाद में उसका यह आलम्बन छूट जाता है और वह अपनी निर्विकल्प दशा में पहुँच जाता है; यानी वह आलम्बन छोड़ देता है, या फिर वह सहज ही छूट जाता है।

इसलिए आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती 'द्रव्य संग्रह' में कहते हैं :

जं किंचिवि चिंततो णिरीह्वित्ती हवे जदा साह ।

लङ्घणय एयसं तदाहु तं तस्स णिच्छयं ज्ञाणं ॥

(द्र., ५५)

जो परमाणु शुद्ध अखण्ड है, उसका भी हम ध्यान के लिए आलम्बन लेते हैं; वह आलम्बन भी अपने-आप छूट जाता है। निर्विकल्प दशा चौथे और पाँचवें गुणस्थान में बहिरंग विकल्प है। क्षण-काल के लिए वह बहिरंग विकल्प को छोटे गुणस्थान तक छोड़ सकता है।

ने. : उसके शान्त होने के बाद निर्विकल्पता की अनुभूति होने लगती है।

वि. : मन-वचन-काय से तीन गुप्तियाँ हैं। शुद्धोपयोग भी गुप्ति है, वह आगे की बात है, आठवें गुणस्थान से। शुभोपयोग से भी मन-वचन-काय की एकाग्रता होती है, जो शुद्धोपयोग की ओर बढ़ने के लिए कारणीभूत है।

ने. : गुप्ति का पालन व्यक्ति प्रयत्न से करेगा या सहज ही ?

वि. : प्रारंभ में तो प्रयत्न से करना है। बाद में वह सहज अपने-आप हो

जाता है। एक बात और है, शास्त्रों में भी बताया है और स्वानुभव भी है, जब हम किसी छोटे-से मन्त्र को नित्य गुणगुनाने लगते हैं, तब जो शब्द बोलते हैं—गमो अरहंताणं, सोऽहंम् — बीजाक्षर मन्त्र-शब्द बोलते समय अठहत्तर छोटी-छोटी नसें हैं, वे एकत्रित हो जाती हैं, केन्द्रित हो जाती हैं।

ने. : वे समूह बना कर काम करने लगती हैं, एक हो जाती हैं।

वि. : वे एक हो जाती हैं और यदि उनमें उत्कटता लानी है, तो उपवास-दशा में लायी जा सकती है; क्योंकि उपवास-दशा में नाड़ियाँ बहुत कम काम करती हैं, इसलिए मन्त्रों के द्वारा एकाग्रता भी जल्दी हो जाती है।

ने. : उन नाड़ियों में ज्ञान बहने लगता है ?

वि. : हाँ। यह मानना चाहिये। वाह, बड़ी बात आपने कही है। आलम्बन के बारे में एक बात है, कि जैसे, भगवान् के सामने हम फूल चढ़ाते हैं, फूल चढ़ाना कोई धर्म नहीं है, पर फूल चढ़ाते समय हमारे जो उत्कृष्ट भाव होते हैं, भीतर/अन्तर में जो भक्ति मूलक/परक भाव होते हैं, वह धर्म है; जैसे, मेंढक भगवान् के चरणों में चढ़ाने के लिए फूल मुँह में दबा कर ले जा रहा था। उसने चढ़ाया भी नहीं, और वह जूठा फूल चढ़ाता भी क्या? परन्तु उसके चढ़ाने के भाव हो गये। भाव के कारण ही तो वह मेंढक स्वर्गगति को गया। इसी तरह किसी वस्तु, चावल, फूल आदि का चढ़ाना धर्म नहीं है, परन्तु इसके पीछे जो उत्कृष्ट भाव है, वही उपादेय है।

ने. : वह अव्यक्त है।

वि. : जो अव्यक्त भाव है, वही भक्ति है।

ने. : लेकिन लोग तो व्यक्त में से लेते हैं।

वि. : व्यक्त में जाने के कारण ही ऐसा होता है।

ने. : आलम्बन में व्यक्त के साथ अव्यक्त को अवश्य देखना चाहिये।

वि. : हाँ।

ने. : यह जो आराधना है, पूजा है, इसकी पृष्ठभूमि में भी ध्यान है।

वि. : यह आलम्बन है। कुन्दकुन्दाचार्य ने 'प्रवचनसार' में कहा है कि जो खोज है, वह आत्मा में है, वह शास्त्रों और शब्दों में नहीं होनी चाहिये, आलम्बन खोजने के लिए है। यह 'प्रवचनसार' की ८० वीं गाथा से स्पष्ट है :

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तोहं ।

सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥

जो पुरुष भव्यात्मा द्रव्य-गुण और पर्यायों द्वारा अरहन्त भगवान् को जानता है वही आत्मा को जानता है और निश्चय से उसी का मोह विनाश को प्राप्त होता है।

अरहन्त भगवान् जैसा स्वरूप है निश्चय तप से आत्मा का भी वैसा स्वरूप है, अतः अरहन्त के ज्ञान से आत्मा का ज्ञान स्वभाव-सिद्ध है। जिस पुरुष को सौ टंच सुवर्ण के समान शुद्ध आत्मस्वरूप का बोध हो गया है उसका मोहकर्म शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

इसलिए अरहन्त भगवान् का चिन्तवन हमारे शास्त्रों में बहुत बार कहा है, क्योंकि यह जो आलम्बन है, वह प्रारंभ में बहुत आवश्यक है।

ने. : बिना आलम्बन के कुछ हो भी नहीं सकता।

वि. : परन्तु आलम्बन ही हमारा सब कुछ करेगा, ऐसा भी नहीं है।

ने. : वह सर्वस्व नहीं है।

वि. : नहीं है। जैसे, हमें समुद्र पार करना है, तो जहाज का सहारा लेना है। किनारे पर पहुँचने पर उस जहाज की क्या जरूरत है? निर्विकल्प दशा में पहुँचने के बाद आलम्बन की कोई जरूरत नहीं है। गुरु से हमने ध्यान-पद्धति की शिक्षा तो ले ली, परन्तु हमें इसका विशेष ध्यान रखना है, नदी पार करने के लिए नाव का सहारा लें, परन्तु किनारे पर पहुँचने पर नाव की क्या जरूरत है? निर्विकल्प दशा में आलम्बन की क्या आवश्यकता है? मात्र प्रारंभ में उसकी जरूरत है।

ने. : ज्यादातर लोग जहाज तट पर आ गया है, फिर भी बैठे हुए हैं।

वि. : तट पर आने के बाद कोई नाव को सिर पर ले कर नहीं चलता है, वहीं छोड़ जाता है।

ने. : कुछ लोग सोचते हैं कि जमीन पर भी नाव चलायेंगे।

वि. : लेकिन वह चलती नहीं। निर्विकल्प दशा में जो साधन हैं, वे चल नहीं सकते। उन्हें जबरदस्ती छोड़ना ही होगा, क्योंकि बिना छोड़े चल नहीं सकता। दूसरी बात, जो भाव है, वही प्रधान है। जो धर्म है, वह आत्मा के गुणविकास का कारण है और भाव शब्द का अर्थ है आत्मरुचि।

ने. : भाव यानी आत्मरुचि।

वि. : जब आत्मरुचि बढ़ जाती है, तो व्यक्ति निर्विकल्प दशा में अपने-आप] पहुँच जाता है।

ने. : यानी बहुत से लोग शरीर में आत्मभाव समझते हैं। वहाँ से हट कर जब वह शुद्ध आत्मभाव में आ जाएँ, तो ही वे निर्विकल्प की ओर जाएँगे।

वि. : हाँ। इस तरह उन्हें आत्मा में विश्वास होना चाहिये। जैसे पुष्प में गन्ध, तिल में तेल, काष्ठ में अग्नि, ईख में गुड़, दूध में घी विद्यमान है। यह हमें विश्वास के लिए विवेकपूर्वक देखना चाहिये। जैसे, मेंहदी के पत्ते हरे हैं, जो व्यक्त है, परन्तु उसमें जो अव्यक्त लाल है, वह मेंहदी है। इसी प्रकार हमारे शरीर में

लाल है, वह आत्मा है। आत्मा लाल है। व्यवहार में कहते भी हैं, मेरा लाल चला गया। जैसे मेंहदी में लाल अव्यक्त रूप में है, उसी तरह शरीर में आत्मा है वह चैतन्य है, वह दर्शनमय और ज्ञानमय है।

ने. : इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मबोध की यात्रा अव्यक्त पर आस्था के बिना शुरू नहीं हो सकती।

वि. : नहीं हो सकती। पूर्व में एक विकल्प नष्ट होने के बाद जब तक दूसरा विकल्प उत्पन्न नहीं होता, उस सूक्ष्म मध्यान्तर में निर्विकल्प रूप में आत्मा स्पष्ट रूप में दृष्टिगोचर होती है। सूक्ष्म समय का काल स्वानुभवगम्य है।

ने. : लेकिन देखने वाला चाहिये।

वि. : हाँ। चौथे-पाँचवें-छठे गुणस्थान में वह निर्विकल्प दशा में कर्मों को काटता है, उसकी शुद्धि होती है। जैसा मैंने बताया था, जो मन्द धार वाली कुल्हाड़ी होती है, वह तो धीरे-धीरे काष्ठ या वृक्ष को काटेगी, कर्मरूपी वृक्ष को काटने के लिए गृहस्थावस्था में अथवा प्रारंभिक चौथे-पाँचवें-छठे गुणस्थान में मन्द धार वाली कुल्हाड़ी समझिये; सातवें तक भी समझिये, पर सातवें के अन्त या बाद में जो निर्विकल्प दशा शुरू हो जाती है, शास्त्रीय विधि के अनुसार उसे तेज धार वाली कुल्हाड़ी समझिये।

ने. : कुल्हाड़ी में धार ध्यान के द्वारा लगानी चाहिये।

वि. : हाँ।

ने. : ध्यान के पाषाण पर कुल्हाड़ी में धार लगा लेना चाहिये।

वि. : कुन्द कुठार अर्थात् कम धार वाली कुल्हाड़ी।

ने. : ऐसी कुल्हाड़ी जिसकी धार कुण्ठित हो गयी है।

वि. : तीक्ष्ण धार वाली जो कुल्हाड़ी है, वह जल्दी काटती है; इसलिए निर्विकल्प दशा ही कर्म को काटने में समर्थ है और सविकल्प दशा में इतने तेज कर्म कट नहीं सकते।

ने. : नहीं कट सकते। यहाँ तो निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता है।

वि. : निरन्तरता की बहुत जरूरत है। हर चीज में अभ्यास की जरूरत है। अभ्यास दशा में बार-बार आत्मदर्शन के लिए हमेशा उस तरफ उद्यत होना चाहिये, परिणत होना चाहिये; इसलिए सूक्ष्म ध्यान की तरफ बढ़ने के लिए निरन्तर प्रयत्न-शील रहना चाहिये।

ने. : अप्रमत्त स्थिति में ?

वि. : हाँ।



ने. : जितना-जितना वह अप्रमत्त होगा, उसकी कुल्हाड़ी की धार उतनी ही तेज होगी।

वि. : वह सविकल्प से ही निर्विकल्प दशा में जा सकता है। वह अनिर्वचनीय शक्ति है, वह शब्दों के द्वारा बतायी नहीं जा सकती। वह वचनातीत है।

ने. : ध्यान के लिए पूजा भी बहुत बड़ा आलम्बन है। जो साधारण/सामान्य व्यक्ति है, गृहस्थ है उसका पूजा और आराधना के माध्यम से ही चित्त एकाग्र होता है; तो यह भी हो सकता है कि हम स्थूल पूजा को सूक्ष्म पूजा में परिवर्तित करें। इसका रूप क्या हो सकता है?

वि. : धर्मध्यान के लिए हमारे यहाँ द्रव्यपूजा और भावपूजा — दो तरह की बतायी है। द्रव्यपूजा भावपूजा का विकास करने का एक साधन है। जैसे, बच्चे रोते हैं, तो उनके सामने खिलौना रखने से वे एकाग्र होते हैं। गृहस्थ-संसार के अनेक प्रपंच के आलम्बन हैं। उनमें बहुत बड़ी आकुलता होती है। जिस आलम्बन से आकुलता होती है, उसमें थोड़ी देर के लिए अपने मन-वचन-काय को विश्राम देने के लिए समझिये, अथवा उसको स्वच्छ/निर्मल बनाने के लिए समझिये देवपूजा बहुत ही आवश्यक है। हमारे आचार्यों ने स्थूल और सूक्ष्म पूजा — ऐसे दो भेद बताये हैं। भावपूजा की ओर सभी आचार्यों ने अपने प्रवचनों में जोर दिया है। जो मन द्रव्यपूजा से थोड़ा-सा उदास होता जा रहा है, वह भावपूजा की तरफ मुड़ जाता है।

भावपूजा के संबन्ध में मराठी में जो, सुन्दर पद है, उसका भावार्थ है : भावपूजा में अपने शरीर को चैत्यालय अथवा मन्दिर समझो, भाव कर लो कि मेरा शरीर एक मन्दिर है। उसके बाद जो मेरा मन है, वह वेदी है, कमलासन है।

ने. : मन कमल के आकार की वेदी है।

वि. : हाँ। और उस पर मेरी जो चिन्मय-चैतन्य मूर्ति है, विग्रह है, वह उस कमलासन पर विराजमान है, उसकी स्थापना उस पर है। मूर्ति के स्थापित हो जाने के पश्चात् उसे प्रक्षालित करना है, उसे ज्ञानरूपी गंगाजल से प्रक्षालित करो।

ने. : उस मन को हमने कमलासन पर बैठाया है।

वि. : जिस आत्मा को हमने कमलासन पर बैठाया है; हमारा ध्यानरूपी जो जल है — सम्यग्ज्ञानरूपी जो जल है, उससे भरे कुम्भ से हम अभिषेक करें, इससे समस्त संचित पाप दूर हो जाएँगे, मन स्वच्छ/निर्मल हो जाएगा। तो हमें दृष्टान्त के द्वारा दृष्टान्त में आत्मा को डुबोना चाहिये। जब हम बहुत अन्तर्मुख होकर अन्दर झाँक कर इस प्रकार के भाव की रचना कर लेते हैं, तब बहुत जल्दी एकाग्र हो जाते हैं। संसार के अनेक विकल्प इतनी देर के लिए छूट जाते हैं और संसार के इन विकल्पों से मुक्त होने के लिए यह जरूरी भी है। जैसे, पथिक जेठ के महीने में त्राहि-

ग्राहि मच रही है, चिलचिलाती धूप के कारण थोड़ी देर के लिए किसी छायादार वृक्ष के नीचे बैठ जाता है, तो उसे बहुत शीतलता का अनुभव होता है; इसी तरह द्रव्यपूजा में भी थोड़े-से विकल्प तो होते हैं, पर और-और विकल्प कम करना है, और एक विकल्प पर आना है, अपने सविकल्प स्वरूपाचरण पर आना है, तभी इस तरह के भावपूजा की कोई सार्थकता है।

ने. : इस तरह लगता है, हमारा शरीर एक रथ है। इस पर भी रूपक बना कर ध्यान करें, तो ही कुछ हो सकता है।

वि. : बड़े-बड़े चक्रवर्ती हुए, वे रथ में बैठते थे। वे स्थूल बुद्धि वाले और राजनीति में बड़े तज्ञ होते थे। व्यवहार में भी बड़े चतुर होते थे। अपने देश की रक्षा के लिए शत्रुओं को भगाने/हटाने में, बहिरंग में शत्रुओं को नष्ट करने में वे बड़े कुशल और प्रवीण होते थे।

ने. : प्राचीन काल के राजा न ?

वि. : हाँ। परन्तु इतने बड़े-बड़े चक्रवर्ती और राजे-महाराजे भी कर्मरूपी आन्तरिक शत्रु को परास्त नहीं कर सकते थे। उन्हें इस विधि का ज्ञान नहीं होने से, उन्हें उनकी युद्ध वाली भाषा में समझाना जरूरी था; इसीलिए कुन्दकुन्दाचार्य ने साफ-साफ कहा, म्लेच्छों को म्लेच्छों की भाषा में और आर्यों को आर्यों की भाषा में समझाना है। कन्नड़ी को कन्नड़ में, महाराष्ट्री को मराठी में।

ने. : जो जैसी भाषा जानता हो।

वि. : हाँ। उनके जो साधन हैं, उन्हें ध्यान में रख कर आचार्य उन्हें समझाते थे, अनेक रूपों में वे कहते थे, जैसे नगर का रक्षक नगर की रक्षा में सदा सावधान रहता है, वैसे ही विद्वानों को चाहिये कि वे शरीर के कृत्यों में सदा सावधान रहें। इसी तरह रथ (गाड़ी) को जोड़ दिया, यह थोड़ा-सा भी टेढ़ा हो जाए, तो उलट जाएगा, गड़बड़े में गिर जाएगा, तो ऐसे शरीर-रूपी रथ को स्वस्थ रखने के लिए रोगादि के विकारों से बचाने के लिए कहा। नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के सामने सेनापति चामुण्डराय रथ में आते होंगे, इसलिए उन्होंने 'द्रव्यसंग्रह' में कहा है :

तव-सुद-वदवं चेदा ज्जाण-रह-धुरंधरो हवे जम्हा ॥

तम्हा तत्तिय-णिरदा तल्लद्धीए सदा होह ॥

(द्र., 57)

तपवान, श्रुतवान और व्रतवान यानी व्रत का धारक ध्यानरूपी रथ की धुरा को स्पन्दित करने में समर्थ है। ध्यानरूपी रथ को चलाना है, तो तप-श्रुत आदि धुरे है।

ने. : धुरे के बिना रथ चलेगा नहीं ।

वि. : हाँ । हमारे उपनिषद् के जो ऋषि थे, उन्होंने भी बहुत सुन्दर शब्दों में रथरूपी दृष्टान्त को घटाया है । 'कठोपनिषद्' में कहा है :

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।

बुद्धि तु सारथि विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ (क., 1/3/30)

तू आत्मा को रथी जान, शरीर को रथ समझ, बुद्धि को सारथी जान, और मन को लगाम समझ ।

ने. : आत्मा को रथ में बैठाया, वही रथी है ।

वि. : हाँ इस तरह उन्होंने आत्मार्थ चारों बातों को घटा दिया ।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती गोम्मटसार में कहते हैं :

संयोगणेवेति वदन्ति तण्णा णेवेक्कचक्केण रहो पयादि ।

अंधो य पंगू य वणं पविट्ठा ते संपजुत्ता णयरं पविट्ठा ॥

(जीवकाण्ड, गोम्मट. 892)

ज्ञान और चारित्र्य — हमें दोनों का सहयोग चाहिये । जैसे एक पहिये से रथ नहीं चलता, दोनों पहियों से चलता है, इसी तरह ज्ञान और चारित्र्य से धर्मरथ चलता है ।

ने. : ये दोनों चक्र हैं ?

वि. : हाँ । उसके लिए उन्होंने कह दिया एक अन्धा है, एक पंगु है । दोनों स्वतन्त्र हों और जंगल में आग लगी हो, तो गाँव की ओर सुरक्षित नहीं लौट सकते हैं । पंगु अन्धे के कन्धे पर बैठ जाता है और रास्ता दिखाता है, तब वे दोनों अग्नि के संकट से बच कर अपने गाँव में पहुँचते हैं । मुक्ति-ग्राम में पहुँचने के लिए आचार्य कहते हैं कि इसी तरह ज्ञान और चारित्र्य रथ के दोनों पहिये आवश्यक हैं । 'राज-वार्तिक' में भी कहा है :

संयोगमेवेह वदन्ति तज्ज्ञान हेयक चक्रेण रथः प्रयाति ।

अन्धश्च पंगुश्च वने प्रविष्टौ तं संप्रयुक्तौ नगरं प्रविष्टौ ॥

इसलिए अन्धे और पंगुल का वर्णन है, जब संकट आ गया, तो दोनों एकत्र हो जाते हैं और नगर में वापस आ जाते हैं ।

कुन्दकुन्दाचार्य ने भी अपने जमाने में बड़े-बड़े राजाओं को उपदेश दिया था, राजा तो मग्न थे । 'समयसार' में उन्होंने राजाओं को सम्बोधित करते हुए कहा :

विज्जारहमारूढो मणोरहणहेसु भमह जो चेदा ।

सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेदब्बो ॥

(स., 7, 44, 236)

तीर्थकर : अप्रैल ८३/१२५

जो आत्मा विद्यारूपी रथ में आरूढ़ हुआ मनोरथ-मार्ग में भ्रमण करता है उसे जिनेन्द्रदेव के ज्ञान की प्रभावना करने वाला सम्यग्दृष्टि मननपूर्वक जानना चाहिये ।

ने : इससे यह लगा कि रथी तो आत्मा है, शरीर रथ है और मन की लगाम पकड़ कर आगे बढ़ना चाहिये ।

वि. : हाँ । फिर एक स्थान पर यह बता दिया :

व्यवहारं करोत्येष रथसारथिवत् स्थितः ।

यथारथेन व्यापारं कुर्वन्न रथ देहकः ॥

सारथिः स्यादेवमेव देहव्यापार तत्परः ।

न देही नापि व्यापारी शुद्धसंवेदनात्मकः ॥

(त्रिपुरा रहस्ये, ज्ञानखण्डे, एक. वि. अ. 51, 52)

जो उत्तम ज्ञानी होता है, सम्यग्ज्ञानी होता है, देहतत्त्व पर उसकी दृष्टि नहीं होती, किन्तु वह रथ के सारथी की तरह स्थिर रहता है । जिस प्रकार सारथी रथ के द्वारा व्यापार करने पर भी रथ-रूप नहीं होता, उसी प्रकार उत्तम सम्यग्ज्ञानी भी समस्त व्यापार होने पर भी न तो देह होता है, और न व्यापार करने वाला; वह शुद्ध ज्ञानरूपी शुद्ध ज्ञान को छोड़ता नहीं है । अपनी ज्ञान चेतना को वह बिलकुल ठीक से बनाये रखता है, क्योंकि अन्तिम ध्येय तो ज्ञानचेतना ही है ।

‘मूलाचार’ में कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं :

एदे इंदियतुरया पयडी दोसेण चोइया संता ।

उम्मगं गिति रहे करेह मणप्पगहं बलियं ॥

(मू., 8/114)

ये इन्द्रिय-रूपी घोड़े राग-द्वेष से प्रेरित होकर धर्मध्यान-रूपी रथ को विषया-कुलता की तरफ ले जाते हैं, तब तुम मन-रूपी लगाम को मजबूत करो ।

उन्होंने इस रथ को ले कर और सभी महानुभावों ने, कैसे भी राजा का मन ध्यान की ओर चला जाए, इसलिए रथ का रूपक दिया है । मैंने पहले यही बताया था और मैंसे के ध्यान की बात भी कही थी । इस तरह जो जिसमें मग्न है, उसी को ले कर रूपक में बात कही गयी है ।

ने. : ऐसा लगता है कि राजा को यदि मोड़ दिया, तो फिर प्रजा मुड़ ही जाएगी ?

वि. : वाह, सही बात है ।

ने. : रथी को मोड़ा, तो रथ भी मुड़ जाएगा ।

वि. : इसी प्रकार जो मोहरूपी राजा है, उसे मोड़ा, तो आत्मा के सभी गुण मुड़ जाते हैं ।

ने. : इसीलिए ऐसा वातावरण बनाया गया; अन्त में एक बात और पूछना चाहता हूँ। ध्यान भी एक तीर्थयात्रा ही है। यदि इस तीर्थयात्रा द्वारा हम किसी तीर्थ पर पहुँचें तो वह कौन-सा तीर्थ हो सकता है ?

वि. : बात यह है 'तीर्थ' शब्द का मूल अर्थ है 'पवित्र'। जिन स्थानों में हमारे महापुरुष तपस्या करके मोक्ष को प्राप्त हो गये वे सब सिद्धक्षेत्र तीर्थ हैं। वे द्रव्य तीर्थ हैं, पुद्गल तीर्थ हैं। उनसे हम प्रेरणा ले सकते हैं। इसी तरह से लोकाचार की शुद्धि के लिए गंगाजल को भी तीर्थ मानते हैं। जल भी जीवन का प्रतीक होने से पवित्र है; परन्तु यह लौकिक तीर्थ है। पारमार्थिक तीर्थ मन की परम विशुद्धि है, वह सारे तीर्थों में बड़ा तीर्थ है।

ने. : तीर्थराज ?

वि. : हाँ, वह तीर्थराज है। मनरूपी तीर्थ को शुद्ध करने के लिए तीर्थयात्रा के निमित्त क्षेत्र, शास्त्र, उपदेश साधन हैं। मैं हमेशा एक वृष्टान्त देता रहता हूँ। पानी है, वह यदि मिट्टी में गिर जाए, तो कीचड़ तैयार हो जाती है और हाथ पैर में कीचड़ लग जाए, तो पानी से धोना पड़ता है। कीचड़ उत्पन्न होने का मूल कारण जल है और हाथ पैर को कीचड़ लग जाए, तो धोने के लिए साधन जल ही है। जल के दोनों उपयोग हो सकते हैं। इसी तरह मन पाप उत्पन्न करने के लिए कारण है, वह पापरूपी कीचड़ को लगा लेता है। मन से ही पाप उत्पन्न होता है और उससे ही पाप धोया जा सकता है। जब सांसारिक बातों में मन भटकता फिरता है, तो कीचड़ लगा लेता है, और जब सांसारिक बातों (प्रपंचों) से कुछ मुक्त हो कर जिनमन्दिर में, स्वाध्याय में, जाप में, अथवा तीर्थयात्रा में वह लगता है, तो धुल जाता है, शुद्ध हो जाता है। वास्तव में गृहस्थ का जीवन जल-स्नान-जैसी स्थिति है।

ने. : यानी मन जल की तरह है और उसका उपयोग करने वाले हैं हम ?

वि. : हाँ ।

ने. : यदि उस जल का कीचड़ बनाने में उपयोग कर लें, तो कीचड़ बन जाएगा; यदि उसे कीचड़ साफ करने में लगा लें, तो उससे कीचड़ साफ हो जाएगा ।

वि. : बिलकुल सही बात है ।

ने. : इस तरह आप तीर्थ की बात कह रहे थे कि सब से बड़ा तीर्थ मनोविशुद्धि है ।

वि. : सब-से-बड़ा तीर्थ भावतीर्थ तो मन ही है। सारे तीर्थों की उत्पत्ति का जो स्थान है, वह भाव ही है; इसलिए भावतीर्थ में मग्न होने के लिए द्रव्यतीर्थ साधन है; लेकिन हम द्रव्यतीर्थों को तो बहुत महत्त्व देते रहे और भावतीर्थों को हम गौण करते रहे; इसलिए अब जरूरत है कि द्रव्यतीर्थ तो गौण रहे और

भावतीर्थ अब मुख्य हों। अब हमें अपने भाव पवित्र करने के लिए प्रयत्नशील रहना है।

ने. : मनोविशुद्धि के लिए।

वि. : हाँ। भाव-रहित पढ़ना, जाप करना, पूजा करना, दान देना आदि जो भी भावरहित है, वह सब निरर्थक/व्यर्थ है। भाव-सहित थोड़ी-सी भी जो क्रियाएँ हैं, वे फलदायी हैं; इसीलिए भाव को प्रधानता देना आवश्यक है, क्योंकि भाव से ही सद्गुणों का विकास हो सकता है।

ने. : और फिर मन की विशुद्धि से ही ध्यान हो सकेगा।

वि. : हाँ; निश्चित रूप से होगा।

ने. : एकाग्रता के लिए मन की विशुद्धि बहुत आवश्यक है और यदि हम इस मन की विशुद्धि के लक्ष्य पर पहुँच गये, तो ध्यान के माध्यम से हमारा जो मोक्ष अथवा मुक्ति का उद्देश्य है, वह सफल/सार्थक हो सकता है।

वि. : हाँ। सफल हो कर रहेगा।

ने. : मैं सोचता हूँ, तीर्थयात्रा के पीछे कोई रहस्य तो जरूर है।

वि. : हर देश में राजा आदि चौकसी रखते थे; लेकिन हमारे ऋषि-मुनियों ने पहाड़ों और नदियों को तीर्थों का रूप देकर धार्मिकता से जोड़ दिया और इस तरह परम्परा से हर व्यक्ति चौकसी रखने लगा, इससे देश सुरक्षित हो गया। देश को सुरक्षित रखना इसलिए जरूरी है कि यदि देश की जमीन गुलाम हो जाए, तो यहाँ की सारी वस्तुएँ जिनमें हमारे तीर्थ भी हैं, गुलाम हो जाएँगी। उन्होंने स्वतन्त्रता और धार्मिकता का सुमेल स्थापित किया, लेकिन जब यह चौकसायी और निरीक्षण धीरे-धीरे मन्द होता गया, तो देश परतन्त्र हो गया।

ने. : इसीलिए देशाटन — तीर्थाटन बहुत जरूरी है।

वि. : तीर्थाटन देशाटन है। उससे दृष्टिकोण विशाल होता है, विविधता में एकता के दर्शन भी होते हैं। लौकिक और पारमार्थिक — दोनों तीर्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसे राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक के साथ आध्यात्मिक रूप भी दे सकते हैं।

ने. : हर व्यक्ति के लिए जरूरी है कि वह देश को जाने। यदि हम अपने शरीर को भी देश मान लें, उसके अवयवों की सही और सम्यक् जानकारी रखें, तो ध्यान पर जा सकते हैं।

वि. : इसीलिए हमारे यहाँ द्वादश अनुप्रेक्षाओं की चर्चा की गयी है, इनसे सारे संसार की हेयता और उपादेयता का ज्ञान हो जाता है।

ने. : अनुप्रेक्षा से ?

वि. : हाँ। बार-बार चिन्तवन करने से कितीन लोक में ऐसा कोई स्थान नहीं जिसमें जीव जन्मा-मरा नहीं है; ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसका सेवन नहीं किया; ऐसा कोई काल नहीं जिसमें जन्मा-मरा नहीं है; ऐसा कोई भाव नहीं, जिसको भाया न हो — अच्छा भी, बुरा भी। शरीर तो नाशवान है, चूँकि इससे काम लेना है, इसलिए थोड़ा-सा भोजन इसे देना है। आत्मा ही पवित्र है, श्रेष्ठ है। भोजन आदि भी उसकी रक्षा के लिए करना है। शरीर साधन है, आत्मा ही साध्य है। मनुष्य बुद्धिजीवी है, वह तत्त्वज्ञान से जीवित है; यदि वह केवल अन्न से जीवित रहता, तो पशु-पक्षी से भिन्न नहीं होता। अन्न तो एक साधन है, माध्यम है; गौण है, प्रमुखता तो हमें आत्मा को ही देना चाहिये।

ने. : ज्ञानी तो दोनों को सन्तुलित खुराक देता है। अज्ञानी केवल शरीर को ही खुराक देता है। उसे शरीर का ही ध्यान रहता है।

वि. : ध्यान तो संसार के सारे लोग करते हैं। मनुष्य का शरीर बहुत ही मलिन है। उसे जितना भी पालो-पोसो, संभालो-सँवारो, नश्वर तो वह है; फिर भी मानव-शरीर की रचना इस प्रकार की है कि वह ध्यान के लिए उत्तम और सार्थक साधन है। हम अपने शरीर की क्षण-भंगुरता की प्रतीति कर सकते हैं और आत्मा की शाश्वतता की ओर अग्रसर हो सकते हैं।

ने. : यह सब भी ध्यान के माध्यम से ही संभव है। हम अपने प्रेय और श्रेय की स्पष्ट प्रतीति और अनुभूति ध्यानारूढ़ हो कर ही कर सकते हैं। धर्मध्यान से ही हम आत्मोपलब्ध हो सकते हैं।

○ ○



मुनि समन्तभद्र/डॉ. नेमीचन्द; बाहुबली (कुंभोज, महाराष्ट्र); २८ नवम्बर १९८२

ध्यान : समत्व की ओर प्रशस्त पग

डॉ. नेमीचन्द जैन : महाराजश्री, आप वयोवृद्ध (९२ वर्षीय) / ज्ञान-अनुभववृद्ध हैं, हम सब के लिए प्रणम्य हैं। आप से 'ध्यान' के विषय में चर्चा करना चाहता हूँ।

मुनि समन्तभद्र : आत्मा का यथावत् स्वरूप तो कोई बता नहीं सकता। वह वचनातीत है; वाणी से परे है।

ने : हम तो यह मानते हैं कि आपने आत्मोपलब्धि की दिशा में तीन-चौथाई साधना कर ली है।

स : आपके मानने से क्या ऐसा हो जाता है ?

ने : यह निश्चित है कि आप हम लोगों से श्रेष्ठ हैं।

स : कहने को श्रेष्ठ हैं। वास्तविक श्रेष्ठ हैं, यह तो महाराज को स्वयं भी पता नहीं है, न महाराज मानते ही हैं। आप मानते हों, तो भले मानिये।

ने : आप ध्यान तो करते ही हैं ?

स : हाँ; लेकिन उसे ध्यान की संज्ञा नहीं दे सकते।

ने : ऐसा क्यों ?

स : यह इसलिए कि शास्त्रों में बताया है, उस प्रकार का ध्यान नहीं होता।

ने : शास्त्रों में क्या बताया है ?

स : शास्त्रों में जिस प्रकार बताया है। उस प्रकार की चित्त की एकाग्रता हमारी नहीं होती; इसलिए हम कैसे कहें कि हम ध्यान करते हैं ?

ने : ध्यान के लिए शास्त्रों में क्या बताया है ?

स : शास्त्रों में जो कहा है, वह तो आप जानते हैं।

ने : मैं नहीं जानता।

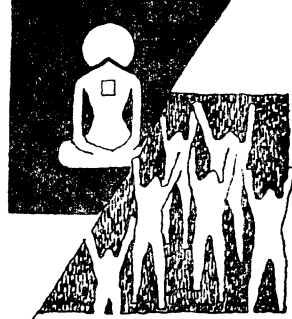
स : तो फिर महाराज भी नहीं जानते।

ने : ध्यान में या सामायिक में तो आप बैठते ही हैं ?

स : बैठने से काम होता है क्या ? बैठते तो हैं। केवल जाप करते हैं। भगवान् के नाम का स्मरण करते हैं। परमात्मा का जो स्वरूप बताया है, वही मैं हूँ।

वाकी जो जीव हैं, सब परमात्मा ही हैं ।
मैं भी परमात्मा हूँ और जीव-मात्र भी
परमात्मा ही हूँ । इस प्रकार का ही ध्यान
करते हैं ।

मैं सिद्ध परमात्मा, मैं ही आत्मराम ।
मैं ही ज्ञाता-ज्ञेय को, चेतन मेरो नाम ।
मैं ही हूँ अनन्त सुख, सुखमय मूल स्वभाव ।
अविनाशी आनन्दमय, सो हूँ त्रिभुवन राव ।
शुद्ध हमारो रूप है, शोभित सिद्ध समान ।
गुण अनन्त कर, चिदानन्द भगवान ।
जैसो शिव खेत सों बसे, वैसो या तन माहि ।
निहचे रूप को देखिये, फिर कुछ फेर नाहि ।



॥ श्रीगुरुभ्यो नमः ॥

इस प्रकार का मनन करके या ध्यान करके उसी का बार-बार चिन्तन
करते रहते हैं ।

ने. : आपको चित्त की चंचलता तो रहती नहीं है । वह शान्त हो जाती है ।

स. : चित्त की चंचलता इसके कारण जो होती है, सो होती है । चित्त स्थिर
होना चाहिये; और स्थिर होने के लिए इष्ट-अनिष्ट की तरफ राग-द्वेष की प्रवृत्ति
नहीं होनी चाहिये । जब यह भाव चलते हैं, राग-द्वेष की प्रवृत्ति नहीं होती । इसी
में हम समाधान मानते हैं । इसे आप ध्यान कहिये, या जो कुछ आपको कहना हो,
कहिये ।

ने. : महाराज, योग और ध्यान में कोई अन्तर है ?

स. : योग, समाधि, ध्यान — आप जो भी कहिये, सब एक हैं । इन सारे शब्दों
का अर्थ समान है ।

ने. : योग और ध्यान में हम कोई अन्तर नहीं करें ?

स. : इनमें शब्द-भेद है; अर्थ-भेद नहीं है ।

ने. : जब आप सामायिक करते हैं, तब कौन-से आसन में बैठते हैं ?

स. : हमें कोई आसन सिद्ध नहीं हुआ ।

ने. : तो क्या ऐसे ही बैठते हैं ?

स. : मेरुदण्ड में दर्द है, इसलिए एक आसन में बहुत समय तक नहीं बैठ
सकते । सुखासन या पद्मासन से पौन घण्टे बैठते हैं; इससे ज्यादा नहीं ।

तीर्थकर : अप्रैल ८३/१३१

ने. : पहले इससे ज्यादा बैठते होंगे ?

स. : पहले ज्यादा बैठते होंगे, यह ठीक है; लेकिन अभी तो नहीं। पीछे का क्या करना है! आप वर्तमान की बात पूछ रहे हैं, तो हम आपको वर्तमान की बात कह रहे हैं।

ने. : यदि हमें ध्यान करना हो, तो आप कौन-से आसन की राय/सलाह देंगे ?

स. : सुखासन।

ने. : सुखासन यानी अर्द्धपद्मासन। जैसा हमारी प्रतिमाओं का है।

स. : हाँ।

ने. : सुखासन पर बैठने से कोई लाभ है क्या ?

स. : इस आसन पर बैठने से अधिक काल तक चित्त में जड़ता पैदा नहीं होती। आसन के निमित्त से जो व्यग्रता होती है, वह सुखासन से नहीं होती; इसलिए सुखासन से बैठना अच्छा है। अगर सधे, तो पद्मासन भी अच्छा है। तीसरा है कायोत्सर्ग।

ने. : कायोत्सर्ग यानी खड़गासन ?

स. : हाँ; लेकिन इन सब में सुखासन अच्छा है।

ने. : महाराज, आज हमारे जीवन में अशान्ति, असंतोष, तृष्णा बहुत है।

स. : जीवन में या जग में ?

ने. : जग में भी।

स. : वह तो बहुत है; उसके लिए हमें क्या करना है ? ठीक ही कहा है :

‘रे सुधारक, जगत की चिंता मत कर यार।

तेरे घट में जो बसे ताको प्रथम सुधार।’

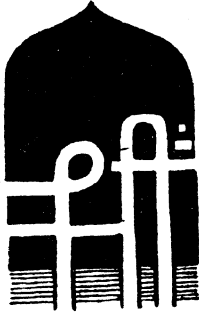
हमें जग से क्या करना है ? साधुगण जग की दृष्टि से नहीं देखते, परमात्मा की दृष्टि देखते हैं। इससे उनमें समता रहती है, सब को परमात्मा की दृष्टि से देखे, तो राग किस पर करेंगे ?

ने. : किसी से नहीं करेंगे।

स. : सब ही तो परमात्मा हैं। मैं भी परमात्मा, जीव-मात्र परमात्मा है। इस प्रकार के जिनके भाव हो गये, वे किससे राग-द्वेष करेंगे ?

ने. : इस प्रकार हम ध्यान के द्वारा समता/समत्व की ओर जा सकते हैं।

स. : हम तो एक बात जानते हैं कि परिणाम शुद्ध रखना। परमात्मा का ध्यान करना कि मैं परमात्मा हूँ। मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, परमात्मा हूँ – ऐसा जाप करना, इससे संवर-निर्जरा होती है, आस्रव-बन्ध का नाश होता है।



ने. : आपने बहुत थोड़े शब्दों में मन्त्र दे दिया, धर्म का मर्म बता दिया।

स. : इसे आप जो भी समझें, समझिये। हम जो थोड़ा-सा जानते हैं, वह आपको बता दिया। हम ज्यादा शास्त्र कहीं पढ़ते हैं? ध्यान अपने परिणामों को शुद्ध रखने के लिए है। राग-द्वेष से रहित परिणाम रखते हुए ध्यान करने से आनन्द की अनुभूति होती है। पढ़ना कम, आत्मा के स्वरूप का ध्यान ज्यादा करना कि मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, परमात्मा हूँ; मैं अमूर्तिक हूँ; क्योंकि आत्मा/परमात्मा को स्वानुभव-गम्य कहा है। आत्मा ज्ञान के द्वारा अनुभवगम्य है। इन्द्रियाँ तो मूर्तिक को जानती हैं, अमूर्तिक को कैसे जान सकती हैं?

ने. : आप अभी भी पढ़ लेते हैं?

स. : हाँ।

ने. : अब ग्रन्थ आपके लिए कोई मतलब नहीं रखता होगा?

स. : हम समझते हैं, जितना थोड़ा-सा ज्ञान भिला है, उसका बार-बार अभ्यास करें, अधिक पढ़ने से कोई फायदा नहीं होगा।

ने. : आप निर्ग्रन्थ जो हैं।

स. : निर्ग्रन्थ तो पशु भी हैं; उनके पास कहाँ है परिग्रह?

ने. : उन्हें निर्ग्रन्थ कहें क्या?

स. : उन्हें वास्तविक निर्ग्रन्थ नहीं कह सकते; क्योंकि वे जान-बूझ कर परिग्रह का त्याग नहीं करते हैं। जो अन्तरंग परिग्रह का ज्ञानपूर्वक त्याग करता है, वही निर्ग्रन्थ है। जिसने परिग्रह को आत्मा के विरुद्ध, दुःख पहुँचाने वाला समझ कर छोड़ा, वही वास्तविक निर्ग्रन्थ हो गया। यदि यह विचार नहीं हो, तो फिर निर्ग्रन्थ कैसे? इसलिए मनुष्य ही निर्ग्रन्थ हो सकता है, और कोई नहीं। एकमात्र मनुष्य ही मोक्ष का अधिकारी है। ध्यान से यह संभव है।

ने. : ध्यान से आत्मोपलब्धि के ध्येय की प्राप्ति हो सकती है।

○○○

धुल्लक धर्मानन्द/डॉ. नेमीचन्द; कोथली (कर्नाटक), २७ नवम्बर १९८२

ध्यान : निराकुलता की ओर स्वस्थ प्रस्थान

डॉ. नेमीचन्द जैन : धुल्लकजी, आपका दीक्षा-पूर्व जीवन कैसा था ? दीक्षा कब हुई ?

धुल्लक धर्मानन्द : मैं उन लोगों में से था, जो साल में दो बार मन्दिर जाते हैं—महावीर-जयन्ती और दीपावली पर। मुनिधर्म में मुझे कोई रुचि नहीं थी। मैं इस समय ५८ वर्ष का हूँ। मैंने लाखों का व्यापार किया, फिर २५ साल तक फॅक्टरी में एक बड़े पद पर सर्विस भी की।

एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी के संपर्क में मैं सन् १९७४ में आया; तब लगा कि मेरा गृहस्थी का काम अब पूरा हो गया है। बच्चे सब काम-काज में लग गये हैं। महाराजश्री की यह बात मुझे लग गयी कि तुम कोल्हू के बैल की तरह कब तक गृहस्थी ढोते रहोगे। उन्होंने इक्ष्वाकुवंशियों का उदाहरण दिया था कि वे अन्त में समाधिपूर्वक मरते हैं। यह बात मुझे जँच गयी। जब श्रमणबेलगोल में महामस्ताभिषेक हुआ, तब ७ फरवरी, १९८१ को एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी ने मुझे सर्वप्रथम दीक्षा दी।

ने. : दीक्षा के बाद जब आप ध्यान के लिए बैठे, तो आपको कैसा लगा ? ध्यानारूढ़ हो सके न ?

ध. : ध्यान का अभ्यास तो मैं गृहस्थावस्था में भी करता था। दीक्षा के बाद जब मैं सामायिक या ध्यान के लिए बैठता था, तब कुछ ज्यादा विकल्प रहते थे। आत्मरुचि मेरी शुरू से है। मैं मानता रहा हूँ कि ध्यान एक बहुत ऊँची स्थिति है। णमोकार मन्त्र का पाठ, कोई स्तुति और भगवान् की फोटो के दर्शन वगैर में सबेरे घर से नहीं निकलता था।

ने. : ध्यान में आप किसका आलम्बन लेते हैं ?

ध. : मैं आलम्बन लेने के पक्ष में नहीं हूँ; यदि आलम्बन लेना ही है तो फिर अपनी आत्मा का आलम्बन लेकर ही ध्यान क्यों न किया जाए ?

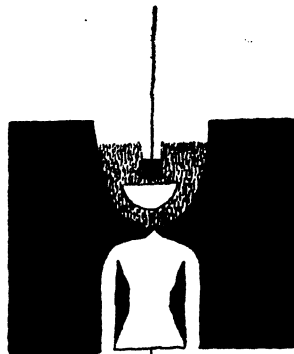
ने. : ध्यान करते समय आप अन्तर्मुख हो जाते हैं। अन्तर्मुख होकर बहिर्मुख जो मूर्ति होती है, उसे भी अन्दर प्रतिष्ठापित कर लेते हैं।

ध. : यह मेरा सौभाग्य है कि जब मैं ध्यान के लिए बैठता हूँ, तो जितने समय भी मैं बैठता हूँ—आध-पौन घण्टे, मुझे शरीर का भान नहीं रहता। आत्मा

की जो देह-प्रमाण काल्पनिक मूर्ति मैंने अन्दर स्थापित की है, वही मेरा केन्द्र बनी रहती है।

ने. : जैसे भेद-विज्ञान में शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न प्रतिपादित हैं; ऐसा अनुभव आप ध्यान में करते हैं ?

ध. : नहीं करता हूँ; लेकिन इतना जरूर है कि शरीर की अनुभूति नहीं होती कि शरीर भी साथ में है। मैंने कभी इस बात की कल्पना भी नहीं की; ऐसा अपने-आप ही हो रहा है।



"जिज्ञासा ११"

ने. : यानी आप देहातीत हो जाते हैं ?

ध. : शरीर की मुझे कोई अनुभूति अथवा भान नहीं रहता है।

ने. : रूपातीत ध्यान होता है ?

ध. : रूपातीत तो नहीं, मैं समझता हूँ, मेरा ध्यान तो पदस्थ और पिण्डस्थ ही है। इन दोनों का आश्रय लेकर ही मैं चल पाता हूँ।

ने. : पिण्डस्थ ध्यान तो भाषातीत होता है।

ध. : मैं इन दोनों का सहारा लेकर ध्यान की ओर अग्रसर होता हूँ।

ने. : ध्यान बैठता भी होगा ?

ध. : मन इधर-उधर जाता है, तो ध्यान टूटता भी है।

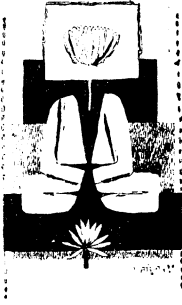
ने. : जब आप ध्यान कर लेते हैं, उसके बाद आपको कैसी अनुभूति होती है ?

ध. : सामायिक में, या ध्यान में निराकुलता अधिक हो जाती है, तो एकाग्रता हो जाने से मन में एक अपूर्व प्रसन्नता होती है; कहिये आत्मोल्लास होता है। कभी-कभी प्रयास करने पर भी एकाग्रता नहीं होती, तो मन में उदासीनता भी आती है। निष्फलता के कारण उदासीनता आती है, मन थोड़ा खिन्न होता है।

ने. : ध्यान आप कितनी बार करते हैं ?

ध. : तीन बार। प्रातः पाँच से सवा छह बजे तक, सूर्योदय और सूर्यास्त के अनुसार समय में थोड़ा-सा परिवर्तन होता रहता है; दोपहर में लगभग सवा ग्यारह बजे बैठ जाता हूँ; दो-तीन बार जाप करने के बाद पौने बारह बजे ध्यान में/सामायिक में बैठता हूँ। फिर शाम को छह बजे। सात बजे तक सामायिक करता हूँ।

तीर्थकर : अप्रैल ८३/१३५



ने. : पदस्थ से पिण्डस्थ ध्यान ?

ध. : आवश्यकतानुसार दोनों चलते रहते हैं।

ने. : करीब-करीब तीन घण्टे आपके ध्यान में जाते हैं। क्या इस अवधि में संसार लुप्त हो जाता है ?

ध. : उस समय मुझे संसार में कुछ भी ध्यान में नहीं आता। विकल्प ज्यादा होने पर कभी-कभी आता है।

ने. : ध्यान में वीतरागता की जो अनुभूति आपको हुई, क्या भाषा में उसे विवृत कर सकते हैं ?

ध. : अनुभूति तो आत्मा का विषय है। मुझे प्रायः शरीर का भान नहीं होता। मुझे उस समय ऐसा भी नहीं लगता कि मैं शरीर और आत्मा को भिन्न-भिन्न देख रहा हूँ। मेरी दृष्टि यही रहती है कि आत्मा शरीर-प्रमाण है, उसी में मेरा ध्यान केन्द्रित रहता है।

ने. : ध्यान में आपको लगता है कि मैं शरीर नहीं हूँ ?

ध. : निरंजन आत्मा की जो कल्पना है, वही मेरे सामने रहती है।

ने. : इस कल्पना को शब्द दीजिये।

ध. : आत्मा शूद्र है, शरीर-प्रमाण है। शरीर-प्रमाण यह जो मेरा आत्मा है, वह पुरुषाकार है। शरीर से भिन्न है। सौभाग्य मेरा यह है कि मेरी दृष्टि अन्त-मुखीन रहती है। दर्शन करने जाता हूँ, तब भी मेरी दृष्टि अन्तमुख रहती है; सामायिक करता हूँ, तब भी वैसी ही बनी रहती है।

ने. : क्या ध्यान में आहार की कोई भूमिका है ?

ध. : हाँ। जिस दिन अन्तराय हो जाता है, आहार नहीं होता; शरीर हलका रहता है। कहना उचित होगा कि उपवास ध्यान में सहायक होता है।

ने. : आहार किस तरह का हो ?

ध. : यह सब तो अपनी-अपनी प्रकृति पर निर्भर है। मैं तो इतना समझता हूँ कि गरिष्ठ भोजन ध्यान के प्रतिकूल है। सात्त्विक और हल्का भोजन ध्यान के लिए अनुकूल है।

ने. : आपको कौन-सा आसन अच्छा लगता है ?

ध. : मैं अर्द्धपद्मासन पर बैठता हूँ; और आसन लगा नहीं सकता। ज्ञानमुद्रा में एकाग्रता जल्दी आती है।

ध्यान : आसन : प्राणायाम

डॉ. नेमीचन्द जैन : क्या ध्यान करने के लिए एक योग्य शरीर की आवश्यकता है ?

पं. बाहुबली शास्त्री : जरूर । 'शरीर खलु धर्म साधनम्' शरीर एक साधन है । जब तक शरीर शुद्ध नहीं होता, हम ध्यान नहीं कर सकते, इसलिए शरीर-शुद्धि सत्र में पहली आवश्यकता है ।

ने. : लेकिन शरीर को शुद्ध किस प्रकार रखें ?

बा. : योगासन और प्राणायाम से शरीर शुद्ध होता है; उसमें ध्यान करने की ताकत भी आती है ।

ने. : प्राणायाम क्या है ?

बा. : इसमें प्राणवायु का नियमन है; उसकी विधि है : प्राणवायु को खींचना यानी पूरण; कुंभन में कुछ देर उस वायु को अन्दर रोकना, और रेचन में अन्दर ली गयी वायु को छोड़ना ।

ने. : प्राणायाम में पूरण, कुंभन, और रेचन की क्रिया नियमपूर्वक करनी होती है; प्राणायाम का ध्यान से क्या रिश्ता है ?

बा. : जब व्यक्ति ध्यान करने लगता है तो वायु अपने-आप रुकने लगती है । यहाँ तक कहा है कि जो बड़े-बड़े योगी हैं, उनमें तालुरंध्र से वायु आने लगती है; इतनी एकाग्रता हो जाती है ।

ने. : श्वास से ध्यान और ध्यान से श्वास - ये एक-दूसरे के पूरक हैं । यानी श्वास पर अनुशासन प्राप्त कर लेना, एक प्रकार का ध्यान है । ध्यान को हमें किस ओर लगाना है ?

बा. : आत्मा की ओर । इससे कर्मों का आना रुक जाता है, संवर-निर्जरा की संभावनाएँ बढ़ जाती हैं ।

ने. : प्राणायाम के साथ आसन का भी महत्व है ?

बा. : हाँ । निराकुलता से बैठने को सुखासन कहा है ।

ने. : यह निराकुलता क्या है ?

बा. : शरीर में कोई आकुलता पैदा न हो, जिससे ध्यान में रूकावट हो; इसलिए शरीर को निश्चल रखना सबमें बड़ी बात है । इसके लिए सुखासन है ।

ने. : इसमें शरीर की क्या स्थिति रहती है ?

बा. : शरीर निश्चल रहता है । ऐसे यहाँ तक कहा गया है कि लेट कर भी ध्यान कर सकते हैं; मुख्य बात शरीर की निराकुलता है ।

ने. : कौन-कौन से आसन हैं, जो ध्यान के लिए हम काम में ला सकते हैं ?

बा. : आसन तो बहुत से हैं, किन्तु मुख्य हैं - पद्मासन, अर्द्धपद्मासन, सुखासन, वज्रासन आदि ।

ने. : आसन के माध्यम से भी हम शरीर पर नियंत्रण प्राप्त कर सकते हैं।

बा. : शरीर में जो जड़ता है, वह आसन से दूर हो जाती है।

ने. : आसन से शरीर-शुद्धि का क्या संबंध है?

बा. : आसन से शरीर में जो नाड़ियाँ हैं, वे ठीक से चलने लगती हैं। उसके साथ प्राणायाम भी है।

ने. : आसन-प्राणायाम से शरीर समर्थ होता है; शुद्ध भी होता है। जो शरीर शुद्ध और समर्थ होगा, वह ध्यान का मंच बन सकता है। ध्यान के क्षेत्र में इसका उपयोग कैसे कर सकते हैं?

बा. : सुखासन पर बैठने के बाद मन-वचन-काय की एकाग्रता के लिए प्राणायाम की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए णमोकार मन्त्र को ही लीजिये। 'णमो अरहंताण' बोलते-बोलते एक नासिकारन्ध्र से वायु को खींचिये, 'णमो सिद्धाण' में रोके रहिये, 'णमो आइरियाण' में रोकी हुई वायु को छोड़िये। 'णमो उवज्जायाण' में फिर से वायु को खींचिये और 'णमो लोए सव्वसाहूण' में वायु को रोकने के बाद छोड़िये। इस प्रकार प्राणायाम करने से मन स्थिर होता है और ध्यान लगता है।

ने. : णमोकार मन्त्र को प्राणायाम की क्रिया-पूरण, कुंभन, रेचन-में डालना, फिर इस मन्त्र की परिक्रमा देना है। इससे हमारे विकार शान्त हो सकते हैं। कौन से नयुने से इसे हमें शुरू करना चाहिये?

बा. : दायें से।

ने. : कितनी देर?

बा. : यह व्यक्ति-विशेष की इच्छा और आवश्यकता पर निर्भर करेगा। ९ बार, २७ बार, १०८ बार, जितनी बार आप कर सकें।

ने. : और कोई मन्त्र है, जिसे हम प्राणायाम में डाल सकते हैं?

बा. : णमोकार मन्त्र सर्वश्रेष्ठ है। प्राणायाम की जो विधि बतायी है, उसमें कोई भी मन्त्र ले सकते हैं।

ने. : आप तन्त्र-मन्त्र शास्त्री हैं। आपको तन्त्र-मन्त्र का ज्ञान है। इंगला, सुषुम्ना, पिंगला नाड़ियाँ हैं; छह चक्र हैं—इनका प्राणायाम से, ध्यान से—क्या संबंध है?

बा. : इनके विषय में शास्त्रों में बहुत लिखा है। शुभचन्द्राचार्य के 'ज्ञानार्णव' में इनका वर्णन है। यह ग्रन्थ तो ध्यान पर ही है।

ने. : ध्यान के बारे में और बताइये।

बा. : प्राणायाम और आसन, जब दोनों स्थिर हो जाते हैं, तो चित्त एकाग्र होता जाता है, णमोकार मन्त्र हो, कोई तत्त्व-चिन्तन हो, जब इस चिन्तन में मन-वचन-काय की एकाग्रता होती है, तो आनन्द की अनुभूति होती है। आत्म-चिन्तन व आत्मावलोकन में भी साधना प्रखर होती है।

ने. : संक्षेप में हम कह सकते हैं कि शरीर पर क्रमशः अनुशासन प्राप्त करने के लिए प्राणायाम और आसन आवश्यक हैं।

(केरसेट से आलेखन: प्रेमचन्द जैन)

इन्द्रियजय : आसनजय : मृत्युंजय

हम जिसे शरीर कहते हैं, वह एक जटिल-पेचदार यन्त्र है। शरीर स्वस्थ और तत्पर रहे इस दृष्टि से योगियों ने कई उपाय किये हैं; क्योंकि शरीर की उपेक्षा (उसके प्रति उदासीनता नहीं) किसी भी स्थिति में संभव नहीं है। जो योगी चित्त पर नियन्त्रण चाहता है, उसे सब में पहले देह का नियमन (वल्गन) करना होगा। शरीर क्या है? चित्त-निरोध^१ के अनुरूप इसे कैसे ढाला-बनाया जा सकता है? क्या साधन के रूग्ण, प्रमत्त, अनुपयुक्त, या अक्षम होने पर साध्य की प्राप्ति संभव है? क्या एकाग्रता के निमित्त हमें शरीर को स्वस्थ, अप्रमत्त, उपयुक्त, और सक्षम बनाये रखने की कला नहीं सीख लेनी चाहिये?

योग शरीर के संगीत को सम पर रखने की सर्वोत्कृष्ट कला है। वस्तुतः वह न केवल देह को अपितु विदेह को भी लक्ष्य पर अविचल-एकाग्र बनाये रखने की अनुपम कला है। मन की चंचलताओं को योग ही शान्त कर सकता है। चित्त-वृत्ति के निरोध का नाम योग है। इस योग से स्वरूप-प्रतिष्ठा प्राप्त होती है।^२ पतञ्जलि ने योग के आठ अंगों^३ का उल्लेख किया है। इस समूह में आसन का तीसरा और ध्यान का सातवाँ क्रम है। उक्त वर्गीकरण में क्रम का अपना महत्त्व है। यम-नियम के बाद ही आसन की स्थिति है। इसी तरह आसन के बाद प्राणायाम, प्रत्याहार और धारणा के अनन्तर ध्यान अवस्थित है। योग का चरम बिन्दु है समाधि।

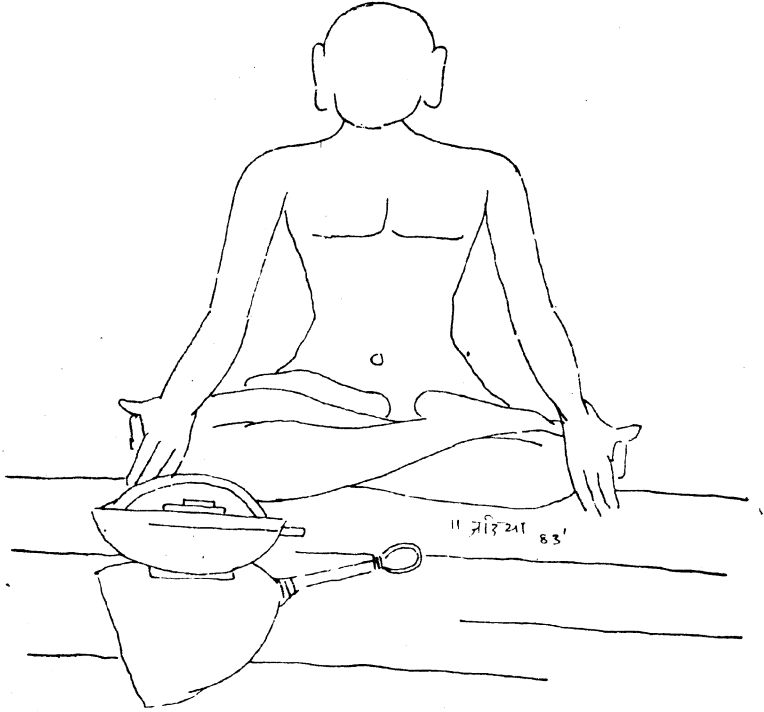
जैनाचार्यों ने योगासनों और ध्यान पर विस्तारपूर्वक विचार किया है; किन्तु ऐसा करने हुए भी उनकी आँख प्रतिपल भेदविज्ञान और आत्मविशुद्धि पर ही रही है। उन्होंने आसनों को अनिवार्य नहीं माना है, उन्हें माना है शरीर-शुद्धि का, इन्द्रियजय का एक सहज उपाय। वस्तुतः ध्यान आत्मशोधन की एक सूक्ष्म प्रक्रिया है, आसन जिसके लिए मंच बनते हैं। जब हम एकाग्र हो कर अन्तर्मुख होते हैं; और स्वयं-में-स्वयं को खोजते हैं तब ध्यान की असली बारहखड़ी शुरू होती है। ध्यान पानी के सिमित कर किसी एक केन्द्रबिन्दु पर धारापात का नाम है; विभक्त जल या विभक्त मन का कोई अर्थ नहीं है। कुछ भी जब बँट जाता है, तब उसकी शक्ति घट जाती है; किन्तु जब वही एकत्र/एकाग्र हो कर किसी एक निर्धारित बिन्दु से टकराता है, तब स्थिति आमूल बदल जाती है, लक्ष्यसिद्धि की संभावनाएँ बढ़ जाती हैं।

1. पातंजलयोगसूत्रम् 1/2; 2. वही 1/3; 3. वही 2/29।

व्यायाम (वि + आयाम) और प्राणायाम (प्राण + आयाम) दोनों शब्दों में 'आयाम' शब्द आया है, जिसका अर्थ है — विस्तार, खुलाव। अंगों के विस्तार का नाम व्यायाम और वायु के योजित विस्तार की संज्ञा प्राणायाम है। हमारा शरीर एक अद्वितीय अस्तित्व है, जिसमें नसों का एक अन्तहीन सूक्ष्म बृहज्जाल बिछा हुआ है। 'भगवती आराधना' (गाथा १०२१-३०) में शरीर की संरचना का बड़ा ज्ञानवर्द्धक, प्रामाणिक, और रोचक वर्णन दिया है। यह इस प्रकार है—'शरीर में ३०० हड्डियाँ हैं, जो कुथित (मलिन) मज्जा से लथपथ हैं। संपूर्ण शरीर में ३०० संधियाँ हैं। इसमें ९०० स्नायु, ७०० शिराएँ तथा ५०० मांसपेशियाँ हैं। इसमें ४०० शिराजाल, रक्त से आपूर्ण १६ महाशिराएँ, ६ शिरामूल, २ मांस-रज्जु (एक पीठ और एक पेट के आश्रित), ७ त्वचाएँ, ७ कालेयक-मांसखण्ड, और ८० लाख कोटि रोम हैं। इसमें स्थित पक्वाशय और आमाशय में १६ आँतें हैं। मनुष्य-शरीर में १६ मलस्थान हैं। इसमें ३ शूणाएँ — वात, पित्त, कफ; १०७ मर्मस्थान, तथा ९ व्रणमुख-मलद्वार हैं; एक अंजुलिप्रमाण मस्तिष्क है, एक अंजुलिप्रमाण मेद है, और एक अंजुलिप्रमाण वीर्य है। इसमें ३ अंजुलिप्रमाण बसा, ६ अंजुलिप्रमाण पित्त, ३ अंजुलिप्रमाण कफ, तथा आधे आठक या ३२ पल-प्रमाण रुधिर है। मूत्र आठक प्रमाण; विष्ठा ६ प्रस्थप्रमाण, तथा स्वाभाविक स्थिति में २० नख और ३२ दाँत हैं। जैसे किसी घाव में कीड़े भरे रहते हैं, वैसे ही यह बहुत से कीड़ों से भरा है। समस्त शरीर को पाँच वायु परिवृत किये हुए हैं।' मानव-शरीर कोशिकाओं का एक महानगर है। हमारे शरीर में लगभग छह नील ६००००००००००००००० कोशिकाएँ हैं। कोशिकाओं की यह आवादी पृथ्वी की कुल आवादी की २४००० गुना है। शरीर के विभिन्न अंगों की कोशिकाएँ एक-दूसरे से काफी भिन्न हैं। इनका आकार इतना सूक्ष्म है कि एक आलपीन की नोक पर लगभग १०००००० कोशिकाएँ अवस्थित हो सकती हैं, जबकि बड़ी कोशिकाएँ शतुरमुर्ग के अण्डे के आकार की भी होती हैं। इसी तरह हमारी श्वसन-क्रिया रात-दिन बहुत वेग से और सुव्यवस्थित चल रही है। स्वस्थ मनुष्य में प्राणवायु का जाना-आना दिन-रात में २१६०० बार होता है।* इस प्रकार एक विशाल कारखाना हमारे शरीर में सक्रिय है, जिसमें समय-समय पर हड़तालें और तालाबंदियाँ भी होती हैं; विद्रोह, धरने, और आन्दोलन भी होते हैं। जब शरीर का प्रबन्ध विगड़ता है, तब वह अस्वास्थ्य या रोग कहलाता है। इन अस्वस्थताओं के निवारण के कई लौकिक उपाय हैं, किन्तु योगी आसन-प्राणायाम द्वारा अपने शरीर को इतना नियमित और व्यवस्थित रखता है कि वह अनुक्षण उसकी आध्यात्मिक लक्ष्यसिद्धि का समर्थ माध्यम बना रहता है।

ध्यान का असंदिग्ध लक्ष्य आत्मानुसंधान है। इसके द्वारा योगी ध्याता शरीर और आत्मा दोनों के पार्थक्य की अनुभूति/प्रतीति करता है। वह स्पष्ट देखना है

* ज्ञानार्णव, 26-129।



पद्मासन-१

कि शरीर शरीर है, आत्मा आत्मा है; दोनों के गुण-धर्म और व्यक्तित्व जुदा हैं। ये एक दीख पड़ते हैं, हैं पृथक्; इनके एक होने का कोई प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि दोनों की संरचनाएँ भिन्न हैं। योगी ध्यान की छैनी से उस संधिरेखा पर अचूक प्रहार करता है, जो इन्द्रियगोचर नहीं है; किन्तु आत्मानुसंधान की प्रक्रिया में जिसे देखा जा सकता है। यह अगोचर सूक्ष्मतरंग संधि ध्यान के उजाले में दिखायी दे सकती है, किन्तु एकाग्र हुए बिना दोनों दो जुदा अस्तित्व हैं, इसकी धुँधली अनुभूति भी मुश्किल है। आसन देह को एक सुखद-समरस अनुशासन में लेने की प्रक्रिया है। ध्याता किसी आसन पर है और सुख से अबाध उतर गया है स्वयं में गहरे, शरीर से बेभान, तो हम कहेंगे इसे ध्यानपरक आसन अन्यथा वे आसन जो कष्ट-प्रद, या क्लेशपूर्ण हैं, व्यायामपरक तो हो सकते हैं, ध्यानात्मक हम उन्हें नहीं

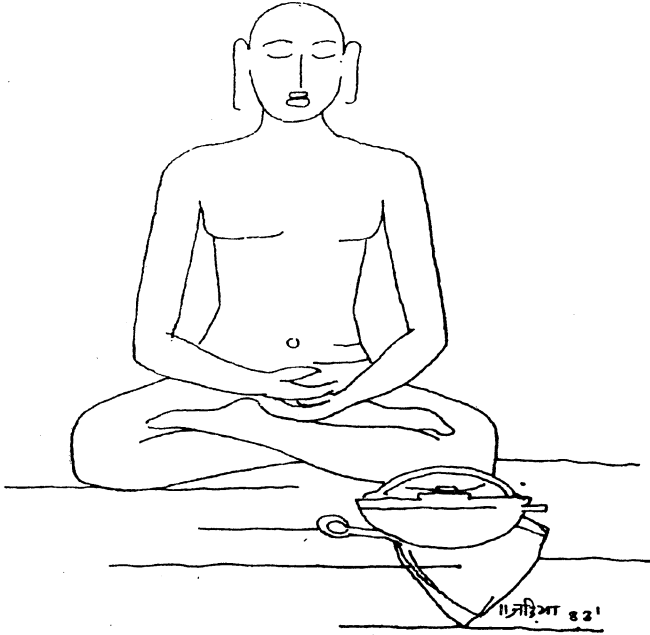
तीर्थकर : अप्रैल ८३/१४१

कहेंगे; क्योंकि जब किसी आसन में हम बिना किसी आकुलता के घंटों बने रहते हैं तभी ध्यान की प्रक्रिया का कोई नतीजा सामने आता है; यद्यपि नतीजे का यह क्षण शब्दातीत होता है, तथापि उसकी उपलब्धि के लिए सतत् अभ्यास की आवश्यकता है। यदि ध्यान की प्रक्रिया में एक आँख देह पर और एक एकाग्रता के प्रयत्न पर है तो इस दुविधा में दोनों ही मुट्ठी से खिसक जाते हैं। न माया मिलती है, न राम। आसन की अविचलता/सुदृढ़ता और दीर्घता की संप्राप्ति को 'आसनजय' का नाम दिया गया है। इस मंजिल तक 'इन्द्रियजय' के बिना पहुँचना संभव नहीं है। इन्द्रियनिग्रह यम-नियम की अप्रमत्त साधना से होता है।

आसन असल में शरीर के प्रमाद को तोड़ने का अमोघ उपाय है। शरीर की लगाम आठोंयाम चित्त के हाथ में बनी रहे इसलिए हैं ये आसन। इनके दो प्रकार हैं: व्यायामात्मक (यथा—शीर्ष, भुजंग, शलभ, मयूर, कुक्कुट, उत्तानपाद आदि); ध्यानात्मक (यथा—पद्म, पर्यक, वज्र, सिद्ध, मुख, सम आदि)। ध्याता, या ध्यानाभ्यासी के लिए ध्यानपरक आसनों का ही विधान है। इन आसनों का उद्देश्य देह को ध्यान के उपयुक्त बनाये रखना है। व्यायामपरक आसन जहाँ एक ओर शरीर को हृष्टपुष्ट बनाते हैं, ध्यानपरक उसे आध्यात्मिक साधना में सहयोगी हो सके इस तरह ढालते हैं। जैनाचार्यों ने संहनन (शरीर की क्षमता) को दृष्टि में रख कर ही ध्याता के लिए विविध आसनों की अनुशंसा की है; इसीलिए जो ध्याता है वह व्यायाम-परक आसनों के प्रति उदासीन रहता है और ध्यान में स्फूर्ति प्रदान करने वाले आसनों का अभ्यास करता है।

जैन योग में आसन के अर्थ में 'स्थान' शब्द प्रयुक्त है। आसन का अर्थ है—'बैठना' जब कि स्थान का अर्थ है—'गति-निवृत्ति'। जो हो, सुस्थिरता, निराकुलता, अविचलता आसन का एकमेव लक्ष्य है। आसनों को ३ स्थितियों में संपन्न किया जा सकता है—खड़े रह कर, बैठ कर, लेट कर। यहाँ हम बैठ कर किये जाने वाले आसनों पर ही विचार करेंगे। खड़े रह कर जो आसन जैन ध्याताओं में लोकप्रिय रहा है, वह है—कायोत्सर्ग (व्युत्सर्ग)। यह ध्याता के चित्त को भेदविज्ञान की ओर उन्मुख करता है। ध्याता के भीतर अन्तर्बोध की सूक्ष्म प्रक्रिया अनवरत चलती है, आत्म-शोध एक क्षणांश को भी अनुपस्थित नहीं होता; जहाँ/जब/जितना वह अनुपस्थित होता है, वहाँ/तब/उतनी निष्फलता उसे मिलती है। आगे हम कुछ आसन-मुद्राओं पर तुलनात्मक प्रकाश डाल रहे हैं।

वीरासन : कुर्सी पर बैठने से शरीर की जो स्थिति बनती है, जब वह कुर्सी हटा लेने पर भी यथापूर्व रहे तब उसे 'वीरासन' कहा जाएगा। वीरासन को भी ध्यान के उपयुक्त बताया गया है; किन्तु इसकी बनावट में मतभेद है। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार—'दायें पाँव को दायीं जंघा पर और दायें पैर को दायीं जंघा

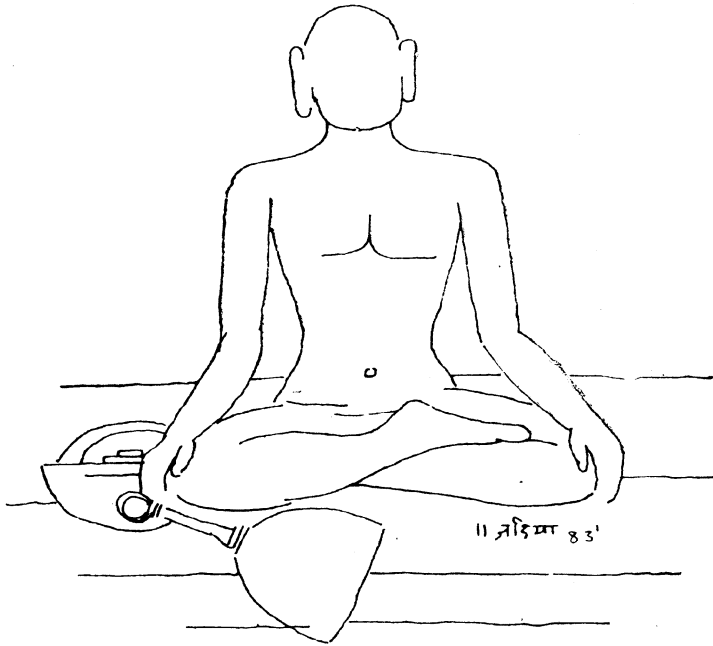


पद्मासन-२

पर रख कर बैठने से वीरासन की छवि बनती है'। वस्तुतः यह पद्मासन है। अपराजितसुरि के शब्दों में 'दोनों जंघाओं के मध्य अन्तर रख कर पाँव फैला कर बैठना वीरासन है'। शंकराचार्य के अनुसार 'एक पैर को सिकोड़ कर घुटने को ऊपर की ओर रख कर तथा दूसरे पैर के घुटने को जमीन पर सटा कर बैठने की मुद्रा वीरासन है'।

वज्रासन : बायें पैर को दायीं जंघा पर और दायें पैर को बायीं जंघा पर रख कर हाथों को वज्राकृत पीछे ले जा कर पाँव के अंगुष्ठ पकड़ने से जो मुद्रा बनती है, वह 'वज्रासन' की है। वस्तुतः यह बद्धपद्मासन की छवि है। आचार्य अभितगति और आचार्य हेमचन्द्र ने पर्यकासन को भी वज्रासन-जैसा ही बताया है। उनके अनुसार पैरों को मोड़ कर पिंडलियों पर जंघाएँ रख कर बैठना और एक हथेली को दूसरी हथेली पर जमा कर नाभि के पास रखना पर्यकासन है। शंकराचार्य ने पर्यकासन को सुप्तवज्रासन-जैसा कुछ प्रतिपादित किया है : 'घुटनों को मोड़ कर हाथ फैला कर लेटना'। इस तरह यदि सुप्तवज्रासन को पर्यकासन माना जाता है, तो

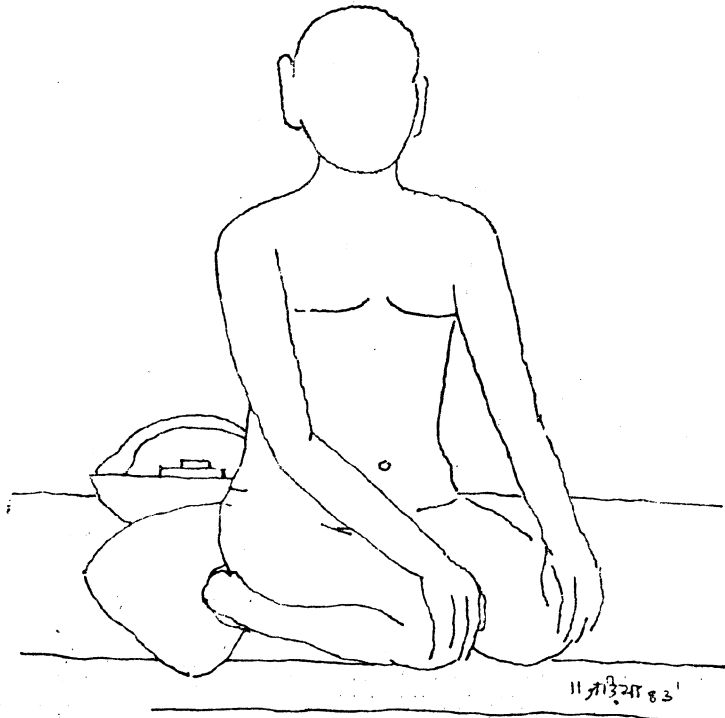
तीर्थकर : अप्रैल ८३/१४३



सुखासन

वज्रासन को अर्धपर्यकासन मानना होगा। जैनाचार्यों ने वज्रासन को पर्यकासन और अर्धवज्रासन को घुटने को ऊपर रख कर बैठने की स्थिति - अर्धपर्यकासन कहा है।

पद्मासन : इसे आसनों का राजा कहा गया है। ध्यान के लिए इसे सर्वोत्तम माना गया है। हमारी लगभग सारी तीर्थंकर प्रतिमाएँ (खड्गासनी प्रतिमाओं को छोड़ कर) - उत्तर भारत में - पद्मासनस्थ, और दक्षिण भारत में अर्द्धपद्मासनस्थ हैं। जैनाचार्यों में पद्मासन और पर्यकासन को ले कर किञ्चित् मतभेद है। कुछ आचार्यों ने तो पद्मासन और पर्यकासन को एक ही माना है। आचार्य अमितगति के अनुसार 'एक जंघा के साथ दूसरी जंघा का समभाग में जो आश्लेष होता है, वह पद्मासन है'। आचार्य हेमचन्द्र के मत में 'एक जंघा के मध्यभाग में दूसरी का श्लेष पद्मासन है'। सोमदेवसूरि के शब्दों में 'जिस मुद्रा में दोनों पैर दोनों घुटनों के नीचे पिंडलियों पर रख कर जब बैठा जाता है, तब वह मुद्रा पद्मासन की होती है'। शंकराचार्य के मत में - 'बायें पैर को दायीं जंघा पर और दायें को बायीं जंघा पर रख कर बैठना पद्मासन है'। सोमदेवसूरि ने पद्मासन, वीरासन, और सुखासन में जो फर्क किया है, वह काफी युक्तियुक्त है : जिसमें दोनों पैर दोनों घुटनों के नीचे दोनों पिंडलियों पर रख कर

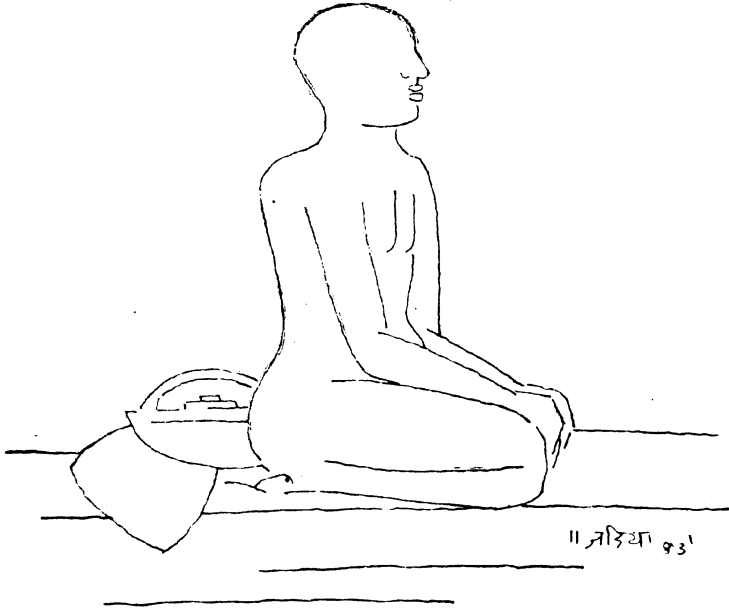


वज्रासन-१

बैठा जाता है, वह पद्मासन है; जिसमें दोनों पैर दोनों घुटनों के ऊपरी हिस्से पर रख कर बैठा जाता है अर्थात् दायीं जंघा के ऊपर बायाँ पैर और बायीं जंघा पर दायीं पैर रखा जाता है, वह वीरासन है; तथा जिसमें पैरों की गाँठ बराबर रहती है, वह सुखासन है।

आसन के प्रयोजन बहुत स्पष्ट हैं : इन्द्रिय-निग्रह, ध्यान, आत्मविशुद्धि। जैनाचार में ध्यान-दृष्टि से कठोर और कष्टसाध्य आसनों की स्वीकृति नहीं है। वैसे विगत में प्रचलन दोनों का रहा है, तथापि जिन आसनों का तालमेल ध्यान/योग से है, वे हैं : पद्मासन, सुखासन, सिद्धासन, वज्रासन, कायोत्सर्ग। आचार्यों ने पद्मासन और कायोत्सर्ग को सम और शेष को विषम आसन कहा है। आगे हम उन आसनों का संक्षिप्त परिचय और विधि दे रहे हैं, जो ध्यान के लिए उपयुक्त हैं और जिनके चित्र हमने यथास्थान दिये हैं।

पद्मासन की चर्चा ऊपर हुई है। पद्मपुष्प के समान इसकी आकृति होने के कारण इसे परम्परा में पद्मासन, कमलासन तथा अरविन्दपूर्व आसन कहा गया है।

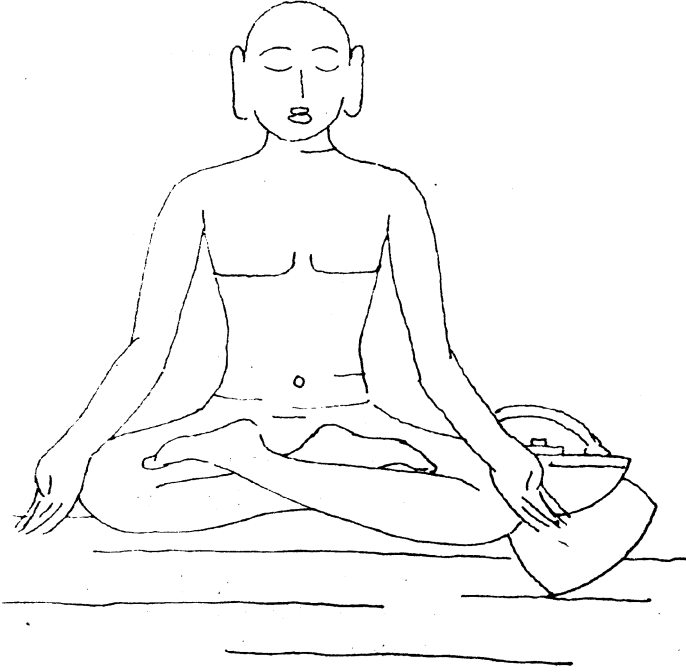


वज्रासन-२

इसे करने की विधि है : दोनों पैर फैलायें; दाहिना पैर घुटने पर मोड़ें तथा उसे बायें जंघा-मूल पर इस तरह रखें कि तलवा ऊपर की ओर रहे तथा एड़ी पेड़ू-वस्तिदेश-को दबाती रहे; तदनन्तर बायाँ पैर उठायें और उसे दायें जंघामूल पर रखें। दोनों पैर विटपास्थियों के सम्मुख परस्पर मिलेंगे। इन मिली हुई एड़ियों पर बायाँ हाथ इस तरह रखें कि हथेली ऊपर की ओर रहे तथा उसका पृष्ठभाग एड़ियों को छूए। दायें हाथ को भी इसी प्रकार बायें हाथ पर रखें। अब देख लें कि इस मुद्रा में आपकी जंघाएँ जमीन पर हैं और दृष्टि नासाग्र पर। जो लोग ध्यान में बैठते हैं, वे प्रायः अपने हाथ मिली हुई एड़ियों पर न रख कर घुटनों पर भी रख लेते हैं/रख सकते हैं (देखें चित्र पृष्ठ १४१-४३)।

सुखासन सब में सहज साध्य है। इसमें दायाँ पैर बायीं जंघा के नीचे और बायाँ पाँव दायीं जंघा, अथवा जंघा और पिंडली की मिलन-रेखा के नीचे रहता है। इसे अर्द्धपद्मासन भी कहते हैं। इसमें न कोई थकान आती है और न ही इसे संपन्न करने के लिए कोई विशेष प्रयत्न करना होता है। इसकी सब में बड़ी विशिष्टता यह है कि इसमें घंटों रहा जा सकता है। इसका अपरनाम अर्द्धपर्यकासन भी है। इसमें हथेलियों की स्थिति हम सुविधानुसार रख सकते हैं। एड़ी पर या घुटनों पर, किन्तु बायीं हथेली पर दायीं हथेली रख कर नासाग्रदृष्टि ध्यान की सर्वात्म्य मुद्रा है (देखें, चित्र पृष्ठ १४४)।

१४६/जैन ध्यान, योग विशेषांक



सिद्धासन

वज्रासन प्रायः आहारापेरान्त किया जाता है, किन्तु यह ध्यान/उपासना के लिए भी काफी उपयुक्त है। इसमें पैरों को नितंबों के तले रखते हैं; और उन पर गुदाभाग निर्भर कर देते हैं। इस अवस्था में एक पैर की अंगुलियाँ दूसरे पैर की अंगुलियों से फासले पर न रह कर पुच्छास्थि के पीछे से गुजरती है। इस आसन में आँखें नासाग्र रख कर ध्यान करना भी संभव है (देखें, चित्र पृष्ठ १४५-४६)।

महत्त्व की दृष्टि से पद्मासन के बाद सिद्धासन का स्थान है। इसके नाम से ही पता चलता है कि यह योगियों को अत्यन्त प्रिय रहा है; किन्तु यह पद्मासन/अर्द्धपद्मासन की तुलना में किंचित् श्रमसाध्य है। यह ब्रह्मचर्य-पालन में विशेषरूपेण सहायक है। इसे बिना किसी विशेषज्ञ की राय के न करना ही उचित है (देखें, चित्र पृष्ठ १४७)।

इतनी सब जानकारी के बाद भी इस बात का ध्यान रखना जरूरी है कि जैन योग में शरीर प्रधान नहीं है, भेदविज्ञान मुख्य है। शरीर मात्र माध्यम है स्वरूप-प्रतिष्ठा का; आसन द्वारा ध्यान के अनुरूप ढल कर आत्मोपलब्धि की ओर निरन्तर पग उठाते जाना ही श्रेयस्कर है।

—डॉ. नेमीचन्द जैन

तीर्थंकर : अप्रैल ८३/१४७

प्रस्तुत ध्यान-शब्दकोश विशेषांक को एक अर्थपरक संपूर्णता प्रदान करने का अत्यन्त विनम्र प्रयास है ।

यह विषय-संबन्धी शब्दकोश है, जिसे अंग्रेजी में 'ग्लॉसरी' कहा जाता है ; 'ग्लॉसरी' शब्द की

व्युत्पत्ति ग्रीक शब्द 'ग्लॉसा' से है,

जिसका अर्थ है :

किसी ग्रन्थ, लेखक, विद्या या विज्ञान के क्षेत्र के कठिन शब्द ।

प्रयत्न है कि इस विषय-कोश में वे सारे, कहेँ लगभग, शब्द आ जाएँ जो जैन ध्यान/योग को ले कर प्रयुक्त/प्रचलित हैं तथा जिन्हें जान लेने से इस विषय, या क्षेत्र की

अधिक गहरी/उपयुक्त समझ बन सकती है ।

संभावना यह है कि समयाभाव के कारण कई शब्द-प्रविष्टियाँ छूट गयी हों, तथा कई ऐसे शब्द प्रविष्ट हो गये हों जिनकी कदाचित् कोई आवश्यकता नहीं थी ।

कई शलत, सीमित, अस्पष्ट शब्द-व्याख्याएँ भी हो सकती हैं, जिन्हें आप नञ्जरअन्दाज अवश्य करें ; किन्तु हमें वैसा करने की सूचना जरूर दें ताकि आगामी किसी अंक में हम तत्संबन्धी सही जानकारी अपने पाठकों को दे सकें ।

हमारा यह आग्रह भी नहीं है कि आकलित शब्दकोश इतना ही/ऐसा ही होना था, बल्कि

हमारा एक लक्ष्य यह भी है कि हम अपने इस कदम से पत्र-पत्रिकाओं को यह सुझाव दे सकें कि यदि वे इस तरह के विषयों को ले कर कभी कोई

विशेषांक संयोजित करें तो ऐसा संक्षिप्त विषय-कोश उस अंक के साथ अवश्य संयुक्त करें । हमारा मानना है कि इससे जहाँ एक ओर संबन्धित विशेषांक की गरिमा-गौरव/महत्ता/उपयोगिता समृद्ध होगी, वहीं दूसरी ओर पाठक को एक अविलम्ब संदर्भ भी मिल जाएगा ।

हमें विश्वास है १६५ चुने हुए शब्दों का यह विषय-शब्दकोश, जिसके

कई शब्दों की व्युत्पत्तियाँ भी कोष्ठकों में दे दी गयी हैं,

हमारे पाठकों को संपादित सामग्री को समझने में उनकी मदद करेगा और उनका एक अच्छा वाचन-साथी साबित होगा ।

—संपादक

ध्यान-शब्दकोश

अक्षर : केवलज्ञान ; हानिवृद्धि-से-रहित युगपत् ज्ञान ; बीज ।

अणु : पुद्गल का ऐसा अविभागी अंश, जिसका आदि, मध्य, अन्त एक-दूसरे से भिन्न नहीं है, और जो अतीन्द्रिय है ।

अध्यात्म : आत्मा-संबन्धी ; समस्त विकल्पों को छोड़ शुद्ध आत्मस्वरूप में अधिष्ठान ।
अनियतकालिक : जिसका कोई समय निश्चित न हो ।

अनिवृत्तिकरण : नवाँ गुणस्थान, जिसमें यात्रायित जीव अपनी अतिविमल ध्यानाग्नि-शिखाओं से कर्मरूप वन को सर्वथा जला डालता है ।

अनुकम्पा : किसी को दुःखी देख उसके प्रति करुणा का अनुभव करना, तथा उसे दुःख-मुक्त करने का उपाय करना ।

अनुप्रेक्षा : शरीर आदि के स्वरूप का अभिचिन्तन ; अधीत अर्थ का अभ्यास ; किसी तथ्य का निरन्तर अनुचिन्तन ।

अन्तरात्मा : आठ मद-रहित हो कर देह और जीव के पार्थक्य को जानने वाला ।

अन्तर्मुहूर्त : मुहूर्त से एक समय कम और आवली से एक समय अधिक (मुहूर्त = ७३३ उच्छ्वास अथवा ८११० निमेष ; आवली = असंख्यात समय-समूह) ।

अपायविचय : ध्यान का वह प्रकार जिसमें ध्याता जीव के अपकारक पहलुओं/विषयों पर विचार करता है ; अशुभ कर्मों के नाश तथा शुभकर्मों के आस्रव-उपाय का चिन्तन ; सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य का अनुचिन्तन (अपाय = हानि, नाश ; विचय = तलाश, अनुसंधान, चिन्तन) ।

अपूर्वकरण : आठवाँ गुणस्थान जिसमें परिणाम-समूह अपूर्व-ही-अपूर्व होते जाते हैं (करण = परिणाम-समूह) ।

अप्रमत्तसंयत : सातवें गुणस्थानवर्ती वे जीव जिनके मन्द कर्मोदय से प्रमादरहित संयम-भाव होता है ।

अभीक्षण : सतत्, निरन्तर ; सम्यग्ज्ञान में नित्य लीन ; सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति में सतत् निमग्न ।

अयोगकेवली : चौदहवाँ गुणस्थान, जिसमें रहने वाला जीव मन, वचन, काय के योगों से रहित होता है ; इसकी अवधि अ इ उ ऋ लृ के उच्चारण के बराबर होती है ।

तीर्थकर : अप्रैल ८३/१४९

अर्द्धपद्मासन : सुखासन; दे. सुखासन ।

अर्हः अरिहंत; परमेष्ठिवाचक सिद्धचक्र-बीज, जिसमें अमन्त्राक्षर है और शेष ध्वनियाँ उसकी परिकर हैं; 'अर्हकार' को ओंकार के तुल्य माना जाता है; ४ ध्वनियों से संरचित स्वपर-समयरूप मन्त्र (अ=अभय प्रदान करने वाला आदिवीज, र्=मस्तक में अग्नि-समान प्रज्वलित वर्ण, ह्=हृदयस्थ वर्ण, सर्ववर्ण के अन्त में अधिष्ठित महाप्राण वर्ण; "नासिकाग्र में स्थित आकाशरूप) ।

अवाय : भाषा आदि विशेष के ज्ञान से यथार्थ रूप जानना ।

अवीचार : व्यंजन, अर्थ, योग से रहित ध्यान (व्यंजन=प्रदेश-परिणति से प्राप्त अवस्था, अर्थ=प्रदेशत्व की छोड़ अन्य समस्त गुणों की परिणति; योग=मन, वचन, काय) ।

अशुभोपयोग : जीव (चेतन) के पापात्मक परिणाम ।

असंयत/अविरत सम्यग्दृष्टि : चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव जो व्रत-रहित सम्यक्त्व का धारक होता है ।

असिआउसा : बीजपंचक; परमेष्ठियों के आद्याक्षरों का समूह (अ=अरिहंत, सि=सिद्ध, आ=आचार्य, उ=उपाध्याय, सा=साधु) ।

आग्नेयीधारणा : ध्यानावस्था में तृताशन का ऐसा अनुभव जिससे मन की सारी चंचलताएँ भस्म हो जाएँ और परिणाम पवित्रता की ओर मुड़ जाएँ । इसका शास्त्रीय वर्णन अलग तरह का है, किन्तु भूमिका अभिन की है; (दे. ज्ञानार्णव, पिण्डस्थध्यान, द्वि. धारणा, ३४/१८८९-९५) ।

आज्ञाविचय : इन्द्रियों के विषय से विरक्त हो कर आगमोक्त ६ द्रव्य, ९ पदार्थ, तथा ७ तत्त्वों का चिन्तन (विचय=विचारणा, विवेक) ।

आत्मचरण : आत्मरमण; निःकषाय स्वरूपाचरण; (दे. स्वरूपाचरण) ।

आत्मा : शुद्ध चैतन्य का धारक; जो यथासंभव ज्ञानसुखादि में रमण करता है; दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य को अविरल प्राप्त; द्वादशांग (अत्=सदैव चलना, सारी गमनार्थक धातुएँ ज्ञानात्मक अर्थ रखती हैं) ।

आर्तध्यान : आर्तध्यानी जीव हर बात में संदेह; शोक, भय, प्रमाद, क्लह-ग्रस्त; असावधान, भ्रमित मन, उद्भ्रान्त, चंचल, विषयोन्मुख, निद्रालु, जड़, और खिन्न होता है; यह जीव अतिष्ठ-संयोग और इष्ट-वियोग में आकुल तथा आगामी सुखाकांक्षा के लिए बार-बार चिन्तित रहता है ।

आलम्बन : ध्यान का आधारभूत बाह्य पदार्थ ।

१५०/जैन ध्यान, योग विशेषांक

आलोचना : परिणाम को समभाव में सुस्थित कर अपनी आत्मा को देखना ; प्रकाशकरण ; अपने रूप, नाम, जाति आदि की कल्पना से मुक्त वस्तु सामान्य का मर्यादापूर्वक बोध ।

आलुंछन : कर्म के समूल उच्छेदन में समर्थ समभावरूप स्वाधीन स्वकीय परिणाम ।

आसन : बैठक ; शरीर की व्यायाम या ध्यान के अनुरूप मुद्रा ।

आस्रव : योग ; मन, वचन, काय की क्रिया, जिससे कर्म आते हैं ; पुण्यपापरूप कर्मों के आगमन-द्वार ।

उपयोग : ध्यान ; चित्त की एकाग्रता ; क्षयोपशम के हेतु से चेतना की परिणति विशेष ; (दे. उपशम) ।

उपशम : कर्म के उदय को कुछ समय के लिए रोक देना ; कर्मों का दबना ।

उपशान्तकषाय : संपूर्ण मोहनीय कर्म का उपशम करने वाला ग्यारहवाँ गुणस्थानवर्ती जीव ।

एकत्ववितर्क वीचार : शुक्लध्यान का भेद ; अर्थ, व्यंजन, योग की संक्रान्ति से रहित केवल एक द्रव्य, गुण, या पर्याय का चिन्तन ।

एकाग्रता : चित्त को अन्य समस्त विषयों से विरक्त कर एक मुख्य संधानबिन्दु पर डालना ; आत्मा को मुख्य मान कर उसका एकमेव ध्यान (एक=आत्मा, अग्र=प्रधान) ।

ओम् : आदिम ज्योति ; अपराजित मन्त्र ; पंचपरमेष्ठी का समस्त रूप (अ=अरिहंत, अ-अशरीरी/सिद्ध, आ=आचार्य, उ=उपाध्याय, म्=मुनि) ; द्वादशांग का रहस्य ।

औदयिक : कर्म के उदय से उत्पन्न ।

औपशमिक : कर्मों के दबने को उपशम तथा उससे उत्पन्न जीव के शुद्ध परिणाम औपशमिक ।

करण : परिणामों का समूह ।

कषाय : आत्मा का विघात करने वाली कलुषताएँ ; कर्म, जो संसार को प्राप्त कराते रहते हैं (कष=कर्म, संसार) ।

कापोत लेश्या : तृतीय लेश्या ; कापोतलेश्य व्यक्ति क्रोधी, निन्दक, परपीडक, शत्रुता रखने वाला, शोक-भयग्रस्त, दूसरे के ऐश्वर्य से डाह करने वाला, अपनी प्रशंसा चाहने तथा दूसरों का तिरस्कार करने वाला, अविश्वासी, खुशामदपसंद, अविवेकी, चाटुकार को धन देने वाला, रण में मरण का इच्छुक, तथा अपने समान दूसरों को भी बेईमान समझने वाला होता है ; अधम मनोवृत्ति ।

काययोग : काय के निमित्त से आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन ; (दे. प्रदेश, योग) ।

कायोत्सर्ग : जिनगुण-स्मरणपूर्वक शरीर के ममत्व का विसर्जन; खड्गासन, जिसमें शरीर की सारी हलचल शान्त रहती है तथा ध्याता प्रलंबित भुजाओं से, नासाग्रदृष्टि, सटे हुए पाँव से निश्चल आत्मचिन्तन करता है।

कृष्णलेश्या : प्रथम लेश्या; कृष्णलेश्य व्यक्ति निर्दय, क्रूर, मद्यमांसादि का लम्पट, और युद्ध में आसक्त रहता है।

धायिक ज्ञान : केवलज्ञान; जो ज्ञान तात्कालिक और इतर, विगत/अनागत, तीनों काल-सम्बन्धी नाना भेदरूप समस्त पदार्थों को जानता है।

धायोपशमिक भाव : कर्मों के क्षयोपशम से प्रादुर्भूत गुण।

क्षीणकषाय : बारहवाँ गुणस्थानवर्ती जीव, जिसका सारा मोह/कषायें क्षय को प्राप्त हो चुका है, अतः जो स्फटिकमणि-पात्र में भरे जल के समान निर्मल मन की परिणति से युक्त है।

गुणस्थान : मोह; मन, वचन, काय की प्रवृत्ति से अंतरंग परिणामों में प्रतिक्षण होने वाले उतार-चढ़ाव; इस आरोह-अवरोह के १४ भेद हैं—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त विरत, अप्रमत्त विरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्त-करण, सूक्ष्म साम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली, अयोगकेवली।

गुप्ति : मन, वचन, काय के योगों का सम्यक् निग्रह; संसार-कारण से आत्मा का संरक्षण।

गोदोहन आसन : गोदोहिका; गोदोहन के समय जिस प्रकार दोनों एड़ियों को ऊपर उठा कर बैठा जाता है उस तरह का ध्यानपरक आसन।

गोनिषद्या : गवासन; दोनों जंघाओं को संकुचित कर गाय जैसे बैठती है वैसे बैठना; गुरुवंदना के उपयुक्त आसन।

चित्त : आत्मा का चैतन्य परिणामविशेष ($\sqrt{\text{चित्} + \text{क्त}}$); विचार, मनोयोग, मन, हृदय, युक्ति, प्रतिभा।

चेतना : जिसमें पदार्थों का प्रतिभास, या प्रतिबिम्बन हो (चेतना = स्वभाव, चेतन = जीव, चैतन्य = चेतना का भाव)।

छेद : जिन बाह्य क्रियाओं से धर्म में बाधा न आती हो तथा जिनसे निर्मलता में वृद्धि होती हो; व्रत, समिति, गुप्ति; सुराख; विभाग-खण्ड; विनाश; प्रायश्चित्त।

ज्ञानोपयोग : विवक्षित पदार्थ को विषय करने वाली चेतना; ज्ञानचेतना।

तप : कर्मक्षय के लिए पुरुषार्थ; इन्द्रियजय तथा कषाय-निग्रह के लिए आत्मस्वरूप-चिन्तन।

१५२/जैन ध्यान, योग विशेषांक

दर्शनोपयोग : आत्मविषयक उपयोग; आत्मस्वरूप का सामान्य-विशेषात्मक ग्रहण ।

दीपध्यान : किसी व्यक्ति द्वारा जलते हुए दीए को ले कर हवा के झोंकों में सीढ़ियाँ उतरते हुए मन की एकाग्रता ।

द्रव्यमन : शरीर के भीतर हृदयस्थान पर सूक्ष्म प्राणवाहिनी नाड़ियों की एक अष्टदल कमल के आकारवाली ग्रन्थि, जिसे योगदर्शन के आचार्य अनाहत चक्र और जैनाचार्य द्रव्यमन कहते हैं; मनरूप परिणत पुद्गल ।

धर्म/धर्म्यध्यान : तृतीय ध्यान, जिसे प्रशस्त ध्यान भी कहते हैं; आर्जव, आकिंचन्य, मार्दव, जात्यादिविषयक अभिमान का अभाव, और हितमितोपदेश इसके लक्षण हैं; आज्ञा, अपाय, विपाक, और संस्थानविचय के लिए वारंवार स्मृति को एक ही ओर प्रवृत्त करना ।

धारणा : दिव्य ध्यान; योगसाधना का छठा अंग; यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार बहिरंग; तथा धारणा, ध्यान, समाधि योग के अंतरंग अवयव हैं; संयम के परिवार के तीन सदस्य हैं—धारणा, ध्यान, समाधि ।

ध्याता : पाँचों इन्द्रियों और मन को रोकने वाला; 'मैं पर का नहीं हूँ, पर मेरा नहीं है, मैं मात्र ज्ञानस्वरूप हूँ' इस तरह का अभीक्षण आत्मचिन्तन करने वाला; योगी ।

ध्यान : चित्त की एकतानता/एकाग्रता; किसी एक पदार्थ में निरन्तर अधिवास; स्थिर आत्मपरिणाम (अध्यवसान); पदार्थों के स्वरूप-चिन्तन की सूक्ष्म प्रक्रिया ।

ध्येय : वीतराग जिन, पंचपरमेष्ठी तथा उनके द्वारा उपदिष्ट नौ पदार्थ (जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पाप, पुण्य) ।

नय : वक्ता का अभिप्राय; वस्तु के एक धर्म को जानने वाला ज्ञान; वस्तु का एकदेश ज्ञान ।

नियतकालिक : जिसका समय नियमित/निर्धारित हो ।

निर्ग्रन्थ : मिथ्यात्वादि ग्रन्थ परित्याग करने वाला; नो-आगम (आगमेतर) का त्याग करने वाला; रूढ़िभंजक; मौलिक चिन्तन का विश्वासी ।

निर्जरा : परिपाक, या तप द्वारा कर्मों का आत्मा से पृथक् होना ।

निर्विकल्प : वीतराग; राग-मुक्त; निश्चल; प्रशान्त ।

नीललेश्या : द्वितीय लेश्या; नीललेश्य व्यक्ति मन्द, विषयलोलुप, विवेकशून्य, मानयुक्त, मायाचारी, सुस्त, अभेद्य, निद्रालु, ठगी में कुशल, धन-धान्य की अदृष्ट लालसा लिये हुए, वासनाप्रिय होता है ।

नोकर्म : ईषत्कर्म; कर्म होते हुए भी संस्कारों के आग्रहण में असमर्थ; कर्मोदयवश जीव के सुखदुःख का कारण बनने वाला पुद्गलपरिणाम (द्रव्यकर्म=कार्मण शरीर; औदारिक=स्थूल द्रव्य से निर्मित शरीर का विशेषण; उदार=स्थूल) ।

पद : वर्ण-समुदाय; मोक्ष को परमपद कहा गया है ।

पदस्थ ध्यान : पवित्र पदों का आलम्बन ले कर होने वाला ध्यान; पंचपरमेष्ठियों से संबन्धित एक या अनेक अक्षर-समूह का जाप; इस ध्यान में वस्तु का निरसन ही जाता है, मात्र वर्ण/ध्वनियाँ होती है; (दे. ज्ञानार्णव ३५/१९१०-२०३२) ।

पद्मलेश्या : पाँचवीं लेश्या; पद्मलेश्य व्यक्ति त्यागी, भद्रपरिणामी, पवित्र, निश्छल, सरल, क्षमाशील, तथा साधु-गुरुजनों की सेवा में निरत रहता है । कषाय और लेश्या में अन्तर है । कषाय उपयोगरूप होती है, लेश्या योगरूप ।

पद्मासन : जब एक जंघा का मध्यभाग दूसरी जंघा से मिल जाए तब पद्मासन की मुद्रा बनती है; (दे. पृ. १४१-४३, १४६) ।

परमानन्द : अतिशय स्वास्थ्य; निजता की अतिशय शुद्ध अनुभूति ।

परमात्मा : सर्वदोष-रहित, कैवल्य-संपन्न, शुद्धात्मा ।

परम ध्यान : (दे. रूपातीतध्यान); जिस ध्यान में इन्द्रियों के समस्त विकार नष्ट हो जाते हैं तथा मन का संपूर्ण व्यापार शान्त हो जाता है; आत्मा-का-आत्मा में रत होना (अप्पा अप्पमि रदो) ।

परसमय : विभाग में लीन हो कर कर्मजनित रागादिक भावों को अपना मानना ।

पारिणामिक : तद्भाव से संबन्धित; परिणाम से संबन्धित; जिसका कारण द्रव्य का आत्मलाभ मात्र है वह परिणाम, तथा उससे संबन्धित पारिणामिक ।

पार्थिवीधारणा : ध्यान, जिसमें पृथ्वी की भूमिका महत्त्व की होती है; यह प्रथम धारणा है; धारणाएँ क्रमशः स्थूल से सूक्ष्मतर होती गयी है; (शास्त्रीय विवेचन, दे. ज्ञानार्णव, पिण्डस्थध्यान, ३४/१८७९-८५) ।

पिण्डस्थध्यान : शरीर में अवस्थित आत्मा का ध्यान; प्रमेय की प्रधानता लिये हुए ध्यान; इसमें वस्तु का आलम्बन होता है (पिण्ड=शरीर); इसके अन्तर्गत ५ धारणाएँ हैं - पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना/वायवी/मास्ती, वारुणी, तत्त्ववती ।

पीतलेश्या : पीतवर्ण वाले द्रव्य के आश्रय से होने वाली आत्मपरिणति; पीतलेश्य व्यक्ति विद्वान्, दयालु, विवेकी तथा लाभ-अलाभ में प्रसन्न रहने वाला होता है ।

पृथक्त्व : विस्तार; नानात्व ।

पृथक्त्ववितर्क वीचार : शुक्लध्यान का प्रथम प्रकार; इसका ध्याता ग्यारहवाँ गुण-स्थानवर्ती होता है तथा अनेक द्रव्यों का तीनों ही योगों के आश्रय में ध्यान करता है (पृथक्त्व=नानात्व, वितर्क=श्रुत, वीचार=व्यंजन, अर्थ, योगों का संक्रमण) ।

प्रणव : ओंकार; प्रतिक्षण नवीन; तत्क्षण; वर्तमान ।

१५४/जैन ध्यान, योग विशेषांक

प्रणिधान : कर्मफल-त्याग; समाधि; दो भेद—संभेद : ध्याता का अहंकार से संलिप्त होना, आत्मा को चारों ओर से समेटना; अभेद : स्वयं को प्रथम परमेष्ठी से अभिन्न करना ।

प्रतिक्रमण : पूर्व में जो अनेक प्रकार के शुभाशुभ कर्म किये हैं उनसे स्वयं को अलगाना; भूतकाल में जो दोष लगे हैं उनकी शुद्धि के निमित्त पश्चात्ताप/प्रायश्चित्त; स्वयं की स्वयं में वापसी ।

प्रदेश : एक परमाणु जितना क्षेत्र घेरता है; आकाश का वह हिस्सा जिसे एक पुद्गल परमाणु रोके ।

प्रमत्तसंयत : छठा गुणस्थान; संयम भाव तथा विकारात्मक प्रमाद की युगपत् स्थिति ।

प्राणापान : श्वासोच्छ्वास (प्राण—फेंफड़ों में ली गयी वायु को बाहर निकालना, अपान = बाहर की वायु को नासिकादि से भीतर ले जाना; प्रथमक्रिया को उच्छ्वास तथा द्वितीय को श्वास या निःश्वास कहते हैं) ।

प्राणायाम : उत्तम भावना से मन, वचन, काय त्रियोग का निग्रह; श्वासोच्छ्वास का नियमन — इसकी तीन क्रियाएँ हैं : पूरण = श्वास लेना, कुम्भन = श्वास रोके रखना, रेचन = श्वास को बाहर करना । प्राणायाम से ध्यान की सिद्धि हो सकती है, किन्तु यह अपरिहार्य नहीं है ।

प्रेक्षा : आत्मा और शरीर का युगपत् प्रेक्षण/अवलोकन; अंतरावलोकन; आत्मदर्शन; ध्यान की धारा को अबाध बनाना ।

बहिरात्मा : प्रथम से तृतीय गुणस्थानवर्ती जीव; जो विभाव-परिणति को आत्मरूप मानता है ।

बीजाष्टक : हँ ह्रीं ह्रीं ह्रूं ह्रूं ह्रें ह्रें ह्रौं; अक्षराष्टक; इनमें से ह्रीं को मायाबीज कहते हैं ।

भद्रध्यान : जो जीव भोगों को त्याग कर धर्म का चिन्तन करता है, और चिन्तन करते हुए भी अपनी इच्छानुरूप भोगों का सेवन करता है, उसके भद्रध्यान मानना चाहिये; मर्यादित भोग-सेवन करते हुए भी धर्मध्यान ।

भावमन : मनन करने/जानने वाला जीव; क्षयोपशम की अपेक्षा से होने वाली अन्तः-करण की निर्मलता ।

भावशुद्धि : मद, मान, माया, लोभ से रहित भाव ।

भेदविज्ञान : शरीर और आत्मा दो अलग अस्तित्व हैं, इनका आश्लेष मात्र भ्रम है, जो विज्ञान इसे युक्तियुक्त प्रतिपादित करता है वह; स्व-पर-विज्ञान ।

मनोयोग : मन के निमित्त से आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन ।

मातृका : वर्ण-समुदाय (१६ स्वर, १५ व्यंजन, ४ अर्द्धस्वर, ३ ऊष्म, १ सान्त = ४९); योगी इनका ध्यान करता है; पदस्थ ध्यान वर्ण-मातृका पर आधारित है ।

मिथ्यात्व : तत्त्वों में विपरीत आस्था; आत्मा के स्वरूप में अन्यथा श्रद्धा, जैसे-शरीर में आत्मभाव ।

मिथ्यादृष्टि : वह जीव जो शरीर में आत्मभाव रखता है; प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव, जो विपरीत श्रद्धान करता है और इसीलिए सच्चे धर्म की ओर से उदासीन रहता है ।

यथाख्यात चारित्र्य : कषायों के सर्वथा अभाव से प्रादुर्भूत आत्मविशुद्धि; यह १४ वें गुणस्थान में होता है ।

यन्त्र : मन्त्र का आधार, इसे ऐसे समझें कि जैसे देह और आत्मा का संबन्ध है ठीक वैसे ही यन्त्र और मन्त्र का संबन्ध है; मन्त्र-देह; मन्त्रदेव का अधिष्ठान ।

योग : मन, वचन, काय के निमित्त से आत्मप्रदेशों में होने वाली हलन-चलन; चित्त-वृत्तिनिरोध ।

रत्नत्रय : सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य ।

रूपस्थ ध्यान : वस्तुविरक्त ध्यान; स्वसंवेद्य ध्यान; जिस लोकातिशायी आत्मस्वरूप में जिनेन्द्र अवस्थित हैं उसका ध्यान; इसमें वस्तु का आलम्बन सर्वथा छूट जाता है; यह दो प्रकार का है - परगत : पंचपरमेष्ठी का ध्यान, स्वगत : निजात्मा का ध्यान । इसमें वस्तुन्मुखता/ऑब्जेक्टिविटी का विकास हो जाता है । (दे. ज्ञानार्णव, रूपस्थ-ध्यान, ३६/२०३३-७९) ।

रूपातीत : अपने चित्त को अन्य समस्त चिन्तवनों से हटा कर किसी एक पदार्थ से बद्धमूल करना; बिना किसी आलम्बन के किसी पदार्थ का ध्यान; जिसमें शुद्ध, कर्ममल-रहित, अमूर्त, और ज्ञानमय शरीर से संयुक्त चेतन और आनन्दस्वरूप आत्मा का स्मरण होता है; (दे. ज्ञानार्णव, रूपातीत ध्यान, ३७/२०८०-२०११) ।

रौद्रध्यान : तीव्र कषायों से घिर कर/अभिभूत हो कर हिंसा, झूठ, चोरी, अन्नह्य, और परिग्रह में रस/आनन्द लेना ।

लेश्या : कषाय में रंगी/अनुरंजित जीव की योग-प्रवृत्ति; जिसके द्वारा जीव कर्म-संश्लिष्ट होता है । ये ६ हैं : कृष्ण, कापोत, नील, पीत, पद्म, शुक्ल ।

लोकाग्र : लोकशिखर; आत्मा; जहाँ सिद्ध परमात्मा अवस्थित हैं; लोकाकाशपुरुषाकार है । इसकी कल्पना हम उस खड़े हुए पुरुष से कर सकते हैं जो दोनों पाँव फैलाये

(शेष पृष्ठ १७७ पर)

पदस्थ ध्यान : स्वरूप-विवेचन

□ मन्त्रों का एक स्वतन्त्र विज्ञान है। जिस प्रकार जल का सूक्ष्म रूप वाष्प है, अग्नि का विद्युत् है, उसी प्रकार सामान्य शब्द का सूक्ष्म रूप मन्त्र है।

□ कोई अक्षर मन्त्र-रहित नहीं है, कोई वृक्षावयव औषध-रहित नहीं है, और कोई व्यक्ति योग्यता-शून्य नहीं है; वस्तुतः इनकी योजना करके इन्हें फलप्रद बनाने वाला व्यक्ति ही दुर्लभ है।

—पं. नाथूलाल शास्त्री

आत्मानुशासन, स्वानुभव एवं आत्मदर्शन के लिए ध्यान आवश्यक है, जो मानसिक चंचलता को दूर कर स्थिरता एवं एकाग्रता द्वारा उपलब्ध होता है। ध्यान अपनी लक्ष्यपूर्ति का प्रमुख द्वार है।

एक अग्र यानी केवल आत्मदर्शन की ओर अपनी चित्तवृत्ति को अन्य पदार्थों से हटा कर लगाये रखना ध्यान है। ध्यान का समावेश इच्छानिरोध-रूप तप के अन्तर्गत किया गया है। आचार्य शुभचन्द्र के अनुसार ध्यान-सिद्धि हेतु रागद्वेष रूषी अन्धकार को दूर कर साम्यभाव का अवलम्बन अनिवार्य है।

ध्यान के आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल—इन चार भेदों में प्रथम दो ध्यान अप्रशस्त ध्यान हैं और तृतीय ध्यान कामभोग की इच्छा बिना प्रशमभाव रूप हैं, जिसका धर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन-युक्त अथवा क्षमादि दशलक्षण-सहित 'धर्म्य' यह नाम सार्थक है। इस धर्म्य ध्यान के आज्ञा, अपाय, विपाक, और संस्थान इन चार भेदों में से चतुर्थ संस्थान विचय के पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ये चार भेद हैं, जिनमें से यहाँ पदस्थ ध्यान के संबन्ध में प्रकाश डाला जा रहा है।

बृहद् द्रव्य-संग्रहकार (४८-१८५) ने पदस्थ ध्यान को पदस्थं मन्त्रवाक्यस्थम् बता कर मन्त्र-वाक्यों में स्थित माना है : पदान्यवलम्ब्य पुण्यानि योयिभिर्यद्विधीयते।

तत्पदस्थं मतं ध्यानं विभिन्नय पारगैः ॥ (ज्ञानार्णव ३८।१)। जिसे योगीश्वर पवित्र मन्त्रों के अक्षर-रूप पदों का अवलम्बन कर चिन्तन करते हैं, नयों के पारगामी उसे पदस्थ ध्यान कहते हैं। जं माइज्जइ उच्चरिऊण परमेद्धिमतं पयममलं । एयक्खरादि विविहं पयत्थाणं मुणेयव्वं ॥ (वसुन्दि श्रावकाचार ४/६४)। एक अक्षर से लेकर अनेक प्रकार के पंचपरमेष्ठीवाचक पवित्र मन्त्र-पदों का उच्चारण करके जो ध्यान किया जाता है, वह पदस्थ-ध्यान है। इसका विषय अनादि सिद्धान्त में प्रसिद्ध वर्ण मातृका अर्थात् अनादि स्वर और ककारादि व्यंजनों का चिन्तन है।

तीर्थकर : अप्रैल ८३/१५७

अनादि हकारान्ताः मंत्राः परमशक्तयः । स्वमण्डलगता ध्येयाः लोकद्वयफल-
प्रदाः ॥ (तत्त्वानुशासन १०७) । अपने-अपने मण्डलों में विद्यमान अ-कार से ह-कार
तक के परम शक्ति-संपन्न मन्त्रों का ध्यान करे, जो इहलोक और परलोक में फल
देने वाले हैं ।

अमन्त्रमक्षरं नास्ति, नास्ति मूलमनौषधम् ।
अयोग्यः पुरुषोनास्ति, योजकस्तत्र दुर्लभः ॥

(कोई भी अक्षर मन्त्ररहित नहीं है, कोई वृक्ष का अवयव औषधरहित नहीं
है और कोई व्यक्ति योग्यताविहीन नहीं है; इनकी योजना करके इन्हें फलप्रद बनाने
चाला ही दुर्लभ है) ।

ये सर्व वर्ण और पद सर्वसाधारण के सदैव उपयोग में आते हैं, परन्तु इनमें
शक्ति और अतिशय लाना प्रयोक्ता, प्रयोक्ता के भाव, प्रयोग-क्षेत्र और प्रयोग-काल
पर निर्भर है । विशिष्ट ध्यान द्वारा विधिपूर्वक ध्यान करने पर अक्षर और पद
प्रभावशाली, महत्त्वपूर्ण और रहस्यमय हो कर दिव्य-ज्योति प्रकट करते हैं; इसीलिए
वे मन्त्र कहलाते हैं । इन अक्षरों और पदों के बार-बार उच्चारण और चिन्तन से
मन की चंचलता दूर हो कर बिखरी हुई शक्तियाँ एकत्रित होती हैं, जिससे इष्ट-
सिद्धि होती है । इन मन्त्रों में बीजाक्षरों की शक्ति सूक्ष्मरूप से रहती है । जिस
प्रकार बीज में वृक्ष, फल, मूल आदि सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहते हैं और समय पा
कर प्रकट रूप में दृष्टिगोचर होते हैं, उनके विकास में जल और खाद आदि सामग्री
भी सहायक होती है; उसी प्रकार यहाँ भी विधि और साधना आवश्यक
होती है ।

वैज्ञानिकों ने शब्द-शक्ति के चमत्कार का जो परीक्षण किया है, उसके अनेक
उदाहरण हमारे सामने हैं । वीणा-वादन में सर्प, हाथी आदि मोहित हो जाते हैं ।
बॉयस फिगर्स की लेखिका मिस बट्स ह्यूज़ ने अपने संगीत-यन्त्र से निकली ध्वनियों
से पदार्थों की अनेक आकृतियाँ बना कर शब्द के सूक्ष्म कम्पन का परिणाम सिद्ध
किया है । मन्त्र की सफलता के लिए साधक की आस्था, नियत संख्या में शुद्ध
उच्चारण, नियम, ब्रह्मचर्य, साधक के नाम के साथ मन्त्र-शब्दों की मैत्री तथा
गुरु द्वारा बतायी गयी विधि का जानना आवश्यक है । मन्त्रों का एक स्वतन्त्र
विज्ञान है । जिस प्रकार जल का सूक्ष्म रूप वाष्प है, अग्नि का सूक्ष्म रूप विद्युत्
है, उसी प्रकार सामान्य शब्द का सूक्ष्म रूप मन्त्र है ।

आगे बताये गये एकाक्षरी मन्त्रों में सूक्ष्मता के कारण शक्ति और अतिशय
भी अधिक है । पुद्गल हो कर भी शरीर की अपेक्षा शब्द, मन एवं मन के विचार
उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं ।

१५८/जैन ध्यान, योग विशेषांक

शब्द-मन्त्र के लौकिक और लोकोत्तर दो भेद हैं। लौकिक मन्त्रों से सर्पविष, आधि-व्याधि, भूतादि बाधाएँ दूर की जाती हैं। ऐसे मन्त्रों के प्रयोग से मारण, उच्चाटन, वशीकरण आदि प्रयोजन सिद्ध किये जा सकते हैं। अलौकिक मन्त्र केवल आत्मशुद्धि के उपयोग में आते हैं। लौकिक मन्त्र कामना को लेकर व्यन्तर आदि देवी-देवताओं को अनुकूल करने के उद्देश्य से सिद्ध किये जाते हैं; किन्तु इस काल में कोई देवता सिद्ध न हो कर उनसे बिना पुण्य-लाभ के बजाय हानि अधिक पहुँचती है।

द्वादशांग श्रुतज्ञान के बारहवें अंग के भेद चौदह पूर्वों में दशम पूर्व विद्यानुवाद में मन्त्रों का सांगोपांग वर्णन है। वर्तमान में प्राचीन भण्डारों में कहीं-कहीं विद्यमान 'विद्यानुवाद' नामक ग्रन्थ की प्रतिलिपियाँ अशुद्ध, अपूर्ण एवं अन्य मन्त्रों एवं विधियों की मिलावट के कारण शंकास्पद बनी हुई हैं। अहिंसा-प्रधान जैनधर्म में हिंसा की सामग्री का मन्त्र-तन्त्र-साधना-विधि में उल्लेख इस शंका का प्रमाण है। विद्यानुवाद ग्रन्थ के १४ वें समुद्देश्य को पढ़ कर पाठक इसकी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

गृहस्थ-जीवन में शान्ति-पुष्टि के मन्त्रों का तथा रोगोपशमन, या धर्मायतनों की रक्षा हेतु लौकिक मन्त्रों का साधन कर उपयोग किया जा सकता है, परन्तु वे कामनापूर्वक साधन किये जाने योग्य परमेष्ठि-मन्त्र या उनसे संबन्धित मन्त्र होना चाहिये। हमारा अनुभव तो यह है कि परमेष्ठि-मन्त्रों के बार-बार जप करते रहने से सभी विपत्तियाँ स्वयमेव दूर हो जाती हैं। सम्यग्दृष्टि की निष्काम मन्त्र-आराधना का परिणाम पापास्रव का निरोध और सातिशय पुण्य का बन्धन है।

लौकिक मन्त्रों की सकाम आराधना आर्त्त-रौद्र ध्यान के अन्तर्गत है।

तद्धानं रौद्रमार्त्तं वा, यद्देहिकं फलार्थनाम् ।

तस्मादेतत्परित्यज्य, धर्म्मं शुक्लमुपास्यताम् ॥

(तत्त्वानुशासन २२०)

ऐहिक फल चाहने वालों का ध्यान आर्त्त-रौद्र रूप माना गया है; अतः इन्हें छोड़ कर धर्म्य-शुक्ल ध्यान ही करना चाहिये।

यहाँ पदस्थ ध्यान धर्म्यध्यान के अन्तर्गत होने से आत्महित के लिए उपादेय है। इसी दृष्टि से ध्यान के लक्षण में हमने 'एकाग्रचिन्तानिरोध' का शब्दार्थ एक=केवल, और अग्र=आत्मा तथा चिन्तानिरोध=बाह्य विषयों से मन को उन्हीं रोकना, किया है।

पदस्थ ध्यान के एकाक्षरी मन्त्र—'ओं (प्रणव), ह्रीं, हूं, क्लीं, श्रीं, क्रौं, ऐं तथा 'ओं, ह्रां, ह्रीं, ह्रूं, ह्रौं, ह्रं: अ सि आ उ सा नमः', 'णमो अरिहृताणं', इत्यादि 'ज्ञानार्णव'

तीर्थकर : अप्रैल ८३/१५९

प्रभृति ग्रन्थों में बताये गये हैं। ये मन्त्र सामायिक रूप भी हैं। उक्त एकाक्षरी बीज-मन्त्र अपना पृथक्-पृथक् महत्त्व रखते हैं। इनके शुद्ध उच्चारण से जो ध्वनि-तरंगें उठती हैं, उनका अद्भुत फल होता है। यम-नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ये ध्यान और समाधि में मन की एकाग्रता और आत्मसिद्धि में साधक हैं। जैनाचार्यों ने इन्हें ग्राह्य बता कर कथञ्चित् अनिवार्य माना है।

‘ॐ’ पंचपरमेष्ठिवाचक मन्त्र है। ‘ह्रीं’ इस मन्त्रराज के ध्यान का फल मुक्ति है। ‘क्ष्वी’ महाविद्या मन्त्र है, इसका फल श्रुतकेवली पद है। इसके ध्यान में मुद्रा आदि साधन ज्ञातव्य हैं। जप मन्त्रों के वाचक, उपांशु, मानस भेदों में मानस का अधिक महत्त्व है। मन्त्र शब्दों में ध्वनि और नाद के सहारे साधक की अन्तः-चेतना काम करती है। मन्त्र का योगक्रिया के साथ घनिष्ठ संबन्ध है; क्योंकि आत्मभक्ति के विकास में योगक्रिया भी सहायक है। सामायिक ध्यान का अंग है। पदस्थ ध्यान के लिए शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं से निवृत्त हो कर बैठें। उसका समय नियत, स्थान शुद्ध, एकान्त और भय-रहित हो। नासाग्रदृष्टि में आँखें न खुली हों, न बन्द। संसार में जितने क्लेश व दुःख हैं, सब अनात्म वस्तुओं के संबन्ध से होते हैं। मैं आत्मा हूँ यह निरन्तर ध्यान में रहना चाहिये। इस आत्मज्ञान के साथ निराकुल हो कर परमेष्ठि-मन्त्रों का ध्यान करते रहने से सुख, शान्ति, आरोग्य, ऐश्वर्य और आनन्द प्राप्त होता है। □ □

महान् सन्त कल्पयूथियस ने कहा-‘मैं सम्राट् हूँ’। लोगों ने कहा-‘कैसा पागलपन! फकीर हो और अपने आपको सम्राट् कहते हो। बात समझ में नहीं आती। सम्राट् के पास सेवक होते हैं। तुम्हारे पास सेवक कहाँ हैं? सन्त ने कहा-‘मैं आलसी नहीं हूँ। मैं श्रम करता हूँ। सेवक उन्हें चाहिये जो आलसी हैं, श्रम से जी चुराते हैं। मैं कर्मण्य हूँ, अकर्मण्य नहीं। सेवक का न होना, सम्राट् होने में बाधक नहीं है।’

‘तुम्हारे पास शस्त्र कहाँ हैं? सम्राट् के पास बहुत विशाल शस्त्रगार होता है। तुम्हारे पास शस्त्रगार कहाँ है?’

‘मैं कायर और डरपोक नहीं हूँ। कायर और डरपोक व्यक्ति को शस्त्रों की जरूरत होती है।’

‘तुम्हारे पास सेना कहाँ है? सम्राट् के पास विशाल सेना होती है।’

‘मैं शक्तिशाली हूँ। मुझ पर कोई भी आक्रमण नहीं कर सकता। मुझे किसी का भय नहीं है। मेरे लिए सेना अनावश्यक है। सेना उसे चाहिये जो भयभीत हैं, दूसरों के आक्रमण की आशंका से भरा रहता है।’

‘तुम्हारे पास धन कहाँ है जो सुख-सुविधा दे सके। सम्राट् के पास अपार धन होता है।’

‘धन गरीब और दरिद्र को चाहिये। मैं दरिद्र नहीं हूँ। मैं आन्तरिक संपदा से संपन्न हूँ।’ □

पढ़ें : जब कभी; आगे और, इतना और

इन पृष्ठों में हम जैन ध्यान/जैन योग से संबन्धित कतिपय पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं की एक यथासंभव पूर्ण तालिका अकारादि क्रम से दे रहे हैं, जिसमें दो तरह की सामग्री है : एक वह जो पूरी तरह जैन ध्यान/जैन योग पर है; दूसरी वह जिसका संबन्ध साधना-पक्ष से सीधा न हो कर जैनधर्म की संपूर्ण संरचना से है, इस प्रकार प्रदत्त सामग्री में से उन अंशों को पढ़ना चाहिये, जो जैन ध्यान/जैन योग के स्वरूप/उसकी संरचना से संबन्धित है। हमें विश्वास है प्रस्तुत सामग्री उपयोगी सिद्ध होगी और हमारे प्रिय पाठक इससे लाभान्वित होंगे।

—संपादक

अध्यात्म-अमृत-कलश (श्री अमृतचन्द्राचार्यकृत कलशों की स्वात्मप्रबोधिनी टीका व वचनिका) : टीका-प्रवचन : पं. जगन्मोहनलाल सिद्धान्तशास्त्री, सं. - पं. कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री; श्री चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन मन्दिर, कटनी; १९७७।

अध्यात्म कमलमार्तण्ड : कवि राजमल्ल, सं. - डॉ. दरबारीलाल कोठिया, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा; १९४४।

अध्यात्मकल्पद्रुम : विवेक - मोतीचन्द गिरधरलाल कापड़िया; श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई; १९७२।

अध्यात्मकल्पद्रुमसार : श्री जिनदत्तसूरि मण्डल, दादावाड़ी, अजमेर; १९७३।

अध्यात्म ग्रन्थ संग्रह (समाधिगतक, परमानन्द स्तोत्र स्वरूप-संबोधन आदि) : दि. जैन समाज मन्दसौर; १९४६।

अध्यात्मतत्त्वलोक : न्यायविजय; हेमचन्द्राचार्य जैन सभा पाटन; १९४३।

अध्यात्मतरंगिणी : सोमदेवचार्य; टीका : पं. (डॉ.) पन्नालाल साहित्याचार्य; अहिंसा मन्दिर प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली; १९६०।

अध्यात्मपदावली : सं. - डॉ. राजकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी; १९६५।

अध्यात्मबिन्दु (हर्षवर्धन विरचित स्वोपज्ञ वृत्ति सहित); लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद; १९७२।

अध्यात्मरसतरंग (गुजराती) : श्रीमद् रायचन्द्र आश्रम, आगास; १९७३।

अध्यात्मरहस्य : आशाधर; व्याख्या - जुगलकिशोर मुञ्जार; वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली; १९५७।

तीर्थंकर : अप्रैल ८३/१६१

अध्यात्मविचारणा : पं. सुखलाल संघवी; गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद; १९५८ ।
अध्यात्मविज्ञानयोग प्रवेशिका : संकलन - गोपीचन्द धाड़ीवाल, श्री जिनदत्तसूरि मण्डल,
दादावाड़ी, अजमेर; १९७१ ।

अध्यात्मसार : यशोविजय; केशरबाई ज्ञान भण्डार स्थापक, जामनगर; १९३८ ।

अध्यात्मोनिषद् : यशोविजय; केशरबाई ज्ञान भण्डार स्थापक, जामनगर; १९३८ ।

अनुभव प्रकाश : पं. दीपचन्द शाह; श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ ।

अप्पाणं सरणं गच्छामि : युवाचार्य महाप्रज्ञ; तुलसी अध्यात्म नीड्स, जैन विश्व भारती,
लाडनू (राजस्थान); १९८१ ।

आत्मानुशासन : गुणभद्र; श्रीमद् रायचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, आगास; १९७४ ।

आदिपुराण : आचार्य जिनसेन; सं.-अनु.-पं. पन्नलाल साहित्याचार्य; भारतीय ज्ञानपीठ;
बी/४५-४७, कनाॅट प्लेस, नयी दिल्ली, द्वि. सं. १९६३ ।

आध्यात्मिक विकासक्रम : पं. सुखलाल संघवी; गुर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय, अहमदाबाद;
१९२८ ।

आनन्दधन ग्रन्थावली : सं.-महताबचन्द खारैड; विजयचन्द जरगड़, जौहरी बाजार,
जयपुर ।

आभा मण्डल : युवाचार्य महाप्रज्ञ; आदर्श साहित्य संघ, चुरू; १९८० ।

आयारो : सं.-मुनि नथमल (संप्रति युवाचार्य महाप्रज्ञ); जैन विश्व भारती, लाडनू;
१९७४ ।

आराधना : जयाचार्य; सं.-अनु.-साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा; जैन विश्व भारती, लाडनू;
१९८१ ।

आराधनासमुच्चय : योगसारसंग्रहश्च : सं. - डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये; भारतीय
ज्ञानपीठ, वाराणसी; १९६७ ।

आर्हद्दर्शन दीपिका : मंगलविजय; यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी ।

आवश्यक निर्युक्ति (हरिभद्रीय टीका) : ध्यानशतक पर आचार्य मलधारी हेमचन्द्र-
सूरिकृत टिप्पण; दे. ला. जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत; आगमोदय समिति, मेहसाना ।

आवश्यक निर्युक्ति दीपिका : भाष्य - माणिक्य शेखरसूरि, जैन ग्रन्थमाला, सूरत; १९३९ ।

इष्टोपदेश : पूज्यपाद; परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई; १९५४ ।

उवासगदसाओ : सं. - मुनि नथमल; जैन विश्व भारती, लाडनू; १९४७ ।

१६२/जैन ध्यान, योग विशेषांक

उपासकाध्ययन (यशस्तिलक चम्पू का एक अंश) : सोमदेवसूरि; अनु. - पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी; १९६४।

एकला चलो रे : युवाचार्य महाप्रज्ञ; आदर्श साहित्य संघ, चुरू; १९८२।

एसो पंच णमोक्कारो : युवाचार्य महाप्रज्ञ; आदर्श साहित्य संघ, चुरू; १९७९।

कायोत्सर्ग शतक : अनु. - मुनि दुलहराज, आदर्श साहित्य संघ, चुरू; १९७६।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा (स्वामिकुमार) : श्रीमद् रायचन्द्र ग्रन्थमाला, आगास; १९६०।

किसने कहा मन चंचल है : युवाचार्य महाप्रज्ञ; आदर्श साहित्य संघ, चुरू; १९७९।

कुन्दकुन्द-भारती (पंचास्तिकाय, समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, अष्टपाहुड, वारसणु पेक्खा-द्वादशानुप्रेक्षा, भक्ति संगहो-भक्ति-संग्रह) : कुन्दकुन्दाचार्य; पं. (डॉ.) पन्नालाल साहित्याचार्य; श्रुत भण्डार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फलटण; १९७०।

गुणस्थान क्रमारोह : रत्नशेखरसूरि; दे. लालभाई जैन फण्ड, सूरत।

गुरुगुण षट्त्रिंशिका (स्वोपज्ञवृत्ति सहित) आत्मानन्द सभा, भावनगर।

गोम्मतसार (कर्मकाण्ड) भाग १, २ : आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती; सं. - डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री; भारतीय ज्ञानपीठ, बी/४५-४७, कनाॅट प्लेस, नयी दिल्ली; १९८०, १९८१।

गोम्मतसार (जीवकाण्ड) भाग १, २ : आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती; सं. - डॉ. आदिनाथ उपाध्ये, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री; भारतीय ज्ञानपीठ, बी/४५-४७, कनाॅट प्लेस, नयी दिल्ली; १९७८।

चेतना का ऊर्ध्वारोहण : मुनि नथमल; आदर्श साहित्य संघ, चुरू; १९७८।

जीतकल्पसूत्र : जिनभद्रगणि; बबलचन्द्र केशवलाल मोदी, अहमदाबाद; १९४०।

जैन दृष्टिअे योग (गुजराती) : भो. गि. कापड़िया; महावीर जैन विद्यालय, बम्बई; १९५४।

जैन मुमुक्षुओ अने विपश्यना (गुजराती) : मुनि अमरेन्द्रविजय, मुनि विनोदचन्द्र; हीरजी हंसराज गाला, अनन्त दीप चेम्बर्स, नरसीनाथा स्ट्रीट, बम्बई-९; १९८२।

जैन योग : मुनि नथमल; आदर्श साहित्य संघ, चुरू; १९७८।

जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन : डॉ. अर्हूदास बडोवा दिगे; पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-५।

जैन योग की परम्परा : मुनि राकेशकुमार; तुलसी अध्यात्म नीडम्, जैन विश्व भारती, लाडनू; १९८२।

जैन योग विशेषांक; परिशिष्टांक (तुलसी प्रज्ञा); जैन विश्व भारती, लाडनूं, फरवरी-
मार्च, १९८२; अप्रैल-जून, १९८२।

जैन साधना-पद्धति में तपोयोग : मुनि श्रीचन्द्र, आदर्श साहित्य संघ, चुरू; १९७९।
णमोकार मन्त्र विशेषांक - खण्ड १, २ तीर्थकर, वर्ष १०; अंक ७-८, ९;
६५, पत्रकार कॉलोनी, इन्दौर; नव. - दिस. १९८०; जन. १९८१।

ज्ञानसार : पद्मसिंह; टीका. त्रिलोकचन्द्र, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत।

ज्ञानार्णव : आचार्य शुभचन्द्र; सं. - डॉ. हीरालाल जैन, डॉ. आ. ने. उपाध्ये,
पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री; अनु. - पं. बालचन्द्र शास्त्री; जैन संस्कृति संरक्षक
संघ, सोलापुर; १९७७।

तत्त्वानुशासन : नागसेन; वीर सेवा मन्दिर दिल्ली; जैन साहित्य विकास मण्डल,
११२, स्वामी विवेकानन्द मार्ग, इर्ला, विले पारले, बम्बई-५६।

तत्त्वार्थवार्तिक (भाग १, २) : अकलंकदेव, सं.- डॉ. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य; भारतीय
ज्ञानपीठ, वाराणसी; १९५३, १९५७।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार : विद्यानन्द; निर्णय सागर प्रेस, बम्बई; १९१८।

तत्त्वार्थधिगमसूत्र (भाष्य टीका; खण्ड १, २); देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार
फण्ड, बम्बई।

तत्त्वार्थसार : अमृतचन्द्रसूरि; सं. - पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, श्री गणेशप्रसाद
वर्णी ग्रन्थमाला, डुमराववाग, अस्सी, वाराणसी-५; १९७०।

तत्त्वसार : देवसेनाचार्य; सं. अनु. - पं. हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री; श्री सत्श्रुत
सेवा साधना केन्द्र, अहमदाबाद; १९८१।

तत्त्वार्थसूत्र : आचार्य गृद्धपिच्छ; विवेचन - पं. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री; श्री गणेश-
प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी; १९५०।

तत्त्वार्थसूत्र : वाचक उमास्वाति; विवेचन - पं. सुखलाल संघवी; पार्श्वनाथ विद्याश्रम
शोध संस्थान, वाराणसी-५; तृ. सं. १९७६।

तजो मान करो ध्यान : आधिका विजयामती, श्री दिगम्बर जैन कुन्थु विजय ग्रन्थमाला
समिति, जयपुर; १९८२।

तुम अनन्त शक्ति के स्रोत हो : मुनि नथमल; भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी; १९६९।

द्रव्य संग्रह : आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती; सं.- डॉ. दरबारीलाल कोठिया,
श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी; १९६६।

१६४/जैन ध्यान, योग विशेषांक

दशाश्रुतस्कन्ध : टीका. - आत्माराम महाराज; जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर; १९३६।

दसवेआलियं : सं. - मुनि नथमल; जैन विश्व भारती, लाडनूं; १९७४।

दसकालियसुत्तम् (अगस्त्यसिंह चूर्णि सहित) : सं. - मुनि पुण्यविजय; प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी; १९७४।

ध्यान (विशेषांक, 'जिनवाणी'), सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर, जन.-मार्च, १९७२।

ध्यानाध्ययन : सं. - क्षुल्लक सिद्धसागर; दि. जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी, सवाई मानसिंह हाई वे, जयपुर।

ध्यानद्वात्रिंशिका (द्वात्रिंशिका) : सिद्धसेन दिवाकर।

ध्यान विचार : जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई; १९५८।

ध्यानशतक : जिनभद्रक्षमाश्रमण; विनयसुन्दरचरण ग्रन्थमाला, जामनगर; १९४१।

ध्यानशतक : अनु.-मुनि दुलहराज; आदर्श साहित्य संघ, दिल्ली; १९७२।

ध्यानशतक तथा ध्यानस्तव : सं. - बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री; वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली; १९७६।

ध्याचशास्त्र : रामसेनाचार्य; सं. - जुगलकिशोर मुख्यार; वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, दिल्ली; १९६३।

ध्यानस्तव : भास्करनन्दी; सं.-सुजुको; भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली; १९७३।

नमस्कार स्वाध्याय (प्राकृत विभाग) : जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई-५६।

नमस्कार स्वाध्याय (संस्कृत विभाग) : संशोधक-अनु. - तत्त्वानन्दविजय; जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई-५६; १९६२।

नमस्कार स्वाध्याय (अपभ्रंश-हिन्दी-गुजराती विभाग) : संशो.-अनु.-तत्त्वानन्दविजय; जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई-५६, १९८०।

नवकार आराधना : मुनि जयन्तविजय 'मधुकर', राजेन्द्रसूरि साहित्य प्रकाशन मन्दिर, राणापुर (झाबुआ); १९८२।

परमात्मप्रकाश : योगसारश्च : सं. - डॉ. आ. ने. उपाध्ये; परमश्रुत प्रभावक मण्डल; श्रीमद् रायचन्द्र आश्रम, आगास, १९७३।

पाहुडदोहा : मुनि रामसिंह; सं.- हीरालाल जैन; गोपाल अम्बादास चवरे, कारंजा (बरार); १९३३।

तीर्थंकर : अप्रैल ८३/१६५

प्राचीन जैन साधना-पद्धति : साध्वी राजीमती; श्रीमती भंवरदेवी सुराना, सुराना
हाउस, सी-स्कीम, जयपुर; १९७६।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय : श्रीमद् रायचन्द्र ग्रन्थमाला, आगास।

प्रेक्षा : अनुप्रेक्षा : आचार्य तुलसी; आदर्श साहित्य संघ, चुरू; १९८३।

प्रेक्षाध्यान : आधार और स्वरूप : युवाचार्य महाप्रज्ञ; तुलसी अध्यात्म नीडम्, जैन
विश्व भारती, लाडनू; १९८०।

प्रेक्षाध्यान : आसन और प्राणायाम : मुनि किशनलाल; तुलसी अध्यात्म नीडम्,
जैन विश्व भारती, लाडनू; १९८१।

प्रेक्षाध्यान : श्वासप्रेक्षा : युवाचार्य महाप्रज्ञ; तुलसी अध्यात्म नीडम्, जैन विश्व भारती,
लाडनू; १९८१।

बड़ा ध्यान : श्रीमज्जयाचार्य; प्रेक्षा-ध्यान (मासिक); तुलसी अध्यात्म नीडम्
जैन विश्व भारती, लाडनू, अगस्त, १९८१।

बृहद् द्रव्यसंग्रह (ब्रह्मदेव निर्मित वृत्ति सहित) : अनु. - जवाहरलाल शास्त्री;
परमश्रुत प्रभावक मण्डल; श्रीमद् रायचन्द्र आश्रम, आगास; १९६६।

भगवई (अंगसुत्ताणि, भाग-२); सं. - मुनि नथमल; जैन विश्व भारती, लाडनू;
१९७५।

भगवती आराधना (भाग १, २) : आचार्य अपराजितसूरि; जैन संस्कृति संरक्षक
संघ, सोलापुर; १९७८।

मंगल मन्त्र णमोकार : एक अनुचिन्तन : डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री; भारतीय ज्ञानपीठ,
नयी दिल्ली; १९७९।

मन का कायाकल्प : युवाचार्य महाप्रज्ञ; तुलसी अध्यात्म नीडम्, जैन विश्व भारती,
लाडनू; १९८२।

मन के जीते जीत : मुनि नथमल; आदर्श साहित्य संघ, चुरू; १९७९।

मनन और मूल्यांकन : युवाचार्य महाप्रज्ञ; आदर्श साहित्य संघ, चुरू; १९८३।

मनोनुशासन : आचार्य तुलसी; आदर्श साहित्य संघ, चुरू; १९७९।

महावीर की साधना का रहस्य; मुनि नथमल; आदर्श साहित्य संघ, चुरू; १९७५।

मैं, मेरा मन, मेरी शान्ति : मुनि नथमल; आदर्श साहित्य संघ, चुरू; १९७०।

मोक्षमार्ग प्रकाशक : पं. टोडरमल; श्री दि. जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़;
चतुर्थावृत्ति १९७८।

१६६/जैन ध्यान, योग विशेषांक

योगामृत : मुनि बालचन्द्र; अनु.- आचार्य देशभूषण; कैलाशचन्द्र जैन (प्रो. राजा टॉयज, डिप्टीगंज), दिल्ली ।

योगानुशीलन (प्रथम व द्वितीय भाग) : कैलाशचन्द्र बाढदार; दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी, महावीर भवन, सवाई मानसिंह हाईवे, जयपुर-३; १९८२ ।

योगदर्शन तथा योगविशिका : पं. सुखलाल संघवी ।

योगदृष्टिसमुच्चय : हरिभद्र; देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धारक फण्ड, बम्बई; १९१३ ।

योगप्रदीप : मंगलविजय; १९४० ।

योगप्रदीप : स. - क्षुल्लक सिद्धसागर ।

योग पाठ्यक्रम विशेषांक १, २ (तुलसी प्रज्ञा); जैन विश्व भारती, लाडन, अकटू-दिस., ८२; जन.-मार्च, '८३ ।

योगविन्दु : हरिभद्र; जैनधर्म प्रभावक सभा, भावनगर; १९११ ।

योगमार्ग ध्यान-विधि : दि. जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी, सवाई मानसिंह हाईवे, जयपुर ।

योगविशिका : हरिभद्र; आत्मानन्द सभा, भावनगर; १९२२ ।

योगविशिका तथा पातंजल योगदर्शन वृत्ति : यशोविजय, सं. - पं. सुखलाल संघवी, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर; १९२२ ।

योगशतक (स्वोपज्ञवृत्ति सहित) तथा ब्रह्मसिद्धान्तसमुच्चय : हरिभद्र; मुनि पुण्यविजय; लालभाई दलपतिभाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद; १९६५ ।

योगशतक : हरिभद्र; सं. - इन्दुकला झवेरी; गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद; १९५६ ।

योगशास्त्र : हेमचन्द्र; आ. श्रीमद्विजयदानसूरीश्वर जैन ग्रन्थमाला, सूरत; १९३८ ।

योगशास्त्र : एक परिशीलन : अमरमुनि; सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा; १९७३ ।

योगसार : योगीन्दुदेव; परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई; १९३७ ।

योगसार प्राभूत : अमितगति; सं.- अनु.- पं. जुगलकिशोर मुख्यार; भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली; १९६८ ।

योगसार संग्रह : गुरुदास; सं. - डॉ. आ. ने. उपाध्ये; माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई ।

योग से अयोग की ओर : मुनि सुखलाल : आदर्श साहित्य संघ, चुरू; १९८१ ।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार : समन्तभद्र; भा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई; १९२५ ।

तीर्थंकर : अप्रैल ८३/१६७

श्रावकाचार संग्रह (भाग १, २, ३, ४) : सं.- अनु.- पं. हीरालाल सिद्धान्तालंकार;
आ. शान्तिसागर दि. जैन जिनवाणी जीर्णोद्धार संस्था, श्रुतभंडार और ग्रन्थ
प्रकाशन समिति, फलटण; १९७६।

श्रावकाचार : अमितगति; सं.-राजमल बड़जात्या।

समवायांग : सं.- मुनि कन्हैयालाल आगम अनुयोग प्रकाशन, दिल्ली; १९६६।

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : दि. जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी, सर्वाई
मानसिंह हाईवे, जयपुर।

समाधिभरण (गुजराती) : भोगीलाल गि. शेट; ए. एम. मेहता, ३५ मोरवी हाउस,
गोवा स्ट्रीट, बम्बई; १९७७।

समाधिभरणोत्साह दीपक : सकलकीर्ति; अनु.- पं. हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री; वीर
सेवा मन्दिर, सरसावा; १९३९।

समीक्षण ध्यान : प्रयोग-विधि : व्याख्याता- आचार्य नानेश (नानालालजी महाराज),
भंवरलाल मेहता, अहमदाबाद; १९८२।

सम्बोधि : युवाचार्य महाप्रज्ञ; तुलसी अध्यात्म नीडम्, जैन विश्व भारती, लाडनू,
तृतीय सं., १९८१।

सर्वार्थसिद्धि : पूज्यपाद; अनु.- पं. फूलचन्द्र शास्त्री; भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली;
१९७१।

साधक-गीता (योगसार, परमात्मप्रकाश का पद्यानुवाद) : सं.- लक्ष्मीचन्द्र जैन 'सरोज',
दि. जैन समाज, जावरा (म. प्र.), १९८२।

साधना : प्रयोग और परिणाम : मुनि किशनलाल खींवराज सेठिया, भीनासर
(राज.); १९८०।

सुभाषित रत्नसंदोह : अमितगति : स्थानांगसूत्र (अभयदेवसूरिकृत टीका सहित)।

हरिवंशपुराण : जिनसेनाचार्य; सं. अनु.- पं. (डॉ.) पन्नालाल जैन साहित्याचार्य;
भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली; द्वितीय सं., १९७४।

(आधार : 'तुलसी प्रज्ञा', लाडनू, जैन योग परिशिष्टांक, खण्ड ८, अंक १-३, अप्रैल-जून १९८२;
'तीर्थकर' संदर्भ ग्रन्थालय, इन्दौर।)

□□

(स्वरूप : सम्बोधन से आचरण तक; पृष्ठ १६ का शेष)

शब्दावली अधिक कठिन नहीं है, बल्कि हम ही हैं जो उसे/उसके ढाँचे को दुर्गम बना रहे हैं। कठिनाई तब और अधिक बढ़ जाती है जब हम इन शब्दों के व्युत्पत्तिपरक अर्थ प्रतिपादित करने की चूक करते हैं। उदाहरणार्थ अगर हम स्वरूपाचरण के लिए 'स्वरूप में संचरण', 'स्वयं-में-स्वयं-की-उपस्थिति' कहें तो शायद इसमें कोई तकनीकी आपत्ति नहीं हो सकती। 'स्वयं-की-स्वयं-में-यात्रा स्वरूपाचरण है' यदि इस तरह कुछ हम कहें तो इसमें भी किसी शास्त्रीय नियम का भारी उल्लंघन नहीं होगा। जो आरम्भ कर रहा है (बिगिनर), उसके लिए तकनीकी शब्दों से लड़ी-फदी परिभाषाओं को यदि आसान बनायेंगे तो हम जैन दर्शन को अधिक लोगों तक ले जा सकेंगे; मेरा आशय यहाँ फिलहाल जैनों से ही है, जिनमें धार्मिक साक्षरता का प्रतिशत बमृशिकल १० है।

मिथ्यात्व और सम्यक्त्व दो चिरपरिचित शब्द हैं। जैसे निश्चय और व्यवहार अत्यन्त लोकप्रिय और बहुचर्चित शब्द हुए हैं, वैसे ही ये हैं। मिथ्यात्व यानी वस्तु-स्वरूप की अनदेखी, उसे गलत जानना-समझना; और सम्यक्त्व अर्थात् वस्तु का जो स्वरूप है, उसे हू-ब-हू, ज्यों-का-त्यों, बिना किसी अपमिश्रण के जानना। अध्यात्म के क्षेत्र का सारा खेल दृष्टि का है; जहाँ स्पष्ट, पारदर्शनी, साफसुथरी, सापेक्ष दृष्टि है, वहीं कुछ घटित होने की संभावना है। जिसे मिथ्यात्व कहा गया है, उसके अन्य संबोधन हैं—असंयम, अविरति, अचारित्र आदि। मिथ्यात्व में तत्त्व-श्रद्धान विपरीत और रुचि असम्यक् होती है; चित्त सत्योन्मुख नहीं रहता। स्वरूपाचरण चारित्र इसके बिलकुल विपरीत है, उसमें वही-वही सब होता है, जो मिथ्यात्व में अनुपस्थित होता है। स्वरूपाचरण की कुछ संक्षिप्त परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

- (१) अपने ज्ञायक भाव रूप में स्वभाव चर्या (रत्नकरण्ड श्राव. ४९)।
- (२) सकल संयम के प्रकट होने पर जो चारित्र प्रकट होता है वह (छहडाला/६-७)।
- (३) सम्यक्चारित्र अर्थात् स्वरूप में तल्लीनता (धर्मसंग्रह श्रावकाचार ७/१३८)।
- (४) कर्मों के ग्रहण करने की प्रक्रिया का रुक जाना (पंचाध्यायी २/७६३)।
- (५) शुद्ध मन, काय की शुद्धोपयोगोन्मुख क्रिया, जिसमें स्वरूपाचरण चारित्र आकार ग्रहण करता है (मूलाचार/वट्टेकर ५/३८)।
- (६) यथार्थ ज्ञानयुक्त आचरण (ज. सि. को., भा. ४/पृ. ५१०)।

स्वरूपाचरण में श्रद्धातत्त्व और आत्मज्ञान की तीव्रतर उत्कण्ठा महत्त्वपूर्ण होती है। आत्मज्ञान-से-शून्य आगमज्ञान कभी कार्यकारी नहीं होता। पं. टोडरमलजी ने 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में लिखा है: 'तातें आत्मज्ञान-शून्य आगमज्ञान भी कार्यकारी नाहीं। या प्रकार सम्यग्ज्ञान के अर्थि जैनशास्त्रनि का अभ्यास करै है तो भी याकै सम्यग्ज्ञान नाहीं' (मो. प्र. ७/३४९)। सोमदेवसूरि ने 'उपासकाध्यान' (२१/२६५) में सम्यग्दर्शन-से-रहित शास्त्रवाचन को मुख की खाज मिटाने का साधन-मात्र कहा है। उन्होंने कहा है कि 'जो मनुष्य ज्ञानरहित है, उसका चारित्र-धारण अभागे मनुष्य के आभूषण धारण करने जैसा है'।

इस तरह स्वरूपाचरण, स्व + रूप में उत्तरोत्तर दृढ़ होने की सम्यक्, संतुलित, अमोघ, और मुक्तिप्रदायिनी प्रक्रिया है।

—डॉ. नेमीचन्द जैन द्वारा एनाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी द्वारा उपदिष्ट सामग्री पर आधारित।

अद्ध कथानक – संपूर्ण कथानक

आए नगर जौनपुर फेरि । कुल कुटुंब सब बंटे घोर ॥
गुरुजन लोग दीह उपदेस । आसिखबाज सुनै दरबेस ॥१९९॥
बहुत पढ़ै बांभन अरु भाट । बनिकपुत्र तो बंटे हाट ॥
बहुत पढ़ै सो मांगे भीख । मानहु पूत बड़े की सीखा ॥२००॥

बरस एक जब पूरा भया । तब बनारसी द्वारं गया ॥
नोची दिष्टि बिलोकै धरा । कहूँ दीनार न पावै परा ॥२१६॥
फिर दूजै दिन आयौ द्वार । सुपने नहि दीखै दीनार ॥
व्याकुल भयौ लोभ के काज । चिंता बढी न भावै नाज ॥२१७॥
कही भानसौं मन की दुधा । तिनि जब कही बात यह मुधा ॥
तब बनारसी जानी सही । चिंता गई छुधा लहलही ॥२१८॥

जौनपुर आते ही मुझे अपने आत्मीय बुजुर्गों के सामने आना पड़ा । इन लोगों ने मेरे आचरण की निन्दा की और उपदेश देने लगे – ‘आशिकी छोड़ दो । आशिकी सूफी फकीरों के लिए है, तुम्हारे लिए नहीं । जानार्जन ब्राह्मणों और चारणों का काम है । व्यापारी के लड़के को तो व्यापार ही करना होता है । अधिक पढ़ने-लिखने वाले को भीख माँगनी पड़ती है; इसलिए, बेटे ! बड़ों की सीख मानो और अपने पुस्तनी धन्धे में लगे ।’

एक साल पूरा हो गया । मैं द्वार पर गया और प्रतिभूत दीनार के लिए चारों ओर देखने लगा; किन्तु वह कहीं नहीं मिली । दूसरे दिन फिर वहाँ गया और दीनार खोजने लगा; किन्तु वह स्वप्न में भी दिखायी न दी । लोभ ही मेरी आकुलता का कारण बन गया । चिन्ता बढ़ गयी, भूख रफू हो गयी; अन्ततः सारा किस्सा भानचन्द्र को सुनाया । सारी दुविधा कह डाली । जब उन्होंने कहा—‘यह सब मिथ्या है’, तब मुझे सही स्थिति का भान हुआ, सम्यक्त्व की पहचान बनी । मैं निश्चिन्त हुआ । मेरी भूख लहलहा उठी ।

(देखिये पृष्ठ—१७२-७३; १७४)

अर्द्ध कथानक (३)

चार मास की गर्मी के पश्चात् मौसम कुछ ठीक हुआ। उस समय भानचन्द और रामचन्द नामक दो जैन साधु जौनपुर आये। वे श्वेताम्बर खरतरगच्छीय आचार्य अभयधर्म सूरि के शिष्य थे। उनमें भानचन्द ज्ञानी और बुद्धिमान थे। रामचन्द उस समय बालक था; अतः गृहस्थ के-से वस्त्रादि पहनता था। उनके सम्प्रदाय के अनुयायीगण उनके दर्शन करने जाते। मैं भी उन्हीं का अनुसरण कर उपाश्रय में जहाँ वे अवस्थित थे दर्शन करने पहुँचा। भानचन्द से मेरी घनिष्ठता हो गयी और मैं सारा दिन वहीं बिताने लगा। रात्रि में भी घर लौटने में मुझे देर होने लगी। मैं जैनधर्म के मूलग्रन्थ उनसे पढ़ने लगा। मैंने बहुत-से ग्रन्थ पढ़े। विभिन्न तीर्थकरों के स्तोत्रादि पढ़े। धार्मिक विषयों में लिखित सुपरिचित गाथाएँ पढ़ीं, स्नात्र पूजा कैसे की जाती है, उसकी विधि विषयक पुस्तक पढ़ी। सामायिक, प्रतिक्रमण, ध्यान किस प्रकार करना चाहिये; पढ़ा। इसके अलावा कोश और अलंकार ग्रन्थ भी पढ़े। एक और जो ग्रन्थ पढ़ा वह सुपरिचित श्रुतबोध था। छन्दकोश भी पढ़ा। मैं मेधावी छात्र था। जो कुछ पढ़ता उसे कण्ठस्थ और उसकी यथातथ्य भाव से आवृत्ति करने में बहुत समय व्यय करता। मैं तथाकथित भाव से धार्मिक बन गया और सत् जैनों के आठ गुण अधिगत करने की चेष्टा करने लगा।

मैंने लिखना प्रारम्भ किया और संस्कृत व्याकरण के एक गुरुत्वपूर्ण विषय में 'पंचसन्धि' नामक पुस्तक लिखने में व्यस्त हो गया; किन्तु तब भी मेरा जीवन दोहरा था। यद्यपि ज्ञानार्जन में मैंने अपना सारा समय बिताया, फिर भी अपने प्रेम का व्यसन परिपूर्ण रूप से नहीं त्याग सका था। मैंने एक हजार पदों की एक पुस्तक लिखी। विषय था आशिकी। वास्तव में वह पुस्तक नौ रसों से परिपूर्ण थी। आज पीछे देख कर कह सकता हूँ कि मैं मिथ्यात्व का कवि था और उस पुस्तक का लेखक था जो थी मिथ्यात्वपूर्ण।

इस प्रकार ज्ञान और प्रेम की साधना में नियुक्त हो कर मैंने अर्थोपार्जन के लिए कुछ नहीं किया। सत्य तो यह था कि बहुत बार मैं खाना भी भूल जाता। अर्थ-उपार्जन-जैसे सामान्य विषय पर चिन्तन का उस समय मेरे पास समय ही कहाँ था ?

माता-पिता की भर्त्सना सहन करते हुए मैंने इस तरह दो वर्ष व्यतीत कर दिये। सम्बत् १६५९ के पूर्व ही मैं अपने दोनों व्यसन प्रेम और पुस्तक से मुक्त हो गया। तब मैं अपनी पत्नी को उसके पितृगृह से लाने के लिए रवाना हुआ। बढ़िया कपड़े एवं नौकर-चाकरों से परिवृत्त होकर सानन्द पालकी में बैठ कर खैराबाद पहुँचा।

उस समय मेरी उम्र पन्द्रह साल की थी। वहाँ एक मास व्यतीत भी नहीं हुआ कि मैं वात-विकार-जनित एक कुत्सित रोग से आक्रान्त हो गया। मेरी समस्त देह का चर्म कुष्ठरोग के घावों से भर गया। हाड़ चरमर करने लगे, बाल गिरने लगे। हाथ-पाँव में असंख्य घाव हो गये। देखने में इतना कुरूप हो गया कि लोग मुझसे दूर रहने लगे। मेरे श्वसुर और साले ने मेरे साथ खाने से इनकार कर दिया। यह सब मेरे पापों का ही तो फल था।

केवल मेरी पत्नी और सास मेरी सेवा करती थीं। वे मेरे लिए खाना और जल ले कर आतीं और अपने हाथों से ही खिला भी देतीं। नियमित रूप से मेरे घावों पर मलहम लगातीं; किन्तु मेरे शरीर से इतनी दुर्गन्ध निकलती कि वे भी आवश्यकता होने पर ही मेरे पास आतीं; नाक पर कपड़ा रख कर।

अन्ततः एक नाई ने मुझे इस रोग से मुक्त किया। उसने जो औषधि दी उसी से मैं नीरोग हुआ। उसके कहे अनुसार लवण-रहित खाद्य खाने लगा था। भूँजा हुआ चना ही मेरा प्रधान भोजन था। क्रमशः मैं ठीक होने लगा। चार महीने बाद रोग-मुक्ति की सम्भावना स्पष्ट होने लगी। इसके दो महीने पश्चात् मैं सम्पूर्णतः स्वस्थ और नीरोग हो गया।

मैंने बार-बार अदृश्य-प्रेरित उस नाई को पैसे देना चाहा; किन्तु उसने किसी भी प्रकार ग्रहण नहीं किया। स्वस्थ होने के पश्चात् उसे किसी-न-किसी रूप में पुरस्कृत करने की ठानी। मैंने उसे बुलवाया, सम्मानित किया। 'प्रिय बन्धु' कह कर अभिहित किया और बहुत उपहार दिये। इस बार उसने उन्हें ग्रहण कर लिया। वह सन्तुष्ट मन से लौटा। यह जान कर मेरा हृदय आनन्द से भर उठा। पूर्ण स्वस्थ होने के पश्चात् मैं दस दिन और खैराबाद रहा, फिर पालकी-द्वारा ही घर लौट गया। घर मैं अकेला ही लौटा, कारण मेरे सास-श्वसुर ने पत्नी को मेरे साथ नहीं भेजा था।

घर पहुँचते ही मैंने माता-पिता के चरण छुए। मेरी रोगशीर्ण देह देख कर माँ छाती पीट-पीट कर कुरारी पक्षी की भाँति रोने लगी और इस प्रकार चीत्कार करने लगी कि मैं अवाक् रह गया। कुछ प्रतिकार न कर सकने के कारण मैं भी रोने लगा। कुछ दिनों तक मैं कुन्दमन बना रहा, फिर पूर्व की ही भाँति समय कटने लगा। मैं पुनः उपाश्रय जाने लगा और ज्ञानार्जन एवं प्रेम के व्यसन में डूब गया।

चार मास पश्चात् मेरे पिताजी पटना गये और मैं खैराबाद। मैं वहाँ एक महीने रहा; किन्तु कुछ देर के लिए भी घर से बाहर नहीं निकला। बाज़ार एक बार भी नहीं गया। मैं लज्जा से अभिभूत था। फिर पत्नी को लेकर जौनपुर लौट आया। रास्ते के लिए मैंने एक पालकी और घोड़ा भाड़े पर लिये थे।

जौनपुर आते ही मुझे अपने आत्मीय वयोवृद्धों के सम्मुख आना पड़ा। इन लोगों ने मेरे आचरण की निन्दा की और उपदेश देते हुए बोले—'पुत्र, वृद्ध, और

अनुभवी व्यक्तियों की बात तुम्हें सुननी चाहिये। प्रेम का व्यसन छोड़ दो। प्रेम तो सूफ़ी-फकीरों के लिए है, तुम्हारे लिए नहीं। और ज्ञानार्जन करने का प्रयास कर मूर्ख मत बनो। ज्ञानार्जन तो ब्राह्मण और चारणों का कार्य है। व्यापारी के लड़के को तो व्यापारी ही बनना होगा। मत भूलो अधिक पढ़ने-लिखने वालों को भीख माँगकर ही खानी पड़ती है।’

मेरी भलाई किसमें है और किस प्रकार मैं उन लोगों की तरह सोचने लग जाऊँ इसके लिए उन लोगों ने अपने समस्त चुने हुए शस्त्रों का प्रयोग मुझ पर किया; किन्तु सब व्यर्थ ही गया। मुझ पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। पूर्व की भाँति ही अपने दोनों व्यसनो में व्यस्त रहा। कारण, उससे मुझे एक सहज आनन्द मिलता था। मैं जिस प्रकार उपाश्रय जा कर भानुचन्द से पढ़ने लगा, उसी प्रकार अपनी प्रेमिका से भी मिलता-जुलता रहा। ऐसा सोचना ही भूल है कि मनुष्य को उपदेश दे कर सुधारा जा सकता है; क्योंकि हम उसी का अनुसरण करते हैं जो हमारे हृदय के भावावेगों से युक्त होता है।

इस प्रकार भाग्याधीन हो कर मेरा जीवन व्यतीत होने लगा। कर्म द्वारा प्रेरित हो कर सम्बत् १६६० के शेष तक मैं अपने व्यसनो में लिप्त रहा।

सम्बत् १६६० की मुख्य घटनाओं को अब मैं संक्षेप में कहता हूँ। इस वर्ष मेरे पिताजी पटना से जौनपुर लौट आये। जो धन जमीन में गाड़ कर छुपा रखा था उसी से मेरी बड़ी बहन का विवाह किया। मेरी एक लड़की हुई, किन्तु वह कुछ ही दिनों में मर गयी। मैं पुनः बीमार पड़ा। मुझे खाना बन्द करने को कहा गया। २० दिनों तक खाना नहीं मिलने के कारण मैं खाने के लिए रो पड़ता। एक दिन तो खाने के लिए इतना छटपटाया कि मैंने कहा—‘मुझे खाने को चाहे मत दो, किन्तु केवल रोटी मेरो आँखों के सम्मुख रख दो। उससे ही मुझे तृप्ति हो जाएगी।’ तब आधा सेर वजन की दो मोटी रोटियाँ बना कर मुझे दी गयीं। मैंने उन्हें तकिए के नीचे छिपा कर रख दिया। फिर जब सब चले गये तब उन्हें निकाल कर चुपचाप खा डाला, किन्तु आश्चर्य ! उस पथ्य से ही मेरा रोग ठीक हो गया। जिसने भी यह सुना आश्चर्यचकित रह गया।

इसी वर्ष पिताजी ने एक ऐसा सौदा किया जिसमें खतरा अधिक था। इसके लिए वे चिन्तित रहते थे; किन्तु भाग्यवश उन्होंने उसी सौदे में सौगुना लाभ कमाया, अतः घर में आनन्दोत्सव का वातावरण बन गया।

१६५९ में फिर एक लज्जास्पद घटना घटी। श्रावण मास में एक ठग संन्यासी से मेरा मिलना हुआ। उसने मुझे पूरा मूर्ख बना दिया। वह बोला—‘वह एक ऐसा मन्त्र जानता है जिसे नियमित जपने से प्रचुर धन प्राप्त होता है। अटूट निष्ठा ले कर गोपनीय ढंग से मन्त्र का जाप करना होगा और यह बात किसी को

भी नहीं बतानी होगी। ऐसा करने पर मैं एक वर्ष बाद प्रतिदिन अपने दरवाजे के सम्मुख एक सुवर्ण मुहर पाऊँगा।' मैंने संन्यासी का विश्वास कर लिया। मुझे वह सिद्धपुरुष-सा लगा। सचमुच ही मुझमें लोभ पैदा हो गया था, अतः मैं उसके पैरों पर गिर पड़ा और मन्त्र सिखाने के लिए उससे अनुनय विनय करने लगा। संन्यासी ने मन्त्र मुझे सिखा दिया। कहीं भूल न जाऊँ, अतः एक कागज के टुकड़े पर लिख कर भी दे दिया। मैंने भी मूर्ख की भाँति पूरे एक वर्ष तक उस मन्त्र का जप किया और भी जो कुछ करने को कहा गया था वह भी किया जरा भी इस विषय में किसी को खबर नहीं लगने दी।

एक वर्ष पश्चात् १६६० में मैं एक विशाल आशा लिये दरवाजे पर गया और प्रतिश्रुत मोहर के लिए चारों ओर देखने लगा; किन्तु वह कहीं नहीं मिली। फिर भी आशा का परित्याग नहीं किया। दूसरे दिन भी मैं वहीं गया और मोहर खोजने लगा। जाग्रत अवस्था में तो क्या स्वप्न में भी मुझे मोहर दिखायी नहीं पड़ी। लोभ ही मेरे दुःख का कारण हो गया। स्वयं को एकदम दीन समझने लगा। आहार में रुचि नहीं रही; अन्ततः समस्त घटना भानचन्द को खोल कर बतलायी। उन्होंने मुझे सान्त्वना दी और बोले—'ऐसा विश्वास कभी नहीं करना चाहिये, कारण इससे मन में मिथ्या आशा जागृत हो जाती है'। मेरे मन की शान्ति और भूख लौटाने में उन्होंने मेरी सहायता की।

इसके कुछ दिनों पश्चात् एक और योगी मुझे बेवकूफ बना गया। वह मुझे एक छोटा शंख और देवपूजा के आनुषंगिक द्रव्य दे कर बोला—'यह शंख महादेव का प्रतिरूप है। जो इसकी नित्य पूजा करेगा वह शिवपुरी पायेगा।' मैंने वह शंख ले लिया और श्रद्धा-भक्ति से निर्दिष्ट विधि के अनुसार उसकी पूजा करने लगा। प्रतिदिन पूजा करने के पूर्व मैं स्नान करता और पूजा के समय १०८ बार 'शिव-शिव' उच्चारण करता। उस समय मैं अत्यन्त उल्लास और आनन्द की अनुभूति करता। पूजा पूर्ण हुए बिना कुछ नहीं खाता। यदि किसी दिन कोई कारणवश पूजा नहीं कर पाता तो स्वयं को अपराधी महसूस करता। इसके प्रायश्चित्त-स्वरूप दूसरे दिन मैं नीरस आहार ग्रहण करता। इस प्रकार बहुत दिनों तक मैंने शिव-पूजा की; किन्तु यह बात बन्धु-बान्धव किसी को भी मालूम नहीं होने दी।

१६६१ में चैत्र शुक्ला द्वितीय के दिन ओसवाल गोत्रीय हीरानन्द जैन प्रयाग से सम्मैतशिखर तीर्थ की यात्रा करने गये। वे धनी और प्रभावशाली जौहरी, एवं जहाँगीर के मुक़ीम थे। इस तीर्थयात्रा में अनेक स्वधर्मी भाई उनके साथ गये। उन्होंने जौनपुर के निकट गंगा अतिक्रम कर शहर के निकट तम्बू डाले। हीरानन्दजी ने उस अंचल के सभी जैनियों को अपने साथ तीर्थयात्रा

पर चलने के लिए आमंत्रित किया। मेरे पिताजी को भी वह आमन्त्रण मिला। वे धोड़े पर चढ़ कर हीरानन्दजी के संघ में सम्मिलित होने के लिए रवाना होगये।

वे अकेले ही गये। हममें से किसी को भी साथ नहीं लिया। उनके जाने के पश्चात् मुझ पर किसी का अंकुश नहीं रहा। मैं हठी और दुर्विनीत तो था ही अतः तीर्थयात्रा जाना स्थिर कर माँ को बार-बार उत्पीड़ित करने लगा। बालोचित धर्म-भावना से जिस प्रकार लोग उद्देश्य की सिद्धि नहीं होने तक दूध, दही, घी, तेल, पान इत्यादि में से कोई एक वस्तु या एक से अधिक वस्तु छोड़ देते हैं, उसी प्रकार मैंने भी कुछ द्रव्यों का परित्याग कर दिया।

मैंने चैत्र मास में यह प्रतिज्ञा की थी। इसके छह माह पश्चात् ही थी कार्तिक पूर्णिमा। कार्तिक पूर्णिमा पर भी लोग तीर्थयात्रा पर जाते हैं। शिव-उपासक गंगा-स्नान के लिए और जैनी पार्श्वनाथ की उपासना के लिए वाराणसी जाते। कार्तिक पूर्णिमा आने पर मैं भी यात्रियों के साथ बनारस गया और गंगा में स्नान किया। फिर भक्ति-पुलकित मन से पार्श्वनाथ भगवान् की पूजा के लिए शहर में गया। मन्दिर जाते समय बाजार से वही सब द्रव्य खरीदे जिन्हें खाना मैंने छोड़ दिया था। मन्दिर मैं भगवान् के सम्मुख वे सब चीजें चढ़ायीं। मैं दस दिन बनारस रहा। उन दस दिनों मैं प्रतिदिन सुबह मन्दिर जा कर पूजा करता।

इस प्रकार कुछ दिनों के लिए मैं भगवान् पार्श्वनाथ का भक्त हो उठा; किन्तु यात्रा के समय और वाराणसी में भी मैं शंख की पूजा करना नहीं भूलता। शंख की पूजा किये बिना मैं अन्न ग्रहण नहीं करता। जब मेरी यात्रा समाप्त हुई तब शंख को भी मैं अपने साथ ही जौनपुर ले आया। वह शिव का प्रतीक शंख जिस प्रकार निःसार था मैं भी उसी प्रकार निःसार था। उस समय भक्त और भगवान् एक रूप ही थे।

पिताजी जिस समय तीर्थ-यात्रा पर थे मेरे एक भाई का जन्म हुआ; किन्तु वह अधिक दिन जीवित नहीं रहा, अतः उसके विषय में कुछ कहना निरर्थक है।

१६६१ में तीर्थ-यात्रियों का एक दल जो कि पहले सम्मैतशिखर पहुँचा था, लौट आया। लौटते समय उनकी यात्रा सुखकर नहीं रही। राह में रोगाक्रान्त होकर अनेक मर गये, अनेक भयंकर रूप में अस्वस्थ हो गये। मेरे पिताजी जब पटना आये तब उदर रोग से पीड़ित होकर शैय्याशायी बन गये। उनका आयुष्य था, अतः वे धीरे-धीरे स्वस्थ हो गये। वे पटना में हीरानन्दजी और मूल संघ के आने की अपेक्षा करते रहे। जब वे लोग आये तब उनके साथ जौनपुर आये। उनकी यह यात्रा भी बड़ी कष्टकर रही। घर लौटते ही उन्होंने फिर खाट पकड़ ली।—रूपान्तरः श्रीमती राजकुमारी बेगानी; (क्रमशः); 'तित्थयर' (मासिक), कलकत्ता से साभार) □□

धोए वृक्ष

खुदा मेरे साथ था

इब्राहीम ख्वास बहुत बड़े सन्त थे। वे अपने शिष्य के साथ यात्रा कर रहे थे। एक जंगल आ गया। कुछ दूर जाकर दोनों एक सघन वृक्ष के नीचे विश्राम करने के लिए बैठ गये। सन्त ध्यानस्थ हो गये। शिष्य पास बैठ गया। कुछ समय पश्चात् एक शेर उसी वृक्ष की ओर आता हुआ दिखाई दिया। शिष्य ने सोचा कि शेर दोनों को मार डालेगा। गुरुजी ध्यान में बैठे हैं, आँखें बन्द हैं। वे शेर को देख नहीं रहे हैं। मैं क्यों मरूँ? अपना बचाव कर लूँ। वह उसी वृक्ष पर चढ़ गया और सबसे ऊपर की शाखा पर जा बैठा। इतने में ही शेर वहाँ आ पहुँचा। उसने सन्त के चारों ओर चक्कर लगाया, सूँघा, और चला गया। शेर को देखते ही शिष्य का सारा शरीर काँप उठा। उसका कण-कण भय से आक्रान्त हो गया। जब भय समाप्त हुआ तब वह धीरे-धीरे वृक्ष से नीचे उतरा। उतने में ही सन्त ने ध्यान संपन्न किया। आँखें खोलीं। स्वस्थ होकर शिष्य से कहा—चलो, अब आगे चलें। शिष्य बोला—गुरुदेव, अभी-अभी यहाँ एक शेर आया था। सन्त ने कहा—आया होगा। शिष्य बोला—आपको उसने सूँघा। सन्त ने कहा—सूँघा होगा। आपके चक्कर लगाये। सन्त बोले—लगाये होंगे। क्या आपको भय नहीं लगा? सन्त बोले—नहीं, कोई भय नहीं लगा।

वे आगे बढ़े। चलते-चलते सन्त को एक मच्छर ने काट डाला। सन्त शरीर को खुजलाने लगे। वहीं खड़े हो गये और शिष्य से बोले—मच्छर ने काट खाया है। घबराहट हो रही है। दर्द हो रहा है। अब आगे कैसे चलेंगे? शिष्य बोला—गुरुदेव, यह क्या बात है? जब शेर ने आपको सूँघा, आपके चक्कर लगाये, तब तो आपको कोई भय नहीं लगा और एक तुच्छ मच्छर के काटने से आप इतने डर गये? सन्त बोले—बात कुछ ऐसी ही है। शेर से नहीं डरा क्योंकि उस समय खुदा मेरे साथ था और अब मच्छर से डर रहा हूँ, क्योंकि तुम मेरे साथ हो। □□

(ध्यान-शब्दकोश : पृष्ठ १५६ का शेष)

कमर पर हाथ रखे खड़ा है; चूँकि धर्म/अधर्म द्रव्य लोकाकाश तक ही अवस्थित हैं, अतः पदार्थों का गमन और अवस्थान लोक में ही होता है, लोकात्त का उल्लंघन कर अलोक में नहीं होता।

वचनयोग : वचन के निमित्त से आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन।

वज्रासन : इसमें दोनों पाँवों को नितम्ब-तले रख कर उन पर गुदाभाग निर्भर कर देते हैं, ऐसी स्थिति में एक पैर की अँगुलियाँ दूसरे पैर की अँगुलियों से फासले पर न रह कर पुच्छास्थि के पीछे से गुजरती हैं —(दे. पृ. १४५-४६)।

वर्गणा : परमाणुओं के योग से सर्वप्रथम बनने वाला एक अतिसूक्ष्म स्कन्ध; भौतिकी इसे मॉलीक्यूल कहती है। इसके पाँच प्रकार हैं : आहारक, भाषा, मनस्, तैजस्, कामण।

वादर : स्थूल।

वायवीधारणा : पिण्डस्थध्यान की तृतीय धारणा जिसमें वायु की भूमिका महत्व की होती है; इसके अन्तर्गत दृढ़ अभ्यासपूर्वक भस्म हुए शरीर आदि की धूलि को उड़ा कर शान्त किया जाता है; इसे मास्तीधारणा भी कहते हैं —(दे. ज्ञानार्णव, ३४/१८९६-९९)।

वारुणीधारणा : पिण्डस्थ ध्यान की चतुर्थ धारणा, जो जल के आधार पर विकसित है, इसमें 'ह' मन्त्र का आकाश में इस तरह ध्यान होता है कि आत्मा में अमृत अरे, इस ध्यान से उत्पन्न जल के द्वारा भस्म हुए शरीर से उत्पन्न धूलि का प्रक्षालन होता है, (शास्त्रीय व्याख्या; देखें, ज्ञानार्णव. ३४/१९०००-०३)।

विकल्प : 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार हर्ष-विषाद करना विकल्प है; जो निज के न हों उन्हें निज के मानना संकल्प है—विकल्प भी है—वस्तुतः विकल्प संकल्प की ही पर्याय है।

विपश्यना : अनायास, निर्विकल्प, रुचिरहित जागृति; वर्तमान/उपस्थित क्षण में अवगाहन की कला; ध्यान की बौद्ध पद्धति।

विपाकविचय : धर्मध्यान का तृतीय प्रकार; जीवों के शुभाशुभ कर्मों के उदय का चिन्तवन तथा उनकी निवृत्ति के निमित्त श्रेष्ठमार्ग का चिन्तवन/प्रवर्तन।

विभाव : सहज, या स्वभाव में रूपान्तर का ग्रहण; स्वभाव से हट कर परिणमन।

वीचार : अर्थ, व्यंजन, और योग का परिवर्तन।

वीरासन : दोनों पैरों को घुटनों के ऊपरी हिस्से पर रख कर बैठना; दायीं जंघा के ऊपर बाँया और बायीं जंघा पर दायीं पैर रख कर बैठना; (दे. १४५)।

वैराग्य : विराग की चित्तवृत्ति ; माध्यस्थ्य, साम्य, समता, वैतृष्य, परमशान्ति, उपेक्षा, अस्पृहा इत्यादि एकार्थवाची; संसार, देह, तथा भोगों से विरक्ति ।

व्युपरत क्रियानिवर्ति : चौथा शुक्लध्यान; चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीव, जिनमें समस्त क्रियाओं की प्रवृत्ति के नष्ट होने पर उपान्त समय में प्रकट हो कर यह अन्तिम समय अर्थात् अयोगकेवलत्व तक बना रहता है; परम वीतराग अवस्था में होने वाला ध्यान ।

व्रत : योग्य विषय से साभिप्राय निवृत्ति; हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह से विरति ।
शुक्लध्यान : ध्यान का चौथा प्रकार; अन्य प्रकार हैं : आर्त, रौद्र, धर्म, शुक्ल, संक्लेशरहित परिणाम ।

शुक्ललेश्या : छठी लेश्या; शुक्ललेश्य व्यक्ति निष्पक्ष, आगामी निदान के प्रति विरत, समताभावी, रागद्वेष तथा मोह-रहित होता है ।

शुद्धोपयोग : जीव के ज्ञाता-दृष्टारूप वीतराग/साम्य परिणाम ।

शुभोपयोग : जीव के पुण्यात्मक परिणाम ।

श्रुत : जिसका वीतराग, सर्वज्ञ ने व्याख्यान, प्रवर्तन, प्रतिपादन किया है; पूर्व, अंग, उपांग, प्रकीर्णक द्वारा विस्तार को प्राप्त स्यात् पद से युक्त ज्ञान ।

समताभाव : रागद्वेष के कारणों में माध्यस्थ्य ।

समय : जीव पदार्थ, जो परिणामनशील होने से उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की एकता के अनुभवन स्वरूप सत्ता से युक्त है; कालविशेष; जिस आकाश प्रदेश में परमाणु-स्थित है उसके लांघने में उसे जितना समय लगता है मात्र उतना काल, जो अविभागी होता है ।

सम्यक्त्व : जिस गुण के व्यक्त होने से अपने शुद्ध आत्मा का प्रतिभास, या अनुभव हो; सम्यग्दर्शन इसकी पर्याय है ।

सम्यग्मिथ्यादृष्टि : तीसरे गुणस्थानवर्ती जीव का व्यक्तित्व मिलाजुला होता है, न पूरी तरह सम्यक्, न मिथ्या; न दिन, न रात अपितु झुटपुटा; न दही, न गुड़ एक तीसरा स्वाद; इसे मिश्र भी कहते हैं ।

समाधि : चित्त की स्वस्थता; उसका मोक्षमार्ग में अवस्थान ।

समुद्घात : मूल शरीर को छोड़े बिना जीव के प्रदेशों का बाहर की ओर आना ।

सयोगकेवली : तेरहवाँ गुणस्थानवर्ती जीव; लोकालोक प्रकाशक, केवलज्ञान तथा मन, वचन, और काय योग के धारक अर्हन्त भगवन्त ।

सवितर्क ध्यान : विशेषरूप से तर्कणायुक्त श्रुतज्ञान; चौदह पूर्वा के अर्थ में कुशल ध्याता का आत्मचिन्तन ।

सतिवर्क अवीचार एकत्व ध्यान : द्वितीय शुक्ल ध्यान; एकत्व अभेद से चिह्नित हो कर वितर्क से सहित और वीचार से रहित अतिशय निर्मल शुक्लध्यान (सवितर्क-सवीचार=जिस ध्यान में द्रव्यपर्यायादि विषयक भेदबुद्धि के साथ विचार होता है; सवीतर्क अवीचार एकत्व=जिस ध्यान में अभेद के साथ वितर्क का विचार नहीं रहता; वितर्क=श्रुतज्ञान; पृथक्त्व=नानात्व) ।

सवीचार : अर्थ (द्रव्य-पर्याय), व्यंजन (शब्द), और योग के संक्रम सहित; प्रथम शुक्लध्यान, जिसमें एक अर्थ से दूसरे में, एक शब्द से दूसरे में, एक योग से दूसरे में संक्रमण होता है ।

संकल्प : विचार, अभिप्राय, उत्कण्ठा (विषयभेद से इसके नाना भेद होंगे) ।

संयतासंयत : पांचवें गुणस्थानवर्ती जीव में यद्यपि संयमभाव नहीं होता है तथापि व्रतरूप देशचारित्र होता है; इसे देशविरत भी कहते हैं ।

संवर : आगमन के द्वारों का निरोध (भावसंवर=कषायों का निरोध; द्रव्यसंवर=जानावरणादि द्रव्यकर्मों के आगमन का विच्छेद) ।

संस्थानविचय : धर्मध्यान का प्रकार; भेद/आकृति-सहित अधः, ऊर्ध्वं, तिर्यग्लोक का अनुप्रेक्षात्मक चिन्तन; लोक के स्वरूप का चिन्तन ।

संहनन : शरीर की पात्रता; शरीर-बन्धन; अस्थियों की निमित्तभूत संयोजना ।

सामायिक : निर्विकल्पता में ठहरने का प्रयास; निर्विकल्प, साम्य, निश्चय चारित्र्य ।

सासादन : द्वितीय गुणस्थानवर्ती सम्यक्त्व की विराधना से युक्त जीव जो सम्यक्त्व के नष्ट हो जाने पर मिथ्यात्व के अभिमुख होता है; (आसादन=सम्यक्त्व की विराधना; विराधना=क्षय, विकृति, हानि) ।

सांपराय : कषाय; आत्मा को पराभूत करना ही जिसका प्रयोजन है वह ।

साम्य : समत्व; मोह-क्षोभ की अनुपस्थिति में जीव का रागद्वेषरहित परिणाम ।

सिद्धासन : योगियों का असान; दुःसाध्य, किन्तु ब्रह्मचर्य-पालन में सहायक, (दे.पृ. १४७) ।

सुखासन : अर्द्धपद्मासन; पैरों की बराबर गाँठ डाल कर बैठना; दायाँ पैर बायीं जंघा तथा बायाँ दायाँ जंघा के नीचे रख कर बैठना; (दे.पृ. १४१-४३) ।

सुच्यध्यान : सूई में तागा पिरोते समय मन की एकाग्रता ।

सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति : सयोगकेवली द्वारा अन्तर्मुहूर्त मात्र आयु अवशिष्ट रहने पर स्वरूपाराधन ।

सूक्ष्मसांपराय : दसवाँ गुणस्थानवर्ती जीव, जो अत्यन्त सूक्ष्म दशा को प्राप्त लोभ का उदयानुभव करता है ।

सोऽहम् : 'वह मैं हूँ, वह ही मैं हूँ, अन्यथा नहीं' का अभीक्ष्ण चिन्तन; जो स्व-भाव को नहीं छोड़ता और परत्व को ग्रहण नहीं करता, वह मैं हूँ—का चिन्तवन ।

स्मृतिध्यान : विस्मृत घटनाओं का स्मरण करते समय की एकाग्रता/एकतानता ।

स्वभाव : 'स्व' का भवन अर्थात् होना; वजूद; अस्तित्व ।

स्वरूपाचरण चारित्र : निश्चय चारित्र; स्वरूप में रमण; शुद्धोपयोग; कर्मों के ग्रहण होने/करने की क्रिया का एक जाना ।

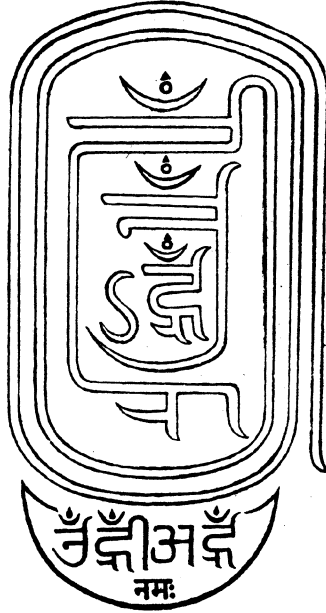
स्वसमय : चारित्र, दर्शन, ज्ञान में अवस्थित जीव का अभिधान ।

स्वाध्याय : ज्ञान की भावना में निरलस/अप्रमत्त बने रहना; सत्शास्त्र का वाँचना, मनन. या उपदेश; आत्मकल्याण करने वाला अध्ययन; आलस्य और प्रमाद छोड़ कर सम्यग्ज्ञान की आराधना ।

स्वास्थ्य : आत्मस्थिति; आत्मस्थता ।

ह्रीं : आत्मबीज; मायाक्षर; परमेष्ठिबीज; ह्, र ईं . = (ह्—आचार्य, पीत; ॐ = सिद्ध, रक्त; . = साधु, श्याम; = अरिहंत, श्वेत; ी = उपाध्याय, नील); इस तरह इसमें पंचपरमेष्ठी का पवित्र स्मरण समाविष्ट है ।

—संकलन : डा. नेमीचन्द्र



धर्मचार्य का अभिवन्दन^१

प्रस्तुत 'अभिवन्दन ग्रन्थ' के प्रारंभ में पं. (डॉ.) पन्नालालजी साहित्याचार्य ने 'आद्य मिताक्षर' में लिखा है कि वर्तमान दिगम्बर साधुओं की परम्परा आचार्यश्री शान्तिसागरजी से प्राप्त होती है। उनके पट्टधर शिष्य हुए आचार्यश्री वीरसागरजी; क्रमशः उनके पट्टधर शिष्य हुए आचार्यश्री शिवसागरजी और उनके समाधिस्थ होने पर आचार्यश्री धर्मसागरजी पट्टधर आचार्य हुए। इस प्रकार आचार्यश्री धर्मसागरजी स्व. आचार्यश्री शान्तिसागरजी के चतुर्थ पट्टधर शिष्य हैं। आचार्यश्री श्रुतसागरजी और उनके सहयोगी श्री वर्धमानसागरजी के मार्गदर्शन में आचार्य-संघ के संरक्षण में छोटे से बड़े हुए ब्र. धर्मचन्द्र शास्त्री ने इस ग्रन्थ का संपादन किया है।

संपादकीय में पं. धर्मचन्द्र शास्त्री ने स्पष्ट किया है कि राजनेताओं से लेकर विद्वानों तक 'अभिनन्दन ग्रन्थ' भेंट किये जाते हैं, किन्तु आचार्यगण अभिवन्दनीय पद पर प्रतिष्ठित हैं, मोक्षमार्ग के एक सजग प्रहरी हैं; उनका हम 'अभिवन्दन' ही कर सकते हैं, अतः ग्रन्थ का नाम 'अभिवन्दन' रखा गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की सामग्री को सात खण्डों में विभाजित किया गया है। प्रथम खण्ड के ११२ पृष्ठों में साधुओं, आधिकाओं, विद्वानों और श्रद्धालुओं ने आचार्यश्री के प्रति श्रद्धासुमन अर्पित किये हैं। द्वितीय खण्ड के १०३ पृष्ठों में आचार्यश्री की जीवन-झाँकी के साथ संस्मरणों का समावेश किया गया है। तृतीय खण्ड 'चित्रावली' का है, जिसमें आर्ट पेपर पर आचार्यश्री के विविध एवं दुर्लभ फोटो संग्रहीत हैं। चतुर्थ खण्ड के ३९ पृष्ठों में 'स्तुतिवन्दन' में आचार्यश्री की काव्यमय वन्दना है। पंचम खण्ड का शीर्षक है, 'धर्म, दर्शन और सिद्धान्त'। इसके ३११ पृष्ठों में तद्विषयक ४६ लेखों का संकलन

१. आचार्य श्री धर्मसागरजी महाराज अभिवन्दन ग्रन्थ : संपादन-पं. (ब्र.) धर्मचन्द्र जैन शास्त्री ज्योतिषाचार्य; श्री दिगम्बर जैन नवयुवक मण्डल, २३/१, महर्षि देवेन्द्र रोड (दूसरा माला), कलकत्ता ७०० ०७०, यहाँ से भी प्राप्त - गोधा सदन, अलसीमर हाउस, संसारचन्द्र रोड, जयपुर ३०२००१; मूल्य एक-सौ इक्यावन रुपये; पृष्ठ ३४ + ८४८; राँयल/१९८२।

किया गया है। छठे खण्ड के ३१ लेखों में प्रकीर्ण विषय लिये गये हैं। अन्तिम खण्ड में ज्योतिष, यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र, प्रतिष्ठा, आयुर्वेद आदि से सम्बन्धित सामग्री प्रस्तुत की गयी है। संपादक के अनुसार इस ग्रन्थ में अप्रकाशित रचनाओं को ही समाविष्ट किया गया है।

नवयुवक मण्डल द्वारा प्रकाशित प्रस्तुत ग्रन्थ में एक ऐसा खण्ड अपेक्षित था, जिसमें नवयुवकों के मानस में उठने वाली धर्म-जिज्ञासाओं, शंकाओं, समस्याओं आदि का वैज्ञानिक दृष्टि से समाधान प्रस्तुत किया जाता।

जातव्य है, प्रस्तुत ग्रन्थ भिण्डर (उदयपुर) में संपन्न समारोह में आचार्यश्री श्रुतसागरजी के सान्निध्य में गत ३ मार्च, १९८२ को ७० वर्षीय आचार्यश्री धर्मसागरजी को उनके ३० वर्षीय दशस्वी दीक्षित जीवन के अवसर पर समर्पित किया गया था।

१४ पाँइण्ट टाइम में मुद्रित, साज-सज्जा युक्त यह ग्रन्थ आचार्यों-साधुओं को समर्पित किये जाने वाले अभिनन्दन ग्रन्थों में 'अभिनन्दनीय' के साथ 'अभिवन्दनीय' भी है। ग्रन्थ प्रेरक और संग्रहणीय है।

न्यायाचार्य का अभिनन्दन^२

जैन न्याय और दर्शन के मूर्धन्य विद्वानों में डॉ. दरबारीलाल कोठिया का अपना विशिष्ट स्थान है। उन्हें समर्पित यह अभिनन्दन-ग्रन्थ एक अभाव की पूर्ति के साथ दिशाबोधक भी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ पाँच खण्डों में विभक्त है। ४२ पृष्ठीय प्रथम खण्ड में आशीर्वाद, शुभकामना एवं संस्मरण संकलित हैं। द्वितीय खण्ड के ७८ पृष्ठों में उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डाला गया है। उनके जीवन की चित्रमय झाँकी भी प्रस्तुत की गयी है। लेकिन इसमें उनकी जीवन-झाँकी क्रमबद्ध नहीं है। उसकी थोड़ी-सी झलक श्रीमती चमेलीबाई कोठिया के संस्मरणात्मक लेख में अवश्य है। डॉ. कोठिया से 'आत्म-कथा' के रूप में लिखवाया जाता, तो वह मौलिक एवं मार्मिक होता। इसमें डॉ. कोठिया

२. न्यायाचार्य डॉ. दरबारीलाल कोठिया अभिनन्दन ग्रन्थ : संपादन—
डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन डॉ. पन्नालाल साहित्याचार्य, डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, पं. बलभद्र
जैन, डॉ. भागचन्द्र भागेन्दु, डॉ. शीतलचन्द्र जैन; न्यायाचार्य डॉ. दरबारीलाल कोठिया
अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति, महावीर प्रेस, भेलुपुर, वाराणसी-१०; वीर सेवा
मन्दिर ट्रस्ट, चमेली कुटीर, १/१२८, डुमराँवबाग कालोनी, अस्सी, वाराणसी-५।
मूल्य—इक्यावन रुपये; पृष्ठ २२ + ५२०; राँयल/१९८३।

१८२/तीर्थकर : अप्रैल ८३

से ऐसी बातचीत (भेंटवार्ता) की जाती, जिसमें उनके विविध पक्षों को उजागर किया जाता ।

तृतीय खण्ड धर्म, दर्शन और न्याय में विभक्त है। ५४ पृष्ठीय 'धर्म' उपखण्ड में डॉ. कोठिया के १४ लेख संकलित हैं। 'दर्शन' उपखण्ड के ६२ पृष्ठों में ११ लेख संग्रहीत हैं, जिसमें एक लेख 'डॉ. अम्बेडकर से भेंटवार्ता में महत्त्वपूर्ण अनेकान्त-चर्चा' भी है। ११ वां लेख 'ध्यान-विमर्श' है, जिसका उपसंहार करते हुए उन्होंने लिखा है कि ध्यान एक ऐसी चीज है, जो परलोक के लिए उत्तम पाथेय है, जो इस लोक को भी सुखी, स्वस्थ और यशस्वी बनाता है। 'न्याय' उपखण्ड के ४८ पृष्ठों में 'भारतीय वाङ्मय में अनुमान-विचार और न्याय-विद्यामृत' नामक लेख का भी समावेश किया गया है।

चतुर्थ खण्ड का शीर्षक 'इतिहास और साहित्य' है। उसके १३६ पृष्ठों में डॉ. कोठिया के १४ लेख समाविष्ट किये गये हैं, इनमें अन्तिम तीन लेख आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य गृद्धपिच्छ और आचार्य समन्तभद्र पर हैं।

पाँचवाँ खण्ड 'विविध' है, जिसके ७० पृष्ठों में १९ लेख हैं; जिनमें अन्तिम दो लेख काश्मीर और बम्बई की यात्रा से सम्बन्धित भी हैं।

परिशिष्ट में उन पत्र-पत्रिकाओं और ग्रन्थों की प्रस्तावना का उल्लेख किया गया है, जिनका उपयोग प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्तिम तीन खण्डों में किया गया है। ग्रन्थ के अन्त में २६ पृष्ठों को और जोड़ा गया है। लगता है, यह सामग्री ग्रन्थ के छपते-छपते प्राप्त हुई है, जिसका समावेश प्रथम दो खण्डों में नहीं किया जा सका।

डॉ. कोठिया के लगभग २०० लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं, उनमें से यहाँ ५० लेखों का ही समावेश किया गया है।

संपादक-मण्डल की ओर से लिखते हुए डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल का यह कथन उल्लेखनीय है कि प्रस्तुत ग्रन्थ को हम डॉ. कोठिया के सर्वाङ्गीण जीवन को देखने का एक प्रकाश-गृह कह सकते हैं।

प्रस्तुत अभिनन्दन-ग्रन्थ की एक विशेषता यह है कि इसके अन्तिम तीन खण्डों में डॉ. कोठिया के ही लेखों को संपादित एवं संकलित किया गया है, अन्य विद्वानों के लेख नहीं हैं।

संक्षेप में, प्रस्तुत ग्रन्थ विद्वानों और शोधार्थियों के लिए सन्दर्भ-ग्रन्थ के रूप में उपयोगी सिद्ध होगा।

ज्ञातव्य है, यह अभिनन्दन-ग्रन्थ डॉ. कोठिया को श्री सिद्धक्षेत्र अहारजी में २५-२६ दिसम्बर, १९८२ को संपन्न अ. भा. दि. जैन विद्वत्परिषद् के नैमित्तिक अधिवेशन में समर्पित किया गया था।

योग का अनुशीलन/अनुचिन्तन^३

प्रस्तुत ग्रन्थ महावीर-ग्रन्थमाला का २४ वाँ पुष्प है। यह दो भागों में विभक्त है, जिसके प्रथम भाग में छह अध्याय और द्वितीय भाग में सात प्रकरण हैं। प्रत्येक अध्याय/प्रकरण के आरम्भ में एक सविस्तार विषय-अनुक्रमणिका दी गयी है।

‘स्वरूपामृत प्रदायिनी योगविद्या’ विषयक पहले अध्याय में योगविद्या का सिंहावलोकन करते हुए योग-परिभाषा की जैन अनुयोगों के साथ अर्थ-संगति स्पष्ट की है। दूसरे अध्याय में छह द्रव्य सत्ता का, सप्त तत्त्वों का—अनन्त सत्ता परिप्रेक्ष्य में विवेचन है। तीसरे अध्याय में आत्मतत्त्व पर विशद प्रकाश डाला गया है। चौथे अध्याय में लब्धियों के भेद का स्वरूप है। इनमें उन अन्तर्साधक भाव-मोड़ों का वर्णन है, जो जैन योग की विशिष्ट चिन्तना में गुणस्थान के रूप में वर्णित हुए हैं। ये साधक के जीवन में उत्क्रान्ति के मार्गचिह्न हैं। इसमें साधक सिद्धावस्था तक यात्रा करता है। पाँचवें अध्याय का शीर्षक है: ‘अर्हन्तों के चिन्तन-निष्कर्ष विज्ञानों के आलोकों में’ मननीय है। छठे अध्याय में ‘भावोन्मेष ही भावोन्मेष/भावों के खेल और भावातीत’ पठनीय है।

द्वितीय भाग का पहला प्रकरण साधना-पक्ष के लिए मार्गदर्शक है। दूसरे प्रकरण में उन महत्त्वपूर्ण योग-मीमांसाओं की चर्चा है, जो पं. टोडरमलजी के ‘मौख्य-मार्ग प्रकाशक’ में आयी हैं, साथ ही पं. बनारसीदासजी की परमार्थ वचनिका की चर्चा भी है। तीसरे प्रकरण का शीर्षक है: ‘साधना-पर्यालोचन/सामायिक-अन्तर्दृष्टि-दीप से स्वात्मा की प्रेक्षाएँ, अनुप्रेक्षाएँ और भावनाएँ। लेखक के अनुसार योग वस्तुतः चेतना को निर्मल करने की विद्या है, कला है, पद्धति है, विज्ञान है। योग का मार्ग मन-वचन-काया के संवर एवं ध्यान द्वारा साधक को आत्मा के सम्मुख कर देता है। प्रेक्षाध्यान अर्हंत तीर्थकरों की मौलिक विद्या है। चौथा प्रकरण है; ‘योग-शासन की प्रागैतिहासिकता तथा वेद-पूर्व परम्परा, प्राचीनता और प्रामाणिकता’,

३. योगानुशीलन (प्रथम व द्वितीय भाग) : कैलाशचन्द्र वाडदार; प्रबन्ध-कारिणी कमेटी, दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी, सवाई मानसिंह हाई वे, जयपुर-३०२ ००३; मूल्य-पचहत्तर रुपये; पृष्ठ ३६ + ६६६; रॉयल/१९८२।

इसमें संबंधित विषय का विशद विवेचन है। पाँचवें प्रकरण में 'बोध, सिद्धि और मुक्ति का यह अणुत्तर मार्ग'—स्पष्ट करते हुए योगशास्ता भगवान् ऋषभदेव का संक्षिप्त जीवन-वृत्त और योगतत्त्वोपदेश है। छठे प्रकरण में योग-संबन्धी बहुत-सी उपयोगी जानकारियाँ हैं। सातवें प्रकरण में अर्हत् हिरण्यगर्भ भगवान् ऋषभदेव के योगधर्म शासन के अनेक अन्तरंग विशिष्ट बोधों और प्रेरणाओं का विवेचन करते हुए ग्रन्थ का उपसंहार किया गया है।

परिशिष्ट—१. वन्दना, २. भगवान् महावीर के पश्चात् दिगम्बर श्रमण योगीश्वरों की आचार्य-परम्परा, ३. दिगम्बर जैन संस्कृति के वैश्विक स्वरूप प्रवाह के संदर्भ में, ४. संदर्भ ग्रन्थ-सूची, ५. लेखक का संक्षिप्त परिचय है। अन्त में १५ पृष्ठीय शुद्धिपत्र भी संलग्न किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में कहीं-कहीं विस्तार अधिक हो गया है। लेखक ने अपने बौद्धिक स्वाध्याय को तो यहाँ लिपिबद्ध किया है, लेकिन उनके योग-संबन्धी स्वानुभव का अभाव है। स्वानुभव के जुड़े अनुशीलन/अनुचितन में मौलिकता और प्रखरता के दर्शन हो सकते हैं। लेखक की 'ध्यानचितन' और 'स्वरूपानुचितन' रचनाएँ प्रकाशन हेतु प्रतीक्षारत हैं; आशा है, लेखक उनमें अनुचितन के साथ स्वानुभव का भी समावेश करेंगे।

संक्षेप में, जैन विद्या के विशिष्ट योग-विज्ञान को प्रतिपादित करने वाला यह ग्रन्थ स्वाध्याय और साधना के लिए उपयोगी तथा दिशाबोधक सिद्ध होगा।

मैं अपनी आत्मा की शरण को स्वीकार करता हूँ ^४

आचार्यश्री तुलसी के शब्दों में प्रेक्षाध्यान-पद्धति का सर्वोपरि लक्ष्य है वीतरागता। जैन परम्परा में ध्यान की जो पद्धति है वह वीतराग बनने की प्रक्रिया है। जैन परम्परा में ध्यान के सिद्धान्त तो पर्याप्त हैं, किन्तु उनके प्रयोग नहीं रहे। प्रयोग के अभाव में सिद्धान्त बुद्धिगम्य नहीं होते। प्रेक्षाध्यान के सिद्धान्त प्रयोग की भूमिका पर समझे गये हैं। युवाचार्य महाप्रज्ञ ने प्रेक्षाध्यान-पद्धति के आविष्करण में अपने जीवन के मूल्यवान् क्षण लगाये हैं। विशेष श्रम और निष्ठापूर्वक प्रयोग किये हैं। आज भी वे तत्परतापूर्वक और तन्मयता के साथ इसके पल्लवन में संलग्न हैं। प्रेक्षाध्यान-शिविरों में युवाचार्य महाप्रज्ञ द्वारा दिये गये प्रवचनों के जो संकलन

४. अप्पाणं सरणं गच्छामि : युवाचार्य महाप्रज्ञ; संपादन - मुनि दुलहराज; आदर्श साहित्य संघ, चुरु (राजस्थान); मूल्य - पच्चीस रुपये; पृष्ठ २५ + ४००; तीसरा संस्करण; डिमाई/१९८३।

तीर्थंकर : अप्रैल ८३/१८५

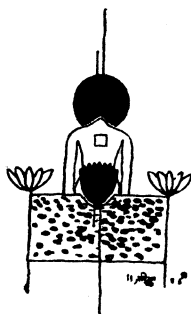
प्रकाशित हुए हैं, उनमें प्रस्तुत पुस्तक का अपना विशिष्ट स्थान है। इसमें समाधि की दिशा में प्रस्थान, समाधि की खोज और समाधि की निष्पत्ति के अन्तर्गत ३५ शीर्षकों से प्रवचनों को संपादित किया गया है।

आचार्यश्री तुलसी के कथनानुसार गीता, त्रिपिटक और आगमों की शरण आत्मा से भिन्न नहीं है, इसलिए शान्ति और समाधि की राह अपनी शरण में जाने से ही खुल सकती है। जो व्यक्ति अपनी शरण को नहीं खोज पाया है, वह दूसरे की शरण में जाकर भी निश्चिन्त नहीं हो सकता। 'अप्पाणं सरणं गच्छामि' महाप्रज्ञ की उस अनुभव-पूत वाणी का संकलन है, जो आत्मा-समाधि के क्षणों में उद्गीत हुई है।

युवाचार्य महाप्रज्ञ ने 'अप्पाणं सरणं गच्छामि' को समझते हुए कहा है कि साधना की शरण में जाना दूसरे की शरण में जाना नहीं है। धर्म की शरण में जाना दूसरे की शरण में जाना नहीं है। यह सब अपनी ही शरण में जाना है। अर्हत्, सिद्ध, साधु और धर्म—ये हमारे अस्तित्व के ही अंग हैं। इन की शरण में जाना अपने अस्तित्व की शरण में जाना है। यह दूसरे की शरण में जाना नहीं है। अध्यात्मका सूत्र यही है—अपनी शरण में जाओ, दूसरों की शरण में मत जाओ। इस प्रकार पंचपरमेष्ठी की शरण में जाना—अपनी शरण में जाना है।

कुल मिलाकर प्रस्तुत पुस्तक जैन ध्यान/योग के अन्तर्गत प्रेक्षाध्यान के मर्म, प्रक्रिया, विकास के अनुक्रम में समाधि के विविध आयामों को उद्घाटित करती है।

—प्रेमचन्द जैन



प्राप्ति-स्वीकार

परभागमसार (गुजराती; स्व. कानजी स्वामीना १००८ वचनामृत) : संपादन-शशीकान्त म. शेट; श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, ५८०, जूनी माणकेवाडी, भावनगर-३६४००१; मूल्य - ग्यारह रुपये पच्चीस पैसे; पृष्ठ २८०; रॉयल/१९८२।

बहिन्श्री के वचनामृत (बहिन्श्री चंपाबेनके प्रवचनोंसे चुने हुये अंश) : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़-३६४ २५०; मूल्य - तीन रुपये; पृष्ठ २०४; डिमाई/१९७८।

गुरुदेव श्री कानजी स्वामी (संक्षिप्त जीवन-वृत्त तथा उपकार गुण कीर्तन) : ब्र. चन्दुलाल खीमचन्द झोवालिया; श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर; मूल्य - एक रुपया; पृष्ठ ५२; डिमाई/१९८३।

जानामृत : संकलन : शशीकान्त म. शेट; श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर; मूल्य - दो रुपये; पृष्ठ ८७; क्राउन/१९८२।

रयण मंजूषा : अनुवाद : आचार्य विद्यासागर; श्री दि. जैन अतिशय क्षेत्र कुण्डलगिरि (कोनीजी) जीर्णोद्धार समिति, पाटन (जबलपुर) म. प्र.; मूल्य - भेंट; पृष्ठ ५६; डिमाई/१९८२।

अभिनव सोलह कारण विधान : (मूल प्राकृत अपभ्रंश जयमाला रयधू कवि कृत) : रूपान्तर : फूलचन्द शास्त्री 'पुष्पेन्दु', संपादन : कमलकुमार जैन शास्त्री 'कुमुद', कुन्धुसागर स्वाध्याय सदन प्रकाशन, रतनलाल पंकजराय जैन कालकावाले, १२८६ वकीलपुरा, दिल्ली-६; मूल्य - पाँच रुपये; पृष्ठ ९६; डिमाई/१९८२।

जिन पूजा/जिन मन्दिर : एलाचार्य मुनि विद्यानन्द, पं. नाथूलाल शास्त्री; श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, ५५ सीतलामाता बाजार, इन्दौर-४५२ ००२; मूल्य - तीन रुपये; पृष्ठ २८; डिमाई/१९८२।

विचारपंखी (गुजराती) : स्नेहदीप; विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट, कंबाईनगर के पास, महेसाना ३८४ ००२ (गुजरात); मूल्य - दस रुपये; पृष्ठ १७८; क्राउन/१९८२।

अन्तरनाद : भद्रगुप्तविजय गणीवर 'श्री प्रियदर्शन'; श्री विश्व कल्याण प्रकाशन ट्रस्ट, कम्बाई नगर के पास भोजापीर रोड, मेहसाना, ३८४ ००२; मूल्य - आठ रुपये; पृष्ठ १४८; क्राउन/१९८२।

तीर्थकर : अप्रैल ८३/१८७

नैन बहे दिन रैन (एक भावुक राजकुमार की आत्मकथा, एक कोमल राज-कुमारी की जीवन-कथा) : भद्रगुप्तत्रिजय 'श्री प्रियदर्शन'; विश्व कल्याण प्रकाशन ट्रस्ट महेसाना; मूल्य-आठ रुपये; पृष्ठ २५६; क्राउन/१९८२।

सुमति-प्रज्ञा : पं. सुमतिबाई शहा; पद्मश्री सुमतिबाई विद्यापीठ ट्रस्ट, श्राविका संस्थानगर, सोलापुर; मूल्य-पांच रुपये; पृष्ठ १७८; पॉकेट/१९८३।

जिनमूति-प्रशास्ति लेख : कमलकुमार जैन; श्री दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर, छतरपुर; मूल्य-चार रुपये पचास पैसे; पृष्ठ ७८; क्राउन/१९८२।

मगन में मगन भयो मन मेरो : गौतम मुनि 'प्रथम'; गुरु नन्द पुस्तकालय, नीम चौक, रतलाम; मूल्य-एक आर्यबिल; पृष्ठ ५४; क्राउन/१९८२।

लाइट ऑफ जैन टीचिंग (अंग्रेजी) : डी. एस. परमाज; सन्मति प्रकाशन, बाहुबली (कुंभोज), जि. कोल्हापुर; मूल्य-दस रुपये; पृष्ठ २०६; डिमाई/१९८१।

प्रसन्न वार्तालाप व उद्बोधक विचार (मराठी); गुरु-शिष्यातील धर्म व संस्कृति विषयक) : संकलन : माणिकचन्द जयवंत सा भीसीकर; सन्मति प्रकाशन, बाहुबली; मूल्य-पांच रुपये; पृष्ठ ८८; क्राउन/१९८३।

द्रव्यसंग्रह-प्रश्नोत्तरी (मराठी) : स्व. धुल्लक सहजानन्द वर्णी, अनुवाद-कु. ब्र. विद्युल्लता हिराचन्द शहा; सन्मति प्रकाशन, बाहुबली; मूल्य-चार रुपये; पृष्ठ १८६; पॉकेट/१९८१।

शाकाहार : (मराठी) : संकलन : माणिकचन्द जयवंत सा भीसीकर; सन्मति प्रकाशन, बाहुबली; मूल्य-तीन रुपये; पृष्ठ ८८; पॉकेट/१९८१।

गीता प्रवचन सुवर्ण महोत्सव स्मरणिका (१९३२-१९८२) : संपादन-दत्तोबा दास्ताने, कांति शाह, प्रविणा देसाई; गीता प्रवचन सुवर्ण महोत्सव समिति, परंधाम आश्रम, पवनार (वर्धा); मूल्य-तीस रुपये; पृष्ठ २३२; डबल डिमाई/१९८२।

समर्थ रामदास वाणी : मराठी से हिन्दी अनुवाद : निरंजन जमीदार; गीता समिति प्रकाशन, बड़ा रावला, इन्दौर-४; मूल्य-सात रुपये; पृष्ठ १४२; पॉकेट/१९८३।

तपोधन विनोबा : संपादन : यशपाल जैन; सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, एन-७७, कनाॅट सर्कस, नयी दिल्ली; मूल्य-चार रुपये; पृष्ठ ४८; राॅयल/१९८३।

धर्म की ज्योति : संकलन : यशपाल जैन; सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नयी दिल्ली; मूल्य-तीन रुपये; पृष्ठ ३२; राॅयल/१९८२।

लोकयात्रा : खलील जिब्रान; अनुवाद-हरिप्रसाद नायक; सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नयी दिल्ली; मूल्य-चार रुपये; पृष्ठ ६६; क्राउन/१९८३।

१८८/जैन ध्यान, योग विशेषांक

यह अंक

इस विशेषांक की अपनी जन्मकथा है। मार्च १९८२ में मुझे बहिन श्रीमती शरयू दफ्तरी का एक आत्मीय पत्र मिला, जिसमें उन्होंने अपनी यह भावना व्यक्त की कि 'तीर्थकर' (जैन ध्यान/जैन योग विशेषांक) के संयोजन पर विचार करे। मुझे प्रस्ताव सामयिक और उपयोगी लगा। पूज्य एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी से विचार-विमर्श के लिए मुझे अप्रैल १९८२ के तीसरे हफ्ते में कुद्रेमुख (कर्नाटक) जाना पड़ा। उनसे हुई चर्चा से ऐसा लगा कि आज हम जिस दौर से गुजर रहे हैं उसमें मनुष्य के अन्तर्जन्म को शान्त, स्वस्थ, अचंचल, और उदात्त जीवन-मूल्यों की ओर मोड़ना चाहिये। उसके चित्त की पारम्परिक/सांस्कृतिक अविचलता जिस तरह से खण्डित है, उसे अखण्ड-अटूट बनाने के लिए जल्दी ही कोई वैचारिक समाधान ढूंढना चाहिये। ऐसे जमाने में जब हिंसा को उचित ठहराने के लिए उसका एक भ्रामक बर्गीकरण किया जा रहा है (यथा-चुनावी हिंसा, राजनयिक हिंसा, औद्योगिक हिंसा, सांस्कृतिक हिंसा, इत्यादि) तब हम रुकें और विचार करें कि ऐसी कौन-सी विषम परिस्थितियाँ हैं, जो उसे उसकी मौलिकताओं को बदलने के लिए मजबूर कर रही हैं। मूलतः मनुष्य वैसा है नहीं; किन्तु उसके इर्द-गिर्द इतने लोभ-लालच, लिप्सा-ललक खड़ी कर दी गयी हैं, कि इसके अलावा शायद उसके सामने कोई विकल्प रह नहीं गया है। क्या यह संभव है, हम सब २१ अप्रैल १९८२ को सोच रहे थे, कि इस तरह के खण्डित और विभाजित मनुष्य को ध्यान और योग की वापसी और उपयुक्त समझ के जरिये अखण्ड और अविभक्त बनाया जाए तथा उसे लोकमंगल और व्यक्तिमुक्ति की दिशा में मोड़ा जाए? हमें लगा कि काम बड़ा है, वक्त इसमें लग सकता है; किन्तु जरूरी है-बेहद जरूरी है, अतः इसे जितनी शीघ्रता से किया जा सके, हम सब करें; कहीं कोई शुरुआत अवश्य की जाए।

ध्यान/योग पर भारत के ऋषि-मुनियों ने गहन चिन्तन-मनन किया है; कई प्रयोग किये हैं, उनकी वैज्ञानिकताओं को परखा है। देखा गया है कि चेतना की अपनी समस्याएँ और स्थितियाँ हैं। भौतिकवाद/अध्यात्मवाद दोनों की अपनी-अपनी जमीनें हैं। भौतिकवाद स्थूलताओं पर आधारित है, उसकी अपनी सरहदें हैं; वह इन्द्रियातीत यदि कुछ जानना/तलाशना चाहता है तो अधिकतम यही कर सकता है कि भौतिक उपकरणों की मदद से जगत् को पूर्ववर्ती अनुसंधान की अपेक्षा अधिक विशद जाने/खोजे, किन्तु यह असंभव है कि वह वस्तु-स्वरूप को, उसकी समग्रता और परिपूर्णता को युगपत् जाने। यह काम आध्यात्मिक तल पर ही संभव है। ध्यान/योग की आज जो स्थिति है, वह दयनीय है; अलग-अलग खेमे खड़े हैं; कहीं

कोई समन्वय नहीं है। दुर्भाग्य से विगत दशकों में उसके साथ चमत्कार-तत्व भी जुड़ गया है, जिसने उसके मूल ढाँचे को काफी छिन्न-भिन्न कर दिया है।

जैनाचार्यों ने ध्यान/योग का उपयोग आत्मा-के-स्वरूप को जानने में किया है; वह वस्तुतः उनके लिए साधन है, साध्य नहीं है। ध्यान के जरिये हम अपनी चेतना की अतल गहराइयों में उतर सकते हैं; किन्तु जब बदकिस्मती से हम इन्हें चमत्कार से जोड़ देते हैं, तब हम अपने मूल लक्ष्य से भटक जाते हैं और लोभलिप्सा की रेत-नदी में अपनी नाव खेने लगते हैं। ध्यान का क्षेत्र सूक्ष्मतर है, असल में, वहाँ इन्द्रियजय के वाद ही प्रवेश करना चाहिये।

इस दुर्गम इलाके में मुझे अकस्मात् ही काम करने के लिए छोड़ दिया गया। यद्यपि इससे पहले मुझे 'णमोकार मन्त्र'/'भक्तमार स्तोत्र'—जैसे विशेषांकों को संपादित करने का मौका मिला था तथापि ध्यान/योग जैसे सूक्ष्मतर क्षेत्र में पाँव रखने में मेरे चित्त को काफी झिझक महसूस हुई। मैंने बहिन शरयूजी और पूज्य एलाचार्यश्री से 'हाँ' तो कह दिया; किन्तु तब से मैं लगातार एक दुविधा में बना रहा। सोच ही नहीं पा रहा था कि जैन ध्यान/योग पर अपने प्रिय पाठकों को क्या सामग्री दूँ? एक रूपरेखा तैयार की, किन्तु ऐसी रूपरेखाएँ तो हरबार तैयार करता रहा हूँ; उन्हें, लेकिन, लपज-दर-लपज निभा कहाँ पाता हूँ? जो रूपरेखा कुद्रेमुख में तैयार की थी, उसे शब्दशः नहीं निभा सका, किन्तु यदि कोई मूल रूपरेखा और प्रस्तुत विशेषांक का मिलान करेगा तो वह पायेगा कि गत रूपरेखा निष्प्राण थी और यह अंक काफी हराभरा, जीवन्त, और सुखद है। इसकी अपनी अस्मिता है, निजता है, जो पूरे साल पकती रही है, मेरे मनोमन पर घुमड़ती रही है। ध्यान पर आयोजित यह अंक स्वयं में एक उपलब्धि है, जिसकी पृष्ठभूमि पर मुख्यतः ४ व्यक्ति हैं: पूज्य एलाचार्यश्री, बहिन शरयूजी, भाई प्रेमचन्द, संतोष जड़िया। मेरा तो नाम-ही-नाम है; काम असल में इस चतुष्टय का है। संतोष जड़िया की अपनी कला-कल्पना है। वह एक स्वतन्त्रचेता व्यक्ति है, जैनदर्शन की तरह ही वह किसी से प्रतिबद्ध नहीं है। जिस दर्शन में वस्तुस्वातन्त्र्य और आत्मस्वातन्त्र्य को शिखर-महत्त्व प्राप्त है, वहाँ/उसे अंकित करते हुए जड़िया की रंग-तूलिका पर कोई भी, कैसा भी बंधन कैसे लाया जा सकता था; इसीलिए उसकी निर्ग्रन्थ तूलिका न, जो एलाचार्यश्री की पिच्छी की तरह ही मन को परिष्कृत/परिशुद्ध करती है, ध्यान के विविध पक्षों को बिन्दु, रेखा, और रिक्ति के माध्यम से हमारे सामने रखा है। उन लोगों के सामने, सच ही, कोई कठिनाई आयेगी जो जड़िया के चित्रों को जैन धर्म/दर्शन की मौलिकताओं से विरक्त हो कर, या कट कर देखेंगे। यद्यपि जड़िया की कई आकृतियाँ बहुत साफ, और कई बार स्थूल हैं; इस पर्दे को खींच कर यदि पाठक भीतर झाँकेंगे तो उन्हें चारों ओर रोशनी-ही-रोशनी नजर आयेगी—वे उसमें झूम-झूम उठेंगे।

सब जानते हैं कि 'तीर्थकर' एक विचार मासिक है, समाचार या प्रचार से उसका सीधा कोई सरोकार नहीं है। अतीत में कई आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद उसने अपने आदर्शों की रक्षा की है और किसी सस्ते दबाव में वह नहीं आया है। जो उसके सच्चे हितैषी/सहयोगी हैं, उनकी बात हम छोड़ें, किन्तु जो उसके लक्ष्य को नहीं जानते, वे समय-समय पर कई बेहूदा प्रस्ताव भेजते रहे हैं, किन्तु अब वे जानने लगे हैं कि 'तीर्थकर' अ-झुक है और अपने विचार-स्वातन्त्र्य से एक रेशे भी झधर-या-उधर होने की स्थिति में नहीं है। वह सदैव चाहता रहा है कि जैन समाज, जो कि मानव-समाज का ही एक भाग है, स्वतन्त्र रूप में सोचे, सही सोचे, और तदनुसार संतुलित आचरण करे; यही कारण है कि 'तीर्थकर' ने हमेशा व्यक्तियों की अपेक्षा प्रवृत्तियों को ही महत्व दिया है। उसने व्यक्ति-चित्र बहुत कम छापे हैं, ऐसे समाचार तो दिये ही नहीं, जो किसी की व्यक्तिगत हविश को पूरा करते हों और जिनका समाज की भावी संरचना पर व्यापक प्रभाव न हो। मैं समझता हूँ १२ वर्ष बाद 'तीर्थकर' की आज जो स्थिति/रीति-नीति है, उससे न सिर्फ जैन अपितु जैनतर समाज भी प्रभावित हुआ है। उसका न कोई व्यक्तिगत स्वार्थ है, न ही वह किसी रूढ़/मूत संस्था से जुड़ा हुआ है। हमें विश्वास है हमारी इस स्थिति को सम्मान के साथ देखा जाएगा और हमारी ऐसी सहायता की जाएगी कि हम जैन धर्म/दर्शन को सरलतम शब्द-शैली में आधुनिक वैज्ञानिक संदर्भ/साधनों का इस्तेमाल करते हुए विश्व तक पहुँचा सकें।

मैंने पूज्य एलाचार्यश्री विद्यानन्दजी में एक समग्र मानव-कल्याण को स्पन्दित देखा है। उन्होंने जैन धर्म/दर्शन का जो बोधगम्य भाष्य किया है, वह न तो किसी संप्रदाय के पिंजरे में बंद है और न ही किसी व्यक्ति के अपने क़ैदखाने में क़ैद। वह उदार है और उसका रिश्ता मनजु-मात्र से है। यह एक अच्छा शकुन है। अन्य संप्रदाय के साधुओं को भी सांप्रदायिक/पंथगत संघर्षों और तकरारों को छोड़ रचना और मानव-कल्याण की इस डगर पर पूरे साहस के साथ पाँव आगे बढ़ाना चाहिये। चूँकि इस विशेषांक को एलाचार्यश्री विद्यानन्दजी की प्रेरणा और प्राशीष प्राप्त थे, और उन्होंने बिना किसी हस्तक्षेप के सारा संयोजन मेरे जिम्मे किया था अतः मुझे यह काम एक धार्मिक कर्तव्य की तरह करना था। श्रीविद्यानन्दजी वर्तमान में एक ऐसे जैन मुनि हैं, जिन्होंने न केवल जैन समाज को वरन् सारे देश को सभन्वय के सुदृढ़ सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया है। वे भारतीय संस्कृति की मौलिकताओं के परम जीवन्त प्रतीक हैं, और उन उदात्त जीवन-मूल्यों में आस्था रखते हैं जो पग-पग पर भारतीयता की रक्षा करते हैं और अखिल विश्व की संस्कृति के बीच हमें अपनी निजता में ज्वलन् रखते हैं, प्रस्तुत विशेषांक उनकी इसी भावना की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति है। यह अंक कुछ इस तरह से संयोजित है कि शास्त्र और लोक दोनों को संतुष्ट करने में समर्थ हुआ है।

जब हम प्रस्तुत अंक की शरीर-रचना पर विचार करते हैं, तब लगता है कि यह अपने पूर्ववर्ती अंकों से ईषत् भिन्न है। एलाचार्यश्री की विभा अंक पर आद्यन्त है; वे हैं, बहिन शरयूजी हैं; मैं हूँ, किन्तु अन्तस्तल में, या पृष्ठभूमि पर। अंक में सम्मिलित ८ बातचीतों को ही लें, जो क्रमशः एलाचार्यश्री, आ. समन्तभद्रजी, क्षु. धर्मानन्दजी, और पं. बाहुबली उपाध्ये से संबन्धित हैं, स्वयं में महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें से शुरू की ५ बातचीतों का संबन्ध एलाचार्यश्री से है, जो लगभग ५ घंटे ४० मिनट चली। अर्हनिश तत्त्व-मन्थन हुआ; ध्यान का बातचीत-परक स्वाध्याय। शायद ही कोई ऐसा पहलू 'जैन ध्यान/जैन योग' का बचा हो जिस पर उन्होंने अपने विचार प्रकट न किये हों। मैंने विनम्र प्रयत्न किया कि उनके अभीक्षण अनुप्रेक्षण का अधिकतम लाभ अपने प्रिय पाठकों को दूं और आम लोगों तक ध्यान पर उनके अनुभव पहुँचाऊँ। वस्तुतः उनसे हुई बातचीत के ७३ पृष्ठ ही इस अंक को विशेषांक का व्यक्तित्व प्रदान करने में समर्थ हैं तथापि मैंने इनके अलावा भी बहुत सारी सामग्री का समावेश इस अंक में किया है। आसनों पर सच्चित्र-तुलनात्मक सामग्री इसमें है। संबन्धित लेख में जहाँ एक ओर हम शरीर की जटिलताओं और उसकी सूक्ष्म रचना को जान सकते हैं, वहीं दूसरी ओर हम उसकी आश्चर्यजनक शक्ति और महत्ता को भी पहचान सकते हैं, जो हमें उसमें से, उससे मुक्त होने के लिए मिलती है। पद्यासन, अर्द्धपद्यासन, मुखासन आदि कितने उपयोगी हैं, तथा इनके अलावा हमें और क्या-क्या चाहिये ध्यान के अनुरूप वातावरण तैयार करने के निमित्त, इसे इस लेख में से जाना/दिखा जा सकता है। आचार्य समन्तभद्रजी से बाहुबली, कुंभोज में मात्र दस मिनट बातचीत संभव हुई। वे महायोगी/महामनीषी परम पुरुष हैं, उन्होंने शरीर के दिव्य संगीत और आत्मा की अप्रतिम दीप्ति को गहरे में जाना है; यह अतल देखा है कि शरीर की अपेक्षा आत्मा महत्त्वपूर्ण है; इस आश्लेष को उन्होंने भलीभाँति समझा है और बड़ी अप्रमत्तता से उस संधि को तोड़ने का अचूक प्रयास किया है, जिसे तोड़ना तो दूर, ठीक-से समझ पाना भी आज असंभव हुआ है। उनमें मुझे एक योगीश्वर के दर्शन हुए। उनकी अध्यात्म-पारंगत दृष्टि ने मुझे क्षण-भर में जीत लिया; मैं समझता हूँ पाठक मुझसे हुई इस बातचीत में से (पृ. १३०-१३३) जैनधर्म के मर्म को समझने का प्रयत्न करेंगे। क्षुल्लक धर्मानन्दजी से हुई बातचीत काफी उपयोगी है; किन्तु मेरे निमित्त उपयोगी है जैन ध्यान/योग पर उनके द्वारा एलाचार्यश्री के मार्गदर्शन में आकलित नोट्स, जिन्हें अकस्मात् एक जगह पाना कम-से-कम मेरे लिए बिलकुल असंभव था। उनके इस संकलन ने मुझे ध्यान/योग पर जैनदृष्टि को समझने-बूझने का अच्छा अवसर दिया है, अतः उनका हृदय से कृतज्ञ हुआ।

बहिन श्रीशरयूजी को समझना बहुत कठिन काम है। उनमें अपरंपार मातृत्व है; दृष्टि रचनापरक, और काम करने की धुन — वह भी गुणात्मक — अनुकरणीय है।

वे जिस काम को उठाती हैं, उसे पूरे दायित्व से संपन्न करती हैं। उनकी हार्दिक आकांक्षा है कि जैनों को समन्वित, संगठित किया जाए और हमारी स्वस्थ परम्पराओं तथा सांस्कृतिक/सांस्कारिक विरासत की प्राण-पण से रक्षा की जाए। साहित्य, सेवा, और संस्कृति में उनकी गहन रुचि है; इससे यह कतई न माना जाए कि वे आधुनिक नहीं हैं; आधुनिक वे हैं, किन्तु आधुनिकता को ले कर उनमें एक गहरी समझ है, उसका खूबत उन्हें नहीं है; इसीलिए जहाँ-जहाँ आधुनिकता उन्हें उपयोगी/उपादेय प्रतीत हुई है, वहाँ-वहाँ उन्होंने उसे नतशीश स्वीकार किया है और परम्परा के साथ उसे जोड़ा है, किन्तु जहाँ उन्हें ऐसा लगा है कि इससे हमारी संस्कृति को क्षति पहुँची है/पहुँच सकती है, वहाँ उन्होंने उसका परित्याग किया है। भारतीय नारी को ले कर उनके विचार बहुत संतुलित और रचनात्मक हैं। धर्म को ले कर उनकी दृष्टि लोकमंगलकारी है। उन्होंने इस अंक की तैयारी में मेरी जो भावनात्मक सहायता की है, उसके प्रति यदि मैं उनका आभार न मानूँ तो यह असमीचीन और असंगत होगा।

संपूर्ण अंक एक अपूर्व संयोजन है। इसमें ८ बातचीतें, एक स्तोत्र, ८-१० लेख, एक लम्बी कविता, ध्यान-शब्दकोश, संपादकीय, तथा नियमित स्तम्भ संयोजित हैं। 'परमानन्द स्तोत्र' के ८-१० पृष्ठ अविस्मरणीय हैं। इस स्तोत्र के संबन्ध में कोई जानकारी मुझे नहीं थी। इसे किसने, कब, कहाँ लिखा—कौन जाने? किन्तु है यह इतना अद्भुत कि मन को आमूल मथ डालता है और एक अभिनव आध्यात्मिक परिवर्तन की दिशा में उसे सहसा मोड़ देता है। जब मैंने इसे एलाचार्यश्री के पास देखा तब मुझे लगा कि इसे ध्यान का एक उत्कृष्ट/सर्वजनमुलभ मंत्र बनाया जाए, अतः मैंने इसे ध्यान से पढ़ा, आत्मविभोर हुआ, झूम उठा; और अध्यात्म के इस रचनापरक उन्माद में इसका अनुवाद कर बैठा। संतोष जड़िया को दिया तो उसने इसके कई सार्थक प्रतीक चित्र तैयार कर दिये; अब, जो जैसा है आपके सामने है। इसे, कृपया, पढ़ें, गुनँ, और ध्यान की गहराइयों में इसकी सीढ़ियों पर पाँव रख कर अतल उतर जाएँ। यह अपूर्व है; हाँ, और सुनें, ध्यान की प्रक्रिया में अवगाहन के लिए सिर्फ इस समझ की जरूरत है—'मैं शरीर नहीं हूँ, आत्मा हूँ; ये संबन्ध, जिनसे मैं आठों याम घिरा हूँ, शरीर के हैं; वस्तुस्वरूप विभाव-मुक्त है। पुद्गल पुद्गल है, आत्मा आत्मा है; दोनों एक-दूसरे को अतिक्रान्त करने में असमर्थ हैं।' बस इतना जाना कि फिर तज्जन्म आध्यात्मिक निमग्नता में से लौटना मुश्किल होगा; वस्तुतः इसके लिए चाहिये जगत् में रहते हुए भी जगत् के प्रति एक निष्काम/निर्लिप्त दृष्टि; हम रहें इसमें, करें अपना कर्तव्य, किन्तु इसमें लिप्त न हों; उत्तरोत्तर मुक्त होते जाएँ। अपनी निजता को जानने के लिए है ध्यान, उस विस्मृत मूल पथ पर वापसी के लिए है योग। 'परमानन्द स्तोत्र' इस दृष्टि से परम आनन्द का स्रोत खोलने वाला एक अजर-अमर स्तोत्र है। मुझे विश्वास है इसे जितनी बार

पढ़ा जाएगा, उतनी ही बार इसमें से तत्त्वबोध और नवपाण्डित्य करवट लेता दिखायी देगा।

सारे लेख अपनी तरह के हैं तथा ध्यान के व्यावहारिक तथा शास्त्रीय पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं। ये सब अधिकारी विद्वानों द्वारा लिखे गये हैं।

जयन्त बोरकर की कविता लम्बी अवश्य है, किन्तु गहन चिन्तन-मन्थन की ओर हमें उत्तरोत्तर ले जाती है। जानबूझ कर इसे १० पॉइंट टाइप में छापा गया है। कई पाठक शिकायत करेंगे कि इसे इतने महीन मुद्राक्षरों में क्यों छापा गया? मैं जानता हूँ स्थूलतः उनकी शिकायत वाजिब होगी, किन्तु मेरी मंशा बहुत साफ रही है कि ध्यान पर लिखे चेतना के इस महाकाव्य को ध्यान से क्यों न पढ़ा जाए? इसमें से, वैसे सारे अंक में से, हमें एक नयी भोर अंगड़ाई भरती मिलेगी; शर्त सिर्फ एक है कि हम इसे ध्यान से पढ़ें और अपूर्ण किसी एक बिन्दु पर इसे न छोड़ें; अपने व्यक्तिगत रोष-तोष को निलम्बित रखें और आत्म-बोध/शोध की ओर अपने चित्त को प्रवृत्त करें। लालित्य के माध्यम से विचारों के अतल सिन्धु में ले जाने वाली यह कविता है वस्तुतः, जिसे संतोष जड़िया के रेखाचित्रों ने एक अलग ही रसास्वाद से संपन्न कर दिया है। हमारा विश्वास है कि आप जितना-जितना इसे पढ़ते जाएँगे प्रकाश के प्रपात उतने-उतने आप में अरुक खुलते जाएँगे। यह हमारे चैतन्य का महाकाव्य है जिसका सफल हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किया है हिन्दी के जाने-पहचाने कवि श्री दिनकर सोनवलकर ने।

विशेषांक का आवरण विशेष दृष्टव्य है; एक नहीं चारों आवरण-पृष्ठ। प्रथम आवरण-पृष्ठ पर आकृतियाँ और रंग हैं और कहीं मात्र इतना अंकित है—'तीर्थंकर १४४'। आकृतियाँ गहरी हैं और रंग ध्यान के अनुरूप हैं; वस्तुतः नभ/सिन्धु दोनों इसमें आलिंगनबद्ध हैं। संपूर्ण लोकाकाश एक त्रिकोण के इर्दगिर्द प्रदक्षिणारत है। यह त्रिकोण 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' का है। यह धवल है। धवलिमा को पवित्रता का प्रतीक माना गया है। शुक्लता मुक्तिवाची है। यही त्रिकोण ध्यान से देखने पर योगी/ध्याता की पचासनस्थ मुद्रा भी है। कुल मिला कर समस्त संयोजन सादा और अर्थगर्भी है और हमें विशेषांक के अंतरंग-प्रवेश का पारपत्र प्रदान करता है। इस आवरण से अनुमति ले कर ही हम अंक की गहराइयों में सफलतापूर्वक डुबकियाँ लगा सकते हैं; यानी 'कव्हर' को जब तक आप 'डिस्कव्हर' नहीं करेंगे तब तक आप उस परम आनन्द तक नहीं पहुँच पायेंगे जो ध्याता का ध्येय है। इतने पर भी यदि आप निराश या खाली हाथ लौटते हैं तो संपादक का इसमें दोष-कुसुर भला क्या हो सकता है? जानिये, कृपया, कि हर काम के लिए उपयुक्त संहनन का होना जरूरी है। जहाँ शरीर का संहनन चाहिये, वहाँ मन का संहनन भी उतना ही जरूरी समझिये। हमें विश्वास है हमारे पाठक इस सारी

प्रक्रिया को अनायास ही ग्रहण करेंगे और क्रमशः 'दूध का रंग एक' (आवरण-पृष्ठ २) 'कल्याण सुवर्ण' (आवरण-पृष्ठ ३) तथा 'ओंकार' (आवरण पृष्ठ ४) तक आत्मोल्लासपूर्वक पहुँच जाएँगे तथा स्वभाव पर से विभाव की युगयुगों से जमी गई को साफ करने में सफल होंगे। संक्षेप में, संपूर्ण आवरण तथा संपादित सामग्री अनुभूति-गम्य है, अतः हमें उसे इसी स्तर पर ग्रहण करने का प्रयत्न करना चाहिये। जडिया के जो चित्र अन्यत्र मुद्रित/संयोजित हैं, वे भी ध्यान की सूक्ष्मताओं को विवेचित करते हैं, उन्हें भी यथासंदर्भ गौर से देखना चाहिये।

बातचीतें तैयार करने में भाई प्रेमचन्द ने अहर्निश काम किया है। वस्तुतः यह एक उबाऊ काम है। कैसेट से बातचीत को अक्षरशः कागज़ पर स्थापित करना, उसकी दुहरावटों और अप्रासंगिकताओं को अलगाना, फिर से लिखना, संपादित करना, प्रेस काँपी बनाना—ये सारे चरण-उपचरण बड़े धीरज और ध्यान की अपेक्षा रखते हैं। कुल में, आठों बातचीतें अपूर्व हैं और ध्यान के बहुविध पक्षों पर सरलतम शब्दों में अच्छा प्रकाश डालती हैं। संक्षेपतः जैनधर्म और दर्शन की एक सरल-सरस-प्रभावी छवि इन बातचीतों में से उभर कर सामने आयी है। इन्हें तैयार करने में जो श्रम भाई प्रेमचन्द ने किया है, उसके लिए यदि एक शब्द भी मैं लिखता हूँ कृतज्ञता/आभार का, तो उससे हमलोगों की आत्मीयता व्यथित/मूर्च्छित हो सकती है, अतः सहज ही मैं वैसा नहीं कर रहा हूँ; हाँ, एक बात है और वह यह कि जैन-धर्म और दर्शन की जो मौन-मूक सेवा वे कर रहे हैं, उसका मूल्यांकन जब भी होगा, ऐतिहासिक/अनुकरणीय वह होगा। वे निष्कामता की प्रतिमूर्ति हैं, और गृहस्थवेश में योगी हैं।

विशेषांक को प्रस्तुत रूप देने में कई-कई आत्मीय हाथ अहर्निश लगे हैं। प्रेस के व्यवस्थापक श्री हीरालालजी झाँझरी, उनके निकटतम सहयोगी भाई श्री अजय छजलानी, श्री श्रीनिवासजी, श्री महेन्द्र डांगी; प्रेस के ही श्री शिवबलीसिंह और उनके साथी, श्री ठाकुरदास गो. चंदवानी और उनके साथी, तथा श्री रामेश्वर भाई और उनके साथी इत्यादि ने जो सहयोग प्रदान किया है, उसे भूल पाना संभव नहीं है। उनके प्रति सहज ही मैं कृतज्ञ हूँ।

मुझे विश्वास है हमारे पाठक इस अंक को खूब ध्यान से पढ़ेंगे और अपनी प्रतिक्रिया से हमें यथासमय अवश्य अवगत करावेंगे।

संदेशक, भारतीय ज्ञानपीठ,
बी-४५।४७ कनाट प्लेस, नयी दिल्ली-१



समाचार - परिशिष्ट

तीर्थकर : अप्रैल ८३/१९७

‘तीर्थंकर’ के दुर्लभ और संकलनीय विशेषांक

	रुपये
१. मुनि श्री विद्यानन्द (अप्रैल, ७४)	१०.००
२. श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वर (जून-जुलाई, ७५)	१०.००
□ दोनों विशेषांक सजिल्द में सुलभ	२५.००
३. मुनि श्री चौथमल जन्म-शताब्दि (नव.-दिस., ७७)	१०.००
४. आचार्य श्री विद्यासागर (नव.-दिस., ७८)	१०.००
५. साध्वी श्री विचक्षणश्री (फर.-मार्च, ८२)	१५.००
६. पं. नाथूलाल शास्त्री (जून, ७८)	१०.००
७. गोम्मटेश्वर (महामस्ताभिषेक, फर., ८१)	१०.००
८. जैन पत्रि-पत्रिकाएँ (अग.-सत., ७७)	२०.००
९. वीर निर्वाण-चयनिका (दिस., ७६)	१०.००
१०. णमोकार मन्त्र-खंड १ (नव.-दिस., ८०)	१०.००
११. णमोकार मन्त्र-खंड २ (जनवरी, ८१)	१०.००
□ दोनों विशेषांक सजिल्द में भी सुलभ	२५.००
	२१.००
	१०.००
योग्यता मूल्य	रु. १५०.००

३-००, अतिरिक्त विशेषांक पर रु. १.००

प्रदान करता है। इस सफलतापूर्वक डुकियाँ लगा स नहीं करेगे तब तक आप उस परम ध्येय है। इतने पर भी यदि आप निरकार कालोनी, का इसमें दोष-कुसुर भला क्या हो सकता। लिए उपयुक्त संहनन का होना जरूरी है। जहा का संहनन भी उतना ही जरूरी समझिये। हमें विश्वास

१९४/जैन ध्यान, योग विशेषांक

श्रमण संस्कृति-संवर्धक साहित्य-पुरस्कार

‘श्रमण-संस्कृति-संवर्धक-साहित्य-पुरस्कार’ भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली द्वारा स्थापित किया गया है।

यह पुरस्कार ग्यारह हजार रुपये राशि का है जो प्रतिवर्ष ऐसे लेखकों को दिया जायेगा जिसकी कृति ‘श्रमण संस्कृति’ के आधारभूत जीवन-मूल्यों को अथवा उनके पक्ष-विशेष को साहित्यिक संरचना की दृष्टि से, श्रेष्ठ रूप से प्रतिपादित करती हो। इस संदर्भ में ‘जीवन-मूल्यों’ से तात्पर्य है—अहिंसा, अनेकान्त, अपरिग्रह, समता, शान्ति, संयम, त्याग, आत्म-पुरुषार्थ और जन-कल्याण आदि सिद्धान्तों और भावनाओं का उन्नयन।

‘साहित्यिक संरचना’ से अभिप्राय है कृति के सृजन में विषय की प्रभावकारी परिकल्पना और शैली-शिल्प का आकर्षण। पौराणिक आख्यान, कथा-कहानी, उपन्यास, नाटक, काव्य, ललित-निबन्ध, जीवन-वृत्त, संस्मरण, आत्म-कथा, ऐतिहासिक एवं आध्यात्मिक प्रसंग आदि विविध विधाएं साहित्यिक संरचना के लिए मान्य होंगी।

प्रतियोगी कृतियाँ किसी भी भारतीय भाषा में लिखी गई हों, किन्तु यदि वे मूल रूप से हिन्दी और अंग्रेजी में नहीं हैं तो उनका इन दोनों में से किसी एक भाषा में प्रामाणिक अनुवाद अथवा सार-संक्षेप अपेक्षित होगा।

प्रतियोगीकृति, सम्बन्धित पुरस्कार वर्ष से ११ वर्ष पूर्व तक प्रकाशित हो चुकी हो, ताकि उसके व्यापक मूल्यांकन की सुविधा प्राप्त रहे। पहले पुरस्कार के लिए सामान्य रूप से जनवरी १९७२ से दिसम्बर १९८२ तक प्रकाशित पुस्तकें विचारणीय होंगी।

प्रतियोगिता के लिए कृतियाँ लेखक प्रकाशक, पाठक कोई भी भेज सकता है अथवा विवरण सहित प्रस्तावित कर

सकता है। प्रस्ताव, पत्र ज्ञानपीठ कार्यालय से भेगाये जा सकते हैं। यद्यपि प्रकाशित कृतियाँ ही विचारणीय होंगी, किन्तु यदि सम्बन्धित भाषा के दो अधिकारी विद्वान् अनुशंसा करें तो सुलिखित अथवा शुद्ध रूप से टाईप की हुई पाण्डुलिपि भी विचारणीय होगी।

प्रस्तावित कृतियों के परीक्षण और मूल्यांकन का प्रबन्ध पुरस्कार निर्णायक मण्डल द्वारा कृति की भाषा, विधा, विषय आदि की दृष्टि से चुने गये समीक्षक विद्वानों द्वारा नियोजित होगा। अंतिम रूप से विचार और निर्णय पुरस्कार निर्णायक मण्डल का ही होगा। पुरस्कार और पुरस्कार-प्रक्रिया से सम्बन्धित प्रश्नों और समस्याओं का निर्णय भी पुरस्कार निर्णायक मण्डल करेगा। यदि किसी वर्ष निर्णायक मण्डल की दृष्टि में प्रस्तावित अथवा विचारणीय कृतियाँ पुरस्कार के योग्य प्रमाणित न हुईं तो उस वर्ष पुरस्कार नहीं दिया जायेगा।

निर्णीत कृति के लेखक के सम्मानार्थ एक विशेष आयोजन होगा। आयोजन का स्थान, समय और कार्यक्रम की रूपरेखा न्यासी मण्डल निश्चित करेगा। पुरस्कार-विजेता को रु. ११,००० (ग्यारह हजार रुपये) की राशि के अतिरिक्त एक प्रशस्ति-पत्र तथा श्रमण संस्कृति की प्रतीक-स्वरूप कलाकृति भेंट की जायेगी।

प्रस्ताव-पत्र १५ जून १९८३ तक प्राप्त हो जाने चाहिये।

पत्र-व्यवहार का पता :
श्री निदेशक, भारतीय ज्ञानपीठ,
बी-४५।४७ कनाट प्लेस, नयी दिल्ली-१

समाचार - परिशिष्ट

—जापान के मिशीया नगर की अन्त-राष्ट्रीय ओकी योग संस्थान ने इस वर्ष महावीर-जयन्ती—२५ अप्रैल से १० मई, ८३ तक जापान में जैन दर्शन, श्रमण-परम्परा और ध्यान-साधना विषय को लेकर कुछ व्याख्यानमालाओं के आयोजन टोकियो, मगोया—जैसे नगरों में तथा प्रेक्षा ध्यान संवन्धी शिविर एवं सेमिनार का आयोजन सिमोडा जैसे धर्म व संस्कृति के प्रमुख केन्द्र में किया है। इन सोलह दिवसीय कार्यक्रमों के संचालन और भाषण देने के लिए जैन विश्व भारती, लाडनू के शोध निदेशक डॉ. नथमल टाटिया को आमन्त्रित किया गया है।

—अ. भा. दि. जैन विद्वत्परिषद् के मन्त्री तथा विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन के पूर्व रीडर डॉ. हरीन्द्र भूषण जैन बाहुबली (कुभोज) में नवस्थापित अनेकान्त शोधपीठ के डायरेक्टर नियुक्त किये गये हैं। २ अप्रैल, ८३ से उन्होंने यह पद ग्रहण कर लिया है।

जो छात्र कोल्हापुर, पूना और बम्बई विश्वविद्यालयों के अन्तर्गत जैन विद्या पर पीएच. डी. एवं डी. लिट् उपाधि के लिए शोध-कार्य करना चाहते हों, वे उनसे परामर्श कर सकते हैं। अनेकान्त शोधपीठ में जैन शोध के निमित्त छात्रवृत्ति तथा अन्य सुविधाओं की व्यवस्था है। उनका पता इस प्रकार है : डॉ. हरीन्द्र भूषण जैन डायरेक्टर अनेकान्त शोधपीठ, पो. बाहुबली, जि. कोल्हापुर (महाराष्ट्र) ४१६-११०।

—जम्बूद्वीप निबन्ध-प्रतियोगिता का आयोजन दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर के संरक्षण में किया जा रहा है। विषय है 'जम्बूद्वीप'। निबन्ध की भाषा हिन्दी अथवा अंग्रेजी है। निबन्ध शब्द-सीमा तीन हजार है। प्रतियोगिता में विजयी घोषित किये गये प्रतियोगियों को

निम्नांकित पुरस्कार एवं प्रशस्तित्व भेंट किये जाएंगे। प्रथम पुरस्कार रु. १५०१, द्वितीय रु. १००१ और तृतीय रु. ५०१। पुरस्कृत निबन्ध संस्थान की निधि होंगे और उनके प्रकाशन एवं उपयोग हेतु संस्थान स्वतन्त्र होगा। निबन्ध पहुँचने की अन्तिम तिथि ३० जून, ८३ तक है। प्रतियोगिता का निर्णय अगस्त, ८३ में घोषित करने की संभावना है। पुरस्कार-वितरण अक्टूबर, ८३ में किसी विशेष अवसर पर समारोहपूर्वक किया जायेगा। निबन्ध चार प्रतियों में पंजीकृत डाक से संयोजक के पास निम्न पते पर भेजे जा सकते हैं : श्री रवीन्द्रकुमार जैन, संयोजक, दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर (मेरठ) २५०, ४०४। प्रतियोगिता से संबन्धित विशेष एवं विस्तृत जानकारी प्राप्त करने का पता है : श्री गणेशीलाल रानीवाला, महामन्त्री, दि. जैन त्रिलोक शोध संस्थान, १३२, स्टेशन रोड, कोटा-३२४००२

—दि. जैन त्रिलोक शोध संस्थान आगामी नवम्बर, ८३ में जैन गणित एवं त्रिलोक विज्ञान पर अन्तराष्ट्रीय सेमिनार का आयोजन कर रहा है। इस संदर्भ में संस्थान देश के विविध शोध-केन्द्रों में अध्ययन एवं अध्यापन में रत विद्वानों से संपर्क करना चाहता है। संस्थान के हस्तिनापुर कार्यालय से संबन्धित विद्वान् एवं संस्थाएँ संपर्क कर सकते हैं।

—श्री वर्धमान महावीर केन्द्र, आबू पर्वत (राज.) द्वारा आगामी १८ मई, ८३ को अनुयोग प्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल' का दीक्षा अर्ध शताब्दी का भव्य आयोजन किया जा रहा है। इस उपलक्ष्य में अभिनन्दन स्मारिका प्रकाशित करने का निर्णय किया है। इस प्रसंग पर जैन विद्वत् सम्मेलन, महातपस्वी अभिनन्दन समारोह, आगम पाठी सम्मेलन भी आयोजित किये जा रहे हैं।

—आचार्यश्री विमलसागर महाराज संघ-चालिका ब्र. श्रीमती चित्राबाई दिवे को पूर्ण दि. जैन समाज की ओर से मुनि-संघ-चालिका-रत्न से सम्मानित किया गया है ।

—शिवाजी विद्यापीठ, कोल्हापुर के तत्वावधान में डॉ. उपाध्ये स्मारक व्याख्यान-माला के अन्तर्गत एलाचार्य मुनिश्री विद्या-नन्दजी के प्रवचन २२ मार्च, ८३ को 'धर्म आणि तत्त्वज्ञान' और २३ मार्च को 'भगवान् महावीर व वैशाली गणतंत्र' पर आयोजित किये गये ।

—आचार्यश्री विद्यासागरजी संसंध उदासीन आश्रम, ईसरी (बिहार) में विराजमान है, जहाँ उनके सान्निध्य में गत १८ फरवरी, ८३ से रत्नकरण श्रावकाचार का वाचना-कार्यक्रम प्रारंभ हुआ है । सामाजिक के उपरान्त अपराह्न में वाचना का रोचक कार्यक्रम आचार्यश्री करते हैं । उनके ईसरी में लगभग दो माह रहने की संभावना है ।

—वीरायतन (बिहार) में अन्तर्लक्षी साधकों के लिए ११ से १७ अप्रैल, ८३ तक अनुप्रेक्षा ध्यान-शिविर का आयोजन किया गया ।

—कलकत्ता में राज्यपाल श्री बी. डी. पाण्डे को कवि श्री कन्हैयालाल सेठिया ने मुनिश्री नगराजजी डी. लिट् की नवप्रकाशित 'आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन' खण्ड २ और अपनी कुछ कृतियाँ भी भेंट की ।

—मद्रास में भगवान् महावीर अहिंसा प्रचार संघ द्वारा जैन भवन के विशाल सभागार में आयोजित समारोह में सामाजिक कल्याण विभाग की मंत्री श्रीमती गोमती श्रीनिवास ने कहा कि 'तामिलनाडु गायबन्ध प्रतिबन्ध एवं पशुरक्षार्थ बिल १९८२' को हम श्री धृष्टि पारित कर रहे हैं । इस बिल के पारित हो जाने से पशुधन

को अन्य प्रान्तों में ले जाने पर प्रतिबन्ध लग जाएगा ।

इस समारोह में 'धनराज जुगराज बरमेघा जैन फंड फार हेन्डीकेप' द्वारा विकलांग महिलाओं एवं बच्चों को कृत्रिम उपकरण भी प्रदान किये गये ।

—न्यूयार्क में प्रवासी भारतीयों की एक प्रतिनिधि संस्था वैदिक धर्म, न्यूयार्क ने होली के अवसर पर आयोजित विशाल जनसभा में डॉ. नरेन्द्रकुमार सेठी को उनकी धार्मिक, सामाजिक एवं साहित्यिक उपलब्धियों के कारण 'समाज-भूषण' की उपाधि से अलंकृत किया । सभा की अध्यक्षता संयुक्त राष्ट्र (यू. एन. ओ.) के एनर्जी चीफ डॉ. सुब्बाराव ने की ।

पत्रांश

बहुत सुन्दर

'तीर्थकर' बहुत सुन्दर निकल रहा है । उससे पाठकों का न केवल ज्ञानवर्द्धन होता है, सत्साहित्य के पठन-पाठन में रुचि भी बढ़ती है । —यशपाल जैन, नईदिल्ली

'नवनीत'-सा महकता 'तीर्थकर'

'प्रश्न : उपयोग का' (श्रीमहावीर-तीर्थ विशेषांक), 'नदी की तरह बहता आदमी' (आचार्य विनोबा पर समग्र दृष्टि), 'चुनौतियाँ' और इसके बाद 'गुरुकुल क्यों?'—इन चारों संपादकीय लेखन की जब आन्तरिक व्याख्या करता हूँ, तो पाता हूँ कि डॉ. नेमीचन्द जैन वस्तुतः सफल संपादक हैं ।

जहाँ एक ओर वे सुबिचारित, सुपाठ्य, सुग्राह्य सामग्री को अपने मासिक में स्थान देते हैं, वहाँ संपादकीय के माध्यम से 'तीर्थकर' की रीति-नीति पाठकों की नब्ज टटोलते दीख पड़ते हैं । 'नवनीत'-सा महकता 'तीर्थकर' राष्ट्रभाषा में राष्ट्र का प्रतिनिधि सिद्ध हो रहा है ।

—मोतीलाल जैन 'विजय', कटनी

तीर्थकर : अप्रैल ८३/१९९

सही ढंग से प्रस्तुत

‘तीर्थकर’ (जन.-फर. ८३) में एक आध्यात्मिक बातचीत शीर्षक के अन्तर्गत पूज्यबहेनश्री चम्पाबहेन के साथ हुई आपकी बातचीत और उनके विषय में आपकी समालोचना पढ़ने को मिली । बातचीत को आपने सही ढंग से प्रकाशित किया, इसके लिए आपको बार-बार धन्यवाद !

—हीरालाल, भावनगर

सदा-सा सात्त्विक

‘तीर्थकर’ का मार्च, ८३ का अंक सदा-सा सात्त्विक, सुन्दर ! पढ़कर सुख ले रहा हूँ ।

—सुरेश ‘सरल’, जबलपुर

यथार्थ दिग्दर्शन/मौलिक समाधान

‘तीर्थकर’ का भक्तामर स्तोत्र पढ़ने के बाद तो ‘तीर्थकर’ पढ़ने की विशेष लालसा जाग्रत हो गयी है । मैं बड़ी बेसब्री से अंक का इंतजार करता हूँ । इस भरोसे के साथ कि यह पत्र मात्र वैचारिक व्यायाम का अखाड़ा नहीं है बरन समाज में व्याप्त कुरीतियों का यथार्थ दिग्दर्शन करवाकर निवारणार्थ मौलिक समाधान भी प्रस्तुत करता है; विशेष तौर पर श्री गणेश ललवानी की लेखमाला ।

—सुरेशचन्द्र जैन, एटा (उ.प्र.)

नये आयाम देने वाला

‘तीर्थकर’ के साथ मेरा और मेरे परिवार वालों का इतना आत्मीय तथा आत्मसात्-सा हो गया है कि पत्रिका समय पर न मिलने से मानसिक अशान्ति व्याप्त हो जाती है । ‘तीर्थकर’ ने मेरे जीवन-पथ को नये आयाम दिये हैं, विश्वास जगाना है और पारिवारिक वातावरण को सुभाषित किया है ।

—देवेन्द्रकुमार जैन, भोपाल

एकमात्र/अद्वितीय

‘तीर्थकर’ के पहले मुझे अन्य जैन पत्रिकाओं को पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ; किन्तु किसी भी पत्रिका से मुझे नयी चेतना/नये विचार नहीं मिल सके या यों कह सकते हैं कि कोई भी पत्रिका इस उद्देश्य से उपयोगी सिद्ध नहीं हुई कि जिससे मैं उसका अंश ग्रहण कर इस आधुनिक व्यस्त दैनिक जीवन में, व्यवहार में ला सकूँ या जो मेरे व्यस्त सामाजिक जीवन में उपयोगी सिद्ध हो सके; जिसको मैं अपने जैन-जैनेतर साथियों को पढ़ने के लिए प्रेरित कर सकूँ अर्थात् जिसके माध्यम से जैन-जैनेतर जिनशासन के करीब आ सकें । जबकि ‘तीर्थकर’ ने मुझे ऐसे विचार/ऐसी चेतना दी, जिन्हें मैं अपने जीवन में कदम-कदम पर अमल करने का मोह संवरण नहीं कर सका ।

‘तीर्थकर’ का एक-एक अंश आज के व्यस्त/आधुनिक परिवेश/सामाजिक जीवन में अमल करने योग्य रहता है; साथ ही अन्य ऐसी जानकारी मिलती है जो अन्यत्र दुर्लभ है । ‘तीर्थकर’ को मेरे जैनेतर साथी भी बहुत लगन-निष्ठा से पढ़ते हैं । समय-समय पर ‘तीर्थकर’ विशेषांक प्रकाशित होना इसको अधिक उपयोगी बना देते हैं, जो कि इसके उत्कृष्टता के परिचायक हैं ।

मेरे लिए जैन समाज में ‘तीर्थकर’ ही एकमात्र/अद्वितीय पत्रिका दीख पड़ी जो कि हमारे समाज, धर्म एवं देश में व्याप्त कुरीतियों को समाप्त करने तथा विश्व-शान्ति बनाये रखने में सहयोग दे रही है; दे सकती है । ‘तीर्थकर’ का प्रत्येक अंक संग्रहणीय है ।

—हेमन्तकुमार जैन, बिलासपुर

(समत्व-योग : पृष्ठ ४८ का शेष)

अतः 'भगवती आराधना' में ध्यान, अन्तःकरण, मन, योग, सामर्ण्य शब्दों का उपयोग मानसिक स्थिरता के अर्थ में हैं। इसीसे मानसिक समचित्तता निमित्त होती है। मन स्थिर है, तो इन्द्रियाँ स्थिर रहेंगी। एक-एक इन्द्रिय का विषय महान् संकट उपस्थित कर सकता है। इन्द्रियों की चालक शक्ति मन है। मन के संकल्प-विकल्प-रूप व्यापारों को रोकना ही मन को जीतना है (तत्त्वानुशासन ७६)।

जन योग राजयोग है। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः सूत्र में ज्ञान, कर्म और भक्तियोग दिखायी देते हैं, क्योंकि हेमचन्द्राचार्य अपने योगशास्त्र में कहते हैं^३ कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार वर्गों में मोक्ष प्रधान है। उसका कारण भी योग है जिसे ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र्य-रूप समझना चाहिये। योगी साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी प्रत्येक कृति संयमित करे। परिस्थिति चाहे कुछ भी हो, मन डूबाडोल नहीं करना चाहिये। इन्द्रियों के ऐसे कोई विषय नहीं हैं, जिन्हें वे नहीं चाहतीं। अनेक विषयों को बारबार सेवन करने से इन्द्रियाँ सर्वदा प्यासी ही रहती है। उन्हें तृप्ति कभी होती ही नहीं; क्योंकि इष्ट-अनिष्ट से वे असंबद्ध रहती हैं।

तानेवार्थान् द्विषतस्तानेवार्थान् प्रलीयमानस्य — जिन विषयों से वे द्वेष, ईर्ष्या करती हैं, उन्हीं विषयों में वे क्षण-भर में प्रीति या राग करती हैं। जब वस्तु के प्रति राग-द्वेष, इच्छा-मोह, निराशा आदि उत्पन्न होते हैं, तब वहाँ मानसिक सन्तुलन के खो जाने की ही ज्यादा आशंका रहती है, समता-भाव की कोई संभावना नहीं होती।

इसी रागद्वेष के कारण जीव कर्मबंध में पड़ता है। इस कर्मबंध को, फिर वह चाहे शुभ हो या अशुभ, रोकना आवश्यक है।

कर्मों का आस्रव नित्य मानसिक वाचिक और कायिक भावों के परिणाम-स्वरूप होता है, परन्तु उनका संवर (रोकना) और उनकी निर्जरा (विकास) अत्यन्त आवश्यक है। इन्द्रियों और मन के संयोग द्वारा सूक्ष्म भाव भी यदि प्रकट हो जाए, तो भी कर्मबंधन हो जाता है। यह कर्मबंध अशुभ-शुभ होता है। आत्मशुद्धि की दृष्टि से दोनों हेय हैं; परन्तु साधक को अशुभ विचारों को पहले रोक कर फिर शुभ भावनाओं का त्याग करना चाहिये। इसी हेतु श्रावक और मुनि आचार-परंपराएँ प्रतिपादित हैं। इसके नित्य और दृढ़तापूर्वक पालन करने से साधक योगी में समत्व के भाव अपने-आप पैदा होते हैं। श्रावकाचार के अन्तर्गत अणुव्रत, गुणव्रत, और देशव्रत के आचार-विचारों का सत्य रूप से पालन करना जरूरी है।

३. चतुर्वर्गोऽप्रणीर्मोक्षो योगस्तस्य च कारणम् ।

ज्ञानश्रद्धानाचारित्ररूपं रत्नत्रयं च सः ॥

अणुव्रत में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य इन पाँच नियमों का पालन किया जाता है। इन पाँच नियमों की शक्ति आत्मिक उत्थान के लिए काफी होती है। अणुव्रतों का संबन्ध प्रत्यक्ष मन से है। शरीर का संचालन इंद्रियों द्वारा होता है। इंद्रियों पर मन का वर्चस्व होता है; इसलिए मन पर यदि नियन्त्रण हो जाएगा तो शरीर पर आपोआप नियन्त्रण हो जाएगा। शरीर तभी संतुलित होता है, जब कि भावनाओं पर नियन्त्रण हो।

अहिंसा सर्वोपरि नियम है। 'हिंसा' का अर्थ सिर्फ बाह्य जीव-हत्या से नहीं है। शरीर-हत्या तो प्रत्यक्ष/बाह्य हो जाती है, मगर भावहिंसा तो मन में अहर्निश होती है। बाह्य हत्या एक दफा होती है; भावहिंसा नित्य चलती रहती है; इसलिए ईर्ष्या, असूया, द्वेषाग्नि, मारने-काटने की भावना मन में नित्य होती रहें, तो कर्म निरन्तर बँधते ही रहेंगे; अतः इनसे दूर रहना, परे होना अहिंसा है।

सत्य अणुव्रत का प्रभाव वाचिक क्रिया पर होता है। मनमें जिस तरह के भाव होते हैं, विचार आते हैं, उसी का प्रतिफल बोलने में व्यक्त होता है। यदि झूठे विचार ही मनमें सतत् आते रहेंगे, तो सद्बिचार कभी मन में आयेंगे नहीं।

अचौर्य और अपरिग्रह अणुव्रत मन की अमर्यादा और उच्छृंखलता को अनुशासन में खींचते हैं। परिग्रह और चौर्य कर्म मोह को बढ़ाते हैं। दूसरों के पास संपत्ति, घर, परिग्रह, देख कर उससे ईर्ष्या, मत्सर करना यह भावहिंसा है। मोह को बढ़ावा देने के सिवा परिग्रह कुछ नहीं करता। अपने पास जो धन-संपत्ति है, उसमें संतोष मानना ही श्रेयस्कर है। स्व-संतोष में साधक नीति का उल्लंघन नहीं करता। संयमित जीवन ही उसे आत्मिक समता-संतोष प्रदान कर सकते हैं।

ब्रह्मचर्य का संबन्ध पहले मन से है, बाद में शरीर से। मन तथा इंद्रियों का घनिष्ठ संबन्ध है। विषय भोगते-भोगते ये कभी थकते नहीं हैं। भोग-लालसा निरन्तर बढ़ती ही जाती है। स्वदार-वृत्ति छोड़कर अन्य स्त्री की चाह भी लोभ ही है। 'लोभ पाप का बखाना' के अनुसार सूक्ष्म लोभ भी हुआ हो तो साधक का मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है। व्यग्रता और चंचल वृत्ति के कारण वह अपने को संभाल नहीं पाता। यदि ब्रह्मचर्य का पालन ठीक-से करें तो आत्मदीप्ति बढ़ती है। मानसिक और शारीरिक बल-वृद्धि के कारण दूसरों के प्रति समानता का भाव भी जागृत होता है। इन पाँच अणुव्रतों के साथ-साथ साधक की वृत्ति में संतुलन रखने के लिए षडावश्यक क्रिया, वारह भावना, दस धर्म और मन्त्र-जाप भी सहायक सिद्ध होते हैं।

इस तरह जैन योग-साधना दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य को प्रतिपादित कर आत्मशक्ति को जाग्रत करने का प्रयत्न करती है। वह अन्यत्र शक्ति मिलने की बात नहीं करती; बल्कि अपने में ही कर्मबंध के कारण अवरुद्ध शक्ति को जगाती है। यह सब मानसिक-शारीरिक अवस्था पर निर्भर करता है। मानसिक उद्विग्नता के कारण कर्मास्रव होता है; फलस्वरूप रागरस क्रियाएँ बनती हैं। सब वस्तुओं में सुख-दुःख, आशा-निराशा, मोह-निर्मोह का समत्व-संतुलन रखने पर हमें न खेद होगा और न हर्ष। इसी समत्व से हम कर्म की तीव्रता घट सकते हैं। इस संपूर्ण प्रक्रिया को समत्व-योग कहते हैं। श्रमण-चिन्तन में इसे ही महत्त्व दिया गया है। ◌

तीर्थकर : बारहवाँ वर्ष मई ८२-अप्रैल* ८३

लेखानुक्रम

अनायास (काव्य) : मुनि सुखलाल, समीक्षा, दिसम्बर, पृ. ४८ ।

अनुशंसा (कविता) : सुमन्त भद्र, दिस., पृ. ६० ।

अनेकान्त : तीसरे नेत्र की खोज : मुनि नथमल, सितम्बर-अक्टूबर, पृ. ५१ ।

अन्तिम पृष्ठ : चिन्तन के रूप में खत : गणेश ललवानो, अगस्त, पृ. ६७; -सितम्बर-अक्टूबर ६९; -दिसम्बर, पृ. ५७; जनवरी-फरवरी, पृ. ४१; -मार्च, पृ. ३३ ।

अभिषेक और पूजा : एक वैज्ञानिक छानबीन : बी. टी. वजावत, मार्च, पृ. ७ ।

अभिसंशय (कविता) : सुमन्त भद्र, जन.-फर. पृ. २४ ।

अर्द्ध कथानक - संपूर्ण कथानक : कविवर बनारसीदास, गद्यान्तर-(श्रीमती) राजकुमारी बेगानी, जन.-फर., पृ. १४; -मार्च, पृ. १४ ।

अष्ट द्रव्यों की प्रासंगिकता : पं. नाथूलाल शास्त्री, नव., पृ. १५३ ।

असंख्य दीप-समूहों में व्याप्त हो जा महाशतक (उपन्यास-अंश) : वीरेन्द्र कुमार जैन, नव., पृ. ६१ ।

अहिंसा : अखण्ड की स्वीकृति : मुनि सुखलाल, मई-जून, पृ. १७ ।

अहिंसा है विश्व की माता : दिस., आवरण-पृ. ४ ।

आकृति, कृति, अनुभूति (संदर्भ संतोष जड़िया) : शाशिकान्त पलदे, दिस. पृ. ४१ ।

आत्म-साधना (कविता) : बाबूलाल जैन 'जलज', मार्च पृ. २५ ।

आभार चीठी आशवे कबे ? : जुलाई, आवरण-पृ. ३ ।

इतिहास लिखें : सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक (बातचीत) : साहू श्रेयांस-प्रसाद जैन / डॉ. नेमीचन्द जन, सित.-अक्टू., पृ. २३ ।

इसेन्स ऑफ जैनियम (अंग्रेजी) : डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, समीक्षा, जु., पृ. ३२ ।

ईश्वर (कविता) : कन्हैयालाल सेठिया, अग., पृ. ८ ।

ऊषा के गुलाबी लिफाफे में (कविता) : कन्हैयालाल सेठिया, अग. पृ. ७ ।

एक कथा, जो कभी मरेगी नहीं (बोध-कथा) : नेमीचन्द पटोरिया, जन.-फर. पृ. २५ ।

एक खबर, जो करती है हमें वा-खबर : जन.-फर., आवरण-पृ. २ ।

कंकर यदि शंकर है (कविता) : मिश्रीलाल जैन, जन.-फर., पृ. १३ ।

क्या यह तपस्या है ? : मुनि सुखलाल, जन.-फर., पृ. ९ ।

क्या ही अच्छा हो यदि वहाँ (श्रीमहा-वीरजी में) : हजारीलाल जैन, नव., पृ. १६६ ।

क्या हो सकते हैं हम सब एक ? : मुनि रूपचन्द, जु., पृ. २४ ।

कर्म-कंस के कृष्ण, राग-रावण के राम धनुर्धर (कविता) : 'तन्मय' बुखारिया, नव. पृ. १० ।

कॉस्मोलॉजी ओल्ड एण्ड न्यू (अंग्रेजी) : प्रो. जी. आर. जैन; समीक्षा, अग. पृ. ८० ।

* चूंकि प्रस्तुत अंक अप्रैल, ८३ का है, अतः संबंधित सामग्री यहाँ अनुक्रमित नहीं है ।

कुछ हुआ है, बहुत कुछ शेष है (बात-चीत १-३) : मुनि अभयसागर / डॉ. नेमीचन्द्र जैन, अग., पृ. १७।

कुन्दकुन्दाचार्य की प्रमुख कृतियों में दार्शनिक दृष्टि : सुषमा डांग, समीक्षा, जु., पृ. ३१।

कैसे कह दूँ (कविता) : जगदीश, जु., पृ. ७।

कौन उल्कृष्ट दानी (बोधकथा) : नेमीचन्द्र पटोरिया, अग., आवरण-पृ. २।

क्षमा (ललित निबन्ध) : वृषभ जैन, दिस., पृ. ३५।

खुशियों से भरे अपनी झोली : डॉ. (श्रीमती) कुन्तल गोयल, जन.-फर., पृ. ७।

'गीता-प्रवचन' : पारदर्शक चिन्तन का निर्मल निर्झर : काशिनाथ त्रिवेदी, दिस., पृ. ७।

गुरुकुल क्यों? : संपादकीय, मार्च, पृ. ३।

गोमेटेश-वन्दना : मूल-आचार्य नेमिचन्द्र, अनु.-राजेन्द्र कुलश्रेष्ठ, मई-जून, पृ. १२।

चम्पावेन : कानजी स्वामी के बाद कौन (बातचीत) : चम्पावेन/डॉ. नेमीचन्द्र जैन, मई-जून, आवरण-पृ. २।

चुनौतियाँ : संपादकीय, जन.-फर., पृ. ३।

चाँदन के बाबा, किरपा के बाबा (सहज कथा) : सुरेश 'सरल', नव., पृ. ८९।

चाँदनपुर के महावीर/वीनती और पद : अनूपचन्द्र जैन न्यायतीर्थ, नव., पृ. ६५।

चाँदनपुर के श्रीमहावीर : एक चमत्कारिक सिद्धपीठ : सावित्री परमार, नव., पृ. ९५।

छोटे-छोटे विवादों/मतभेदों से ऊपर उठें (बातचीत) : लक्ष्मीचन्द्र जैन/डॉ. नेमीचन्द्र जैन, सित.-अक्टू., पृ. ३५।

जम्बूद्वीप : आर्यिका ज्ञानमती, समीक्षा, अग., पृ. ८०।

जम्बूद्वीप : गहन अध्ययन / व्यापक अनुसंधान : अनुपम जैन, अग., पृ. ५३।

जम्बूद्वीप परिशीलन : अनुपम जैन, समीक्षा, अग., पृ. ८१।

जिन मन्दिर : आध्यात्मिक प्रयोगशालाएँ : एलाचार्य मुनि विद्यानन्द, नव., पृ. १४८।

जिन शासन के कुछ विचारणीय प्रश्न : पं. पद्मचन्द्र शास्त्री, समीक्षा, जु., पृ. ३०।

जैन भूगोल : वैज्ञानिक लेखा-जोखा जरूरी : गणेश ललवानी, अग., पृ. ५९।

जैनतरोँ पर प्रभाव (श्रीमहावीरजी) : गजानन्द डरोलिया, नव., पृ. १६९।

जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप : देवेन्द्रमुनि शास्त्री, समीक्षा, दिस., पृ. ४७।

जैन धार्मिक / जैन सामाजिक एकता का स्वरूप : डॉ. सागरमल जैन, मई-जून, पृ. ३१।

जैन प्रतिमा विज्ञान : माहृति नन्दन तिवारी, समीक्षा, मई-जून, पृ. ४१।

जैन विद्या : उपलब्धियाँ और संभावनाएँ : समीक्षा. मार्च, पृ. २८।

टूटते-बिखरते जो बचा रहा क्या है वह? कहा नहीं जा सकता (कविता) : प्रो. नईम, नव., पृ. ३२।

तत्त्वज्ञान स्मारिका, समीक्षा, अग., पृ. ८१।

तारा दुःखने खंखेरी नाख (गुजराती) : प्रियदर्शन, समीक्षा, नव., पृ. १७७।

तीर्थयात्रा : उद्भव, विकास और विधि : पं. बलभद्र जैन, नव., पृ. ११।

तीर्थ और तीर्थयात्रा : डॉ. हुकमचन्द्र भारिल्ल, नव., पृ. ७।

तीर्थयात्रा : इवारत और फलश्रुति : कन्हैयालाल सरावगी, नव. पृ. २७।

द जैन कॉस्मोलॉजी (अंग्रेजी), कॉलेट
केलट, रविकुमार, समीक्षा अग., पृ. ७९ ।

दावागिन / शब्दागिन : जु., आवरण-पृ. ४ ।

दिल्ली-जिनग्रन्थ-रत्नावली : कुन्दनलाल
जैन, समीक्षा, नव., पृ. १७८ ।

देह विसर्जित करना बिनोबा का (बात-
चीत) : डॉ. कर्णाकर त्रिवेदी/डॉ. नेमीचन्द
चन्द जैन, दिस., पृ. १९ ।

देह ही मुख्य परिग्रह है : विनोबा, दिस.,
आवरण-पृ. २ ।

ध्यान : एक अमोघ शक्ति : मई-जून,
आवरण-पृ. ४ ।

ध्यान : जीवन्त कवच : अक्टू., आव-
रण-पृ. ४ ।

धर्म-साधना में पौरोहित्य : जैन दृष्टि :
कन्हैयालाल सरावगी, दिस., पृ. २९ ।

नदी की तरह बहता आदमी : संपादकीय,
दिस., पृ. ३ ।

नाचीज चीज : जु., आवरण-पृ. ३ ।

नियत दिशा (कविता) : जगदीश
जु., पृ. ७ ।

पंच महाव्रत और यौगिक यम : गोपाल
शर्मा : मई-जून, पृ. १५ ।

पंथ की पहचान (कतरनें) : जु.,
आवरण-पृ. २ ।

पं. बेचरदास : कुछ संस्मरण : डॉ.
रमणलाल चौ. शाह. दिस., पृ. १६ ।

पं. बेचरदास : जीवन्त विद्यातीर्थ :
मुनि वात्सल्यदीप, दिस., पृ. १३ ।

पदयात्रा : साल-दर-साल / जयपुर से
श्रीमहावीरजी : बुद्धिप्रकाश 'भास्कर',
नव., पृ. ११३ ।

पृथ्वी : कतिपय नये तथ्य : मुनि नथमल,
अग., पृ. ४१ ।

पृथ्वी के दो चन्द्र, दो सूर्य : प्रो. जी.
आर. जैन, अग., पृ. ५१ ।

प्रश्न : उपयोगका (संदर्भ श्रीमहावीर-
जी) : संपादकीय, नव., पृ. ५ ।

प्रश्न बहुत सारे / हम थके हरे : डॉ.
सागरमल जैन, सित.-अक्टू., पृ. ११ ।

पूर्वग्रह-मुक्त आँख, संपादकीय, जु.,
पृ. ३ ।

पारस्परिक संघर्ष : क्यों, कैसे, किसलिए :
डॉ. सागरमल जैन, जु., पृ. १७ ।

प्राकृत भाषाओं का तुलनात्मक व्या-
करण एवं उनमें प्राक्-संस्कृत तत्त्व : डॉ.
आर. के. चन्द्र, समीक्षा, जु., पृ. ३० ।

बरी योर बरी (अंग्रेजी) : 'प्रियदर्शन',
नव., पृ. १७८ ।

भक्तामर स्तोत्र (राजस्थानी अनुवाद) :
मूल : आचार्य मानतुंग अनु. विपिन जारोली,
समीक्षा, दिस., पृ. ४८ ।

भक्तवर सूरदास के सुबोध पद : सं.
वियोगी हरि, समीक्षा, अक्टू., पृ. ६१ ।

भगवान् महावीर और विश्व शान्ति :
डॉ. निजामउद्दीन, नव., पृ. १४५ ।

भय : कितना कायर, कितना कमजोर :
अभिलाषकुमार, मई-जून, पृ. ७ ।

भारतीय संस्कृति के विकास में जैन
वाङ्मय का अवदान (प्रथम खण्ड) : स्व.
डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, समीक्षा, सित.-अक्टू.,
पृ. ८२ ।

भूगोल-खगोल : जैनधर्म : विज्ञान :
स्वामी सत्यभक्त, अग., पृ. ९ ।

भू-मण्डल और आधुनिक विज्ञान :
अग., पृ. ५७ ।

भेदविज्ञान, स्वानुभूति, मुक्ति (बात-
चीत) : चम्पाबेन / डॉ. नेमीचन्द जैन,
जन.-फर., पृ. २८ ।

मंगलमय जीवन के प्रेरणा-सूत्र : .
प्रवचनकर्ता— रतन मुनि, समीक्षा, दिस.,
पृ. ४७ ।

मंगल विहार स्थापित करें (श्रीमहावीर-
जी) : बाबूलाल जैन, नव., पृ. १७१ ।

महाकवि रङ्घुकृत भद्रबाहु-चाणक्य-
चन्द्रगुप्त-कथानक एवं कल्कि-दर्शन,
सं. - डॉ. राजाराम जैन, समीक्षा, नव.
पृ. १७९ ।

महावीर और अहिंसा की परम्परा
(महाराष्ट्र में) : डॉ. प्रभाकर माचवे,
मई-जून, पृ. २७ ।

महावीर की अनेकान्त दृष्टि : डॉ.
निजामउद्दीन, मई-जून, पृ. २१ ।

महावीर की तीर्थ-परम्परा और उसकी
सार्थकता : ज्ञानचन्द बिल्डीवाला, नव.,
पृ. ८० ।

मीराबाई के सुबोध पद, सं. वियोगी
हरि, समीक्षा, सित.-अक्टू., पृ. ६१ ।

मुक्ति-गान (कविता) : वीरेन्द्रकुमार
जैन, नव., पृ. ८८ ।

मुद्रालेख/प्रभो आपका (कविता) :
रत्नेश 'कुसुमाकर', जु., पृ. १६ ।

मूर्तिपूजा : एक तर्कसंगत छानबीन :
डॉ. सागरमल जैन, अग., पृ. ७१ ।

मोनोलिथिक जिनाज (अंग्रेजी),
जॉश पेरीरा, समीक्षा, जन.-फर., पृ. ३३ ।

मेरी प्रथम यात्रा-कथा (श्रीमहावीरजी) :
अवधेशनारायण शुक्ल, नव., पृ. १७० ।

मेरी समझ में : बण्ट्रेड रसेल, सित.-
अक्टू., आवरण-पृ. २ ।

ये जहर-भरे लोग : डॉ. कुन्तल गोयल,
मार्च, पृ. ११ ।

यह मूर्ति, यह मंदिर : ब्र. कुमारी
कौशल, नव., पृ. ३३ ।

यात्राएँ (कविता) : कन्हैयालाल
सेठिया, अग., पृ. ७ ।

राजस्थान के जैन ग्रन्थागार और
श्रीमहावीरजी : डॉ. प्रेमचन्द्र रावका,
नव., पृ. ७३ ।

राजस्थान के प्रसिद्ध दिगम्बर जैन
अतिशय क्षेत्र : नव., पृ. १३७ ।

रास्तों के दाँत नहीं (कविता) :
कन्हैयालाल सेठिया, अग., पृ. ७ ।

लाख रुपये/एक रुपया (बोधकथा) :
नेमीचन्द्र पटोरिया, दिस., पृ. ३२ ।

लोक-कथा : संपादकीय, अग., पृ. ३ ।

लोक कल्याणकारी योजनाएँ
(श्रीमहावीरजी) : प्रकाश पाटनी, नव.,
पृ. १६८ ।

लोक-विचार : अग., आवरण-पृ. ४ ।

लेगा मरण तुझे पहचान (कविता) :
कन्हैयालाल सेठिया, अग., पृ. ८ ।

लेश्या : रंग, रस : नव., आवरण-
पृ. ४ ।

वक्त आ गया है : डॉ. कुन्तल गोयल,
मई-जून, पृ. १३ ।

वचनदूतम् (उत्तरार्द्ध) : पं. मूलचन्द
शास्त्री, समीक्षा, जु., पृ. ३१ ।

वृद्धजन सेवा : जन.-फर., आवरण-
पृ. ४ ।

वर्षायोग : १०१ दिन (एलाचार्य
मुनिश्री विद्यानन्दजी) : श्रेणिक अन्नदाते,
दिस., पृ. ३९ ।

वह सब कुछ पा कर भी दरिद्र है :
मार्च, आवरण-पृ. ४ ।

वाद और सिद्धान्त : सं. रतनलाल
सुराना, समीक्षा, सित.-अक्टू., पृ. ६० ।

वार्षिक मेला (श्रीमहावीरजी) : कमल
किशोर जैन, नव., पृ. १६५ ।

विदूषक (गुजराती) : गोविन्द केशव भट्ट, समीक्षा, जन.-फर., पृ. ३३।

विनोबा : जीवन और कार्य : कान्ति शाह, समीक्षा, दिस., पृ. ४६।

श्री अहंद्गीता : मूल : उपाध्याय मेघविजयजी, समीक्षा, मई-जून., पृ. ४६।

श्री चतुर्विंशति तीर्थकर अनाहत तन्त्र-मन्त्र विधि : कन्नड़ से हिन्दी रूपान्तर : आचार्य कुन्धुसागर, समीक्षा, जु., पृ. ३८।

श्री जैन विद्या संस्थान : एक पवित्र संकल्प : प्रवीणचन्द्र जैन, नव., पृ. १६१।

श्री महावीरजी, 'अनुत्तर योगी' और मैं (बातचीत) : बीरेन्द्रकुमार जैन / डॉ. नेमीचन्द जैन, नव., पृ. ४७।

श्रीमहावीरजी : अवस्थिति : जनश्रुति, इतिहास., नव., पृ. ४०।

श्रीमहावीरजी : एक मनोज्ञ राष्ट्रीय तीर्थस्थल : कपूरचन्द पाटनी, नव., पृ. १४१।

श्रीमहावीरजी : तब और अब (बातचीत) : ज्ञानचन्द्र खिन्दूका / डॉ. नेमीचन्द जैन, नव., पृ. १२३।

श्रावक प्रज्ञप्ति (सावयपन्नती) : मूल : हरिभद्रसूरि, समीक्षा, नव., पृ. १८०।

संकल्प का कोई विकल्प नहीं : अभिलाषकुमार, जन.-फर., पृ. ११।

संगोष्ठी : आगे अब : सित.-अक्टू., पृ. ३।

संघर्ष : भारतीय/जैन नारी : (बातचीत) : श्रीमती शरयू दफ्तरी/डॉ. नेमीचन्द जैन, जु., पृ. ८।

संस्थाएँ : रास्ता लम्बा है : डॉ. नेमीचन्द जैन, अग., पृ. ६९।

स्वतन्त्रता बनाम स्टेनो : जु. आवरण-पृ. ३।

स्वर-निवेदन (कविता) : सुमन्त भद्र, अक्टू., पृ. १०।

समाधिमरण : मरण की मांगलिक अगवानी (बातचीत) : एलाचार्य मुनि विद्यानन्द/डॉ. नेमीचन्द जैन, सित.-अक्टू., पृ. १७।

समणसुत्त-चयनिका : डॉ. कमलचन्द सोगानी, मई-जून., पृ. ३७ ; -जु., पृ. २७। अग., पृ. ७६.-सित.-अक्टू., पृ. ५७.-नव., पृ. १७४.-दिस., पृ. ४३.-की कुछ चुनी हुई वाक्य-मणियाँ : मार्च, पृ. १९।

स्वास्थ्य बोधामृत : क्षुल्लक सिद्धसागर, समीक्षा, मई-जून पृ. ४२।

सामाजिक चेतना : पुनरुत्थान की प्रतीक्षा : डॉ. नरेन्द्रकुमार सेठी, सित.-अक्टू., पृ. १५।

सिद्धशिला (कविता) : कन्हैयालाल सेठिया, अग. पृ. ८।

हरिलाल गांधी : महात्मा गांधी के ज्येष्ठ पुत्र : चन्दुभाई भगुभाई दलाल, समीक्षा, मार्च, पृ. २६।

हाशिये पर बैठे काम : संपादकीय, मई-जून, पृ. ५।

हिन्दी-गुजराती धातुकोश : रघुवीर चौधरी, मार्च, पृ. २६।

है दुःख की भी अपनी गरिमा : डॉ. कुन्तल गोयल, सित.-अक्टू., पृ. ७।

लेखकानुक्रम

अभयसागर, मुनि : कुछ हुआ है, बहुत कुछ शेष है (बातचीत, डॉ. नेमीचन्द्र जैन के साथ), अग., पृ. १७ ।

अनुपम जैन : जम्बूद्वीप : गहन अध्ययन/ व्यापक अनुसंधान, अग., पृ. ५३ ।

अनूपचन्द्र जैन न्यायातीर्थ : चाँदनपुर के महावीर/वीनती और पद, नव., पृ. ६५ ।

अभिलाषकुमार : भय कितना कायर, कितना कमजोर, मई-जून, पृ. ७—संकल्प का कोई विकल्प नहीं, जन.-फर., पृ. ११ ।

अवधेशनारायण शुक्ला : मेरी प्रथम यात्रा-कथा (श्रीमहावीरजी), नव., पृ. १७० ।

कन्हैयालाल सरावगी : तीर्थयात्रा, इबारात और फलश्रुति, नव, पृ. २७; धर्म-साधना में पौरौहित्य : जैन दृष्टि, दिस., पृ. २९ ।

कपूरचन्द्र पाटनी : श्रीमहावीरजी : एक मनोज्ञ राष्ट्रीय तीर्थ-स्थल : नव., पृ. १४१ ।

कमलकिशोर जैन : वार्षिक मेला (श्रीमहावीरजी) : नव., पृ. १६५ ।

डॉ. कमलचन्द्र सोगानी : समणसुतं-चयनिका, मई-जून, पृ. ३७; जु., पृ. २७; -अग., पृ. ७६; -सित.-अक्टू. पृ. ५७; -नव., पृ. १७४; -दिस., पृ. ४३; -कुछ चुनी हुई वाक्य-मणियाँ, मार्च, पृ. १९ ।

कन्हैयालाल सेठिया : ईश्वर (कविता) अग., पृ. ८; -ऊषा के गुलाबी लिफाफे में (कविता), अग., पृ. ७; -लेगा मरण तुझे पहचान (कविता), अग., पृ. ८; -यात्राएँ (कविता), अग., पृ. ७; -रास्तों के दाँत नहीं (कविता), अग., पृ. ७; -सिद्धशिला (कविता), अग., पृ. ८ ।

करुणाकर त्रिवेदी, डॉ. : देह विसर्जित करना विनोबा का (बातचीत, डॉ. नेमीचन्द्र जैन के साथ), दिस., पृ. १९ ।

काशिनाथ त्रिवेदी : 'गीता-प्रवचन' : पारदर्शक चिन्तन का निर्मल निर्रंर, दिस., पृ. ७ ।

कुन्तल गोयल, श्रीमती, डॉ. : खुशियों से भरें अपनी झोली, जन.-फर., पृ. ७; -ये जहर-भरे लोग, मार्च, पृ. ११; -वक्त आ गया है, मई-जून, पृ. १३; -है दुःख की भी अपनी गरिमा, सित.-अक्टू., पृ. ७ ।

कौशल, ब्र. कुमारी : यह मूर्ति, यह मन्दिर, नव., पृ. ३३ ।

गजानन्द डरोलिया : जैनेतर पर प्रभाव (श्रीमहावीरजी) : नव., पृ. १६९ ।

गणेश ललवानी : अन्तिम पृष्ठ : चिन्तन के रूप में खत, अग., पृ. ८७; -सित.-अक्टू., पृ. ६९; -दिस., पृ. ५७; -जन.-फर., पृ. ४१; -मार्च, पृ. ३३; -जैन भूगोल : वैज्ञानिक लेखा-जोखा जरूरी, अग., पृ. ५९ ।

गोपाल शर्मा : पंच महाव्रत और यौगिक यम, मई-जून, पृ. १५ ।

चम्पावेन : कानजी स्वामी के बाद कौन ? (बातचीत, डॉ. नेमीचन्द्र जैन के साथ), मई-जून, आवरण-पृ. २; -भेदविज्ञान, स्वानुभूति, मुक्ति (बातचीत, डॉ. नेमीचन्द्र जैन के साथ), जन.-फर., पृ. २९ ।

जगदीश : कैसे कहूँ (कविता), जु., पृ. ७; -नियत दशा (कविता), जु., पृ. ७ ।

जी. आर. जैन, प्रो. : पृथ्वी के दो चन्द्र, दो सूर्य, अग., पृ. ५१ ।

ज्ञानचन्द्र खिन्दुका : श्रीमहावीरजी : तब और अब (बातचीत, डॉ. नेमीचन्द्र जैन के साथ), नव., पृ. १२३ ।

ज्ञानचन्द बिल्टीवाला : महावीर की तीर्थ-परम्परा और उसकी सार्थकता, नव., पृ. ८० ।

'तन्मय' बुखारिया : कर्म-कंस के कृष्ण, राग-रावण के राम धनुर्धर (कविता), नव., पृ. १० ।

नईम, प्रो. : टूटते-बिखरते जो बचा रहा क्या है वह ? कहा नहीं जा सकता (कविता) : नव., पृ. ३२ ।

नरेन्द्रकुमार सेठी डॉ. : सामाजिक चेतना : पुनरुत्थान की प्रतीक्षा : सित.-अक्टू., पृ. १५ ।

नथमल, मुनि : अनेकान्त : तीसरे नेत्र की खोज, सित.-अक्टू., पृ. ५१; -पृथ्वी : कतिपय नये तथ्य : अग., पृ. ४१ ।

नाथूलाल शास्त्री, पं. : अष्ट द्रव्यों की प्रासंगिकता, नव., पृ. १५३ ।

निजामउद्दीन, डॉ. भगवान् महावीर और विश्वशान्ति, नव., पृ. १४५; -महावीर की अनेकान्त दृष्टि, मई-जून, पृ. २१ ।

नेमीचन्द पटोरिया : एक कथा, जो कभी मरेगी नहीं (बोधकथा) : जन.-फर., पृ. २५; -कौन उत्कृष्ट दानी (बोधकथा), अग., आवर-पृ. २; -लाख रुपये/एक रुपया (बोधकथा), दिस., पृ. ३२ ।

नेमीचन्द जैन, डॉ. : इतिहास लिखें : सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक (बात-चीत, साहू श्रेयांसप्रसाद जैन के साथ), सित.-अक्टू., पृ. २३; -कुछ हुआ है, शेष अभी बहुत है (बातचीत, मुनिश्री अभय-सागरजी के साथ), अग., पृ. १७; -गुरुकुल क्यों ? (संपादकीय), मार्च, पृ. ३; -चम्पावेन : कानजी स्वामी के बाद कौन ? (बातचीत चम्पावेन के साथ), मई-जून, आवरण-पृ. २; -चुनौतियाँ (संपादकीय), जन.-फर., पृ. ३; -छोटे-छोटे विवादों/मत-भेदों से ऊपर उठें (बातचीत, लक्ष्मीचन्द्र जन के साथ), सित.-अक्टू., पृ. ३५; -

देह विसर्जित करना विनोबा का (बातचीत, डॉ. करुणाकर त्रिवेदी के साथ), दिस., पृ. १९; -नदी की तरह बहता आदमी (संपादकीय), दिस., पृ. ३; -प्रश्न उपयोग का (संदर्भ श्रीमहावीरजी, संपादकीय), नव., पृ. ५; -पूर्वग्रह-मुक्त आँख, (संपादकीय), जु., पृ. ३; -भेदविज्ञान, स्वानुभूति, मुक्ति (बातचीत, चम्पावेन के साथ), जन.-फर., पृ. २९; -लोक-कथा (संपादकीय), अग., पृ. ३; -संगोष्ठी : आगे अब ? (संपादकीय), सित.-अक्टू., पृ. ३; श्री-महावीरजी, 'अनुत्तर योगी' और मैं (बातचीत, वीरेन्द्रकुमार जैन के साथ), नव., पृ. ४७; -श्रीमहावीरजी : तब और अब (बातचीत, ज्ञानचन्द्र खिन्दूका के साथ), नव., पृ. १२३; -संघर्ष : भारतीय/जैन नारी (बातचीत, श्रीमती शर्यू दफ्तरी के साथ), जु., पृ. ८; -संस्थाएँ : रास्ता लम्बा है, अग., पृ. ६९; -समाधिमरण : मरण की मांगलिक अगवानी (बातचीत, एलाचार्य मुनि विद्यानन्द के साथ), सित.-अक्टू., पृ. १७; -हाशिये पर बैठे काम (संपादकीय), मई-जून, पृ. ३ ।

प्रकाश पाटनी : लोककल्याणकारी योजनाएँ (श्रीमहावीरजी), नव., पृ. १६८ ।

प्रभाकर माचवे, डॉ. : महावीर और अहिंसा की परम्परा (महाराष्ट्र में) : मई-जून, पृ. २७ ।

प्रेमचन्द्र राँवका, डॉ. : राजस्थान के जैन ग्रन्थागार और श्रीमहावीरजी, नव., पृ. ७३ ।

प्रवीणचन्द्र जैन : श्री जैन विद्या संस्थान : एक पवित्र संकल्प, नव., पृ. १६१ ।

बनारसीदास, कविवर : अर्द्धकथानक-संपूर्ण कथानक, जन.-फर., पृ. १४; -मार्च, पृ. १४ ।

बण्टेंड रसेल : मेरी समझ में, सित.-अक्टू., आवरण-पृ. २ ।

बलभद्र जैन, पं. : तीर्थयात्रा : उद्भव, विकास और विधि : नव., पृ. ११।

बाबूलाल जैन 'जलज' : आत्म-साधना (कविता), मार्च, पृ. २५।

बाबूलाल जैन : मंगल विहार स्थापित करें (श्रीमहावीरजी), नव., पृ. १७१।

बी. टी. वजावत : अभिषेक और पूजा : एक वैज्ञानिक छानबीन : मार्च, पृ. ७।

बुद्धिप्रकाश 'भास्कर' : पदयात्रा : साल-दर-साल/जयपुर से श्रीमहावीरजी, नव., पृ. ११३।

मिश्रीलाल जैन : कंकर यदि शंकर है (कविता), जन.-फर., पृ. १३।

रत्नेश 'कुसुमाकर' : मुद्रालेख / प्रभो आप का (कविता), जु., पृ. १६।

रमणलाल चौ. शाह, डॉ. : पं. बेचरदास : कुछ संस्मरण, दिस., पृ. १६।

रूपचन्द, मुनि : क्या हो सकते हैं हम सब एक ? : जु., पृ. २४।

लक्ष्मीचन्द्र जैन : छोटे-छोटे विवादों/ मतभेदों से ऊपर उठें : सित.-अक्टू., पृ. ३५।

वृषभ जैन : श्रमा (ललित निबन्ध), दिस., पृ. ३५।

वात्सल्यदीप, मुनि : पं. बेचरदास : जीवन्त विद्यातीर्थ : दिस., पृ. १३।

विद्यानन्द, एलाचार्य मुनि : आध्यात्मिक प्रयोगशालाएँ, नव., पृ. १४८; -समाधि-मरण : मरण की मांगलिक अगवानी (बातचीत, डॉ. नेमीचन्द्र जैन के साथ), सित.-अक्टू., पृ. १७।

विनोबा : देह ही मुख्य परिग्रह है : दिस., आवरण-पृ. २।

वीरेन्द्रकुमार जैन : असंख्य दीप-समूहों में व्याप्त हो जा महाशतक (उपन्यास-अंश), : नव., पृ. ६१; -मुक्ति-गान (कविता), नव., पृ. ८८; -श्रीमहावीरजी, 'अनुत्तर योगी' और मैं (बातचीत, डॉ. नेमीचन्द्र जैन के साथ), नव., पृ. ४७।

श्रेणिक अन्नदाते : वर्षायोग : १०१ दिन (एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी), दिस., पृ. ३९।

श्रेयांसप्रसाद जैन, साहू : इतिहास लिखें : सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनातिक, सित.-अक्टू., पृ. २३।

शरयू दफ्तरी, श्रीमती : संघर्ष : भारतीय/ जैन नारी (बातचीत, डॉ. नेमीचन्द्र जैन के साथ), जु., पृ. ८।

शशिकान्त पलंदे : आकृति, कृति, अनुभूति (संदर्भ संतोष जड़िया), दिस., पृ. ४१।

सत्यभक्त, स्वामी : भूगोल-खगोल : जैनधर्म : विज्ञान, अग., पृ. ९।

सागरमल जैन, डॉ. : जैन धार्मिक/ जैन सामाजिक एकता का स्वरूप : मई-जून, पृ. ३१; -प्रश्न बहुत सारे/हम थके हारे :

सित.-अक्टू., पृ. ११-पारस्परिक संघर्ष : क्यों, कसे, किसलिए ? : जु., पृ. १७; -

मूर्तिपूजा : एक तर्कसंगत छानबीन, अग., पृ. ७१।

सावित्री परमार : चांदनपुर के श्री-महावीर : एक चमत्कारिक सिद्धपीठ,

नव., पृ. ९५।

सुखलाल, मुनि : अहिंसा : अखण्ड की स्वीकृति, मई-जून, पृ. १७; -क्या यह

तपस्या है ? जन.-फर., पृ. ९।

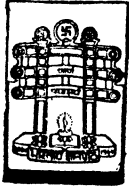
सुमन्त भद्र : अनुशंसा (कविता), दिस., पृ. ६०; -अभिसंशय (कविता)

जन.-फर., पृ. २४; -स्वर-निवेदन, (कविता), सित.-अक्टू., पृ. १०।

सुरेश 'सरल' : चांदन के बाबा, किरपा के बाबा (सहजकथा), नव. पृ. ८९।

हजारीलाल जैन : क्या ही अच्छा हो यदि वहाँ (श्रीमहावीरजी में), नव., पृ. १६६।

हुकमचन्द्र भारिल्ल, डॉ. : तीर्थ और तीर्थयात्रा, नव., पृ. ७।



भारतीय ज्ञानपीठ

नये प्रकाशन : नये संस्करण

- गोम्मटसार (जीव-काण्ड) भाग १ २ तथा (कर्म-काण्ड) भाग १, २

सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र द्वारा प्रणीत मूलगाथाओं के साथ, केशववर्णी द्वारा विरचित संस्कृत-कन्नड़ मिश्रित कर्नाटकवृत्ति, तदनुसारिणी संस्कृत टीका जीवतत्त्वप्रदीपिका, हिन्दी अनुवाद एवं विशेषार्थ तथा शोधपूर्ण विस्तृत हिन्दी-अंग्रेजी प्रस्तावना से अलंकृत । सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संस्करण, चार भागों में । पहली बार प्रकाशित । संपादन : डॉ. आ. ने. उपाध्ये तथा पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री । जीवकाण्ड, प्रथम भाग, मूल्य ३०/-, द्वितीय भाग, ३५/- । कर्मकाण्ड : भाग एक, ४५/-, भाग दो ५५/-

- महापुराण (भाग एक, दो, तीन)

दसवीं शताब्दी के महाकवि पुष्पदन्त का अपभ्रंश भाषा का महान् पुराणचरित काव्य-ग्रन्थ, सरल हिन्दी अनुवाद तथा हिन्दी व अंग्रेजी विस्तृत प्रस्तावना एवं टिप्पणी के साथ पहली बार प्रकाशित । त्रैसठ शलाका-पुरुषों का विस्तार से विवेचन करने वाला यह विशाल ग्रन्थ छह भागों में प्रकाशनार्थ नियोजित है । अभी तक प्रकाशित प्रथम दो भागों में आदि तीर्थकर ऋषभदेव तथा भरत और बाहुबली के उदात्त चरित्रों का वर्णन है । भाग ३ में तीर्थकर अजितनाथ से मल्लिनाथ तक के तीर्थों में हुए महापुरुषों का वर्णन है । ग्रन्थ-संपादक डा. पी. एल. वैद्य, हिन्दी-अनुवाद : देवेन्द्रकुमार जैन । डबल क्राउन प्रथम भाग, मूल्य ३८/-, द्वितीय भाग ४०/-, तृतीय भाग, ५५/- (रामकथा पर आधारित भाग ४; शीघ्र प्रकाश्य) ।

- षड्दर्शन समुच्चय

जैन दर्शन के अध्येता और पाठकों को जिसके नये संस्करण की बहुत समय से प्रतीक्षा थी । हरिभद्रसूरि विरचित मूल, श्री गुणरत्नसूरि कृत रहस्यदीपिका टीका तथा सोमतिलक सूरि कृत लघुवृत्ति के साथ प्रकाशित । संपादन एवं हिन्दी अनुवाद : महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य । कपड़े की जिल्द में, डबल क्राउन ५६० पृष्ठ, मूल्य ७५/- (प्रतियाँ सीमित हैं) ।

कृपया सूचीपत्र के लिए लिखें और आदेश भेजें—

भारतीय ज्ञानपीठ बी/४५-४७, कॅनॉट प्लेस, नई दिल्ली-११०००१

तीर्थकर : अप्रैल ८३/२११

भारतीय ज्ञानपीठ

नये प्रकाशन : नये संस्करण

□ तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) भाग-१ (द्वितीय संस्करण)

उमास्वामी के 'तत्त्वार्थसूत्र' के प्रत्येक सूत्र पर वार्तिक रूप में जैन न्याय एवं दर्शन की सैद्धान्तिक व्याख्या करने वाला एक महान् ग्रन्थ । मूल : भट्ट अकलंकदेव, सम्पादन एवं हिन्दी-अनुवाद : प्रो. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, रायल साइज, पृष्ठ ४४८, मूल्य : ५०.००

□ सावय पन्नति (श्रावक-प्रज्ञप्ति)

श्रावक धर्म, श्रावक के कार्य-अकार्य का विवेचन करने वाला एक अद्वितीय ग्रन्थ । प्राकृत मूल एवं स्वोपज्ञ संस्कृत टीका—हरिभद्र सूरि । संपादन और हिन्दी अनुवाद—पं. बालचन्द्र शास्त्री । पहली बार प्रकाशित । डबल क्राउन, कपड़े की जिल्द में । मूल्य ३५/-

□ दिल्ली-जैन-ग्रंथ-रत्नावली

धर्मपुरा, दिल्ली के दिगम्बर जैन मन्दिर में स्थित सरस्वती ग्रन्थ-भण्डार की संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश की हस्तलिखित प्राचीन पाण्डुलिपियों का सूची-ग्रन्थ । संकलन सम्पा. : कुन्दनलाल जैन, रायल साइज, पृ. ४३२, मूल्य : ७०.००

□ ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि (नया संस्करण)

सम्पादन : डॉ. ए.एन. उपाध्ये, पं. फूलचन्द्र शास्त्री, चतुर्थ संस्करण, क्राउन साइज, पृष्ठ ३२ + ५६०, मूल्य : १८/-

□ RELIGION & CULTURE OF THE JAINS

A handy compendium of Jainism for the general readers.
by Dr. Jyoti Prasad Jain.

Third Ed., Demy size, pp. 240, Price : 35.00

□ THE SACRED SHRAVANABELAGOLA

by Vilas A. Sangave

Price : 25/-

कृपया सूचीपत्र के लिए लिखें और आदेश भेजें—

भारतीय ज्ञानपीठ बी/४५-४७, कॅनॉट प्लेस नई दिल्ली-११०००१

तीर्थकर के गत बारह वर्षों की सजित्द फाइलें










वर्ष १,२ (अपूर्ण); प्रत्येक का मूल्य रु. २०-००

वर्ष ३ से १२ प्रत्येक का मूल्य रु. ३०-००

- फाइलों के संपूर्ण सेट का रियायती मूल्य रु. ३००-००
- रजिस्ट्री चार्ज एक फाइल का रु. ५-००, इसके बाद हर फाइल पर रु. १-०० अधिक। रेल्वे पारसल से भेजने पर रेल्वे-भाड़ा और पेकिंग चार्ज रु. २०-००
- वी.पी.पी. नहीं की जाएगी। अग्रिम मूल्य मनीऑर्डर/बैंक ड्राफ्ट से ही भेजिये।

संपर्क : प्रबन्ध संपादक 'तीर्थकर', ६५, पत्रकार कॉलोनी,
कनाड़िया रोड, इन्दौर-४५२ ००१ (म.प्र.)

ALL UNDER ONE ROOF

STARTERS &  BREAKERS	MOTORS  & PUMPS	COMPRESSOR &  WELDING TRANSFORMERS	CONTACTORS  & SWITCH GEARS	OIL TEST SETS  & RELAYS	SWITCHES  BREAKERS
BENTEX METERS & SWITCHES	RAJDHANI CABLES	AC SR/AA CONDUCTORS	PANEL  ACCESSORIES	MEGGERS &  INSTRUMENTS	HT LT  SPARES



Distributors :- SURANA'S GRAM :- HORSE POWER
BHARAT COMMERCIAL CORPORATION

2, GANESH CHANDRA AVENUE, CALCUTTA-700013

PHONE: 27-1356, 27-9653

2423/29, G.B. ROAD, DELHI-100006 PHONE: 520717

हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर

- | | |
|-------------------------------------------------------------------------------|-------|
| १. भौली-हिन्दी-कोश -डॉ. नेमीचन्द जैन | ५-०० |
| २. जिन खोजा तिन पाइयाँ -भैयालाल जैन | ३-०० |
| ३. भौल : भाषा, साहित्य और संस्कृति -डॉ. नेमीचन्द जैन | ७-०० |
| ४. नयनपथगामी भवतु मे (सचित्र महावीराष्टक) काव्यानुवाद :
-भवानीप्रसाद मिश्र | १-०० |
| ५. सोना और धूल (बोधकथाओं का संकलन) -नेमीचन्द पटोरिया | १-५० |
| ६. भौली चेतना-गीत -महीपाल भूरिया | १५-०० |
| ७. इकतारे पर अनहद राग (बोध कविताओं का संकलन)
-दिनकर सोनवलकर | ५-०० |
| ८. शब्द से आगे (काव्य-संकलन) -श्रीकान्त जोशी | ५-०० |
| ९. गलत होते संदर्भ (कहानी-संग्रह) -सूर्यकान्त नागर | ६-०० |
| १०. जलता हुआ मकान (कहानी-संग्रह) -श्याम व्यास | ५-०० |
| ११. प्राकृत सीखें -डॉ. प्रेमसुमन जेन | ३-०० |
| १२. आत्मीय संगीत (कविता-संग्रह) -दिनकर सोनवलकर | ५-०० |
| १३. जूहर (ललित निबंध-संकलन) -डॉ. नेमीचन्द जैन | २-०० |
| १४. अमृत (ललित निबंध-संकलन) -डॉ. नेमीचन्द जैन | २-०० |
| १५. अपना बालक (मू. बबलभाई मेहता, अनु. काशिनाथ त्रिवेदी) | ४-०० |
| १६. पैगम्बर मुहम्मद -डॉ. नेमीचन्द जैन | २-०० |
| १७. मंगलाचरण -मानवमुनि (प्र. द्वि., तृ. संस्करण) | २-०० |
| १८. अन्तर्बोध -डॉ. नरेन्द्रकुमार सेठी | ३-०० |
| १९. भौली वेदना-गीत -महीपाल भूरिया | १८-०० |
| २०. पंडज्जी -सुरेश 'सरल' | ४-०० |
| २१. रक्त में जलते हुए अनगिनत सूर्य-(मराठी दलित कविता)
-दिनकर सोनवलकर | २-०० |
| २२. भक्तामर स्तोत्र (राजस्थानी अनुवाद) -विपिन जारौली | ३-०० |
| २३. जीवन : आदर्श: अनुभव -मानवमुनि | ३-०० |

हीरा भैया प्रकाशन

६५, पत्रकार कॉलोनी, कनाडिया मार्ग
इन्दौर-४५२ ००१ (म. प्र.)

FIT TIGHT

A trusted name for over 20 years in the Automobile world

- * Largest manufacturers of high tensils fasteners as original equipments for TATA / TMB Leyland, Shaktiman, Dodge, Fargo, Metador, Ambassdor, Fiet, Jeep (Mahindras) PERKINS and entire Tractor and Automotive Industry.
- * Each component manufactured to precise national and at international standards under VERY RIGID QUALITY CONTROL free high grade imported alloy steel.
- * Best treated to precise specifications for structural and mechanical properties, under controlled atmosphere, in world's best automatic furnaces.
- * Tested for Tensils strength, yield strength, elongation, Reduction in Area, toughness Izod, Impact strength, proof-load, stress-relaxation etc. etc. to guarantee ultimated safety.

AVAILABLE THROUGH DEALERS NETWORK ALLOVER THE COUNTRY

Remember FIT TIGHT for safety.

Factories :

Bombay (Maharashtra)

Porbandar (Saurashtra-Gujarat)

Branches :

New Delhi-Calcutta-Madras

FIT TIGHT Nuts and Bolts Limited,

Old Ashram, Andheri-Kurla Road, Andheri,

BOMBAY 400 093. Phone : 573385-6-7

With Best Compliments From

**PARAAG CHEMICAL
AGENCIES PVT. LTD.**

Jhangir Building, 3rd Floor, 133, M. G. Road,

BOMBAY - 400 023

Telephone

273928

Gram :

PARAMSNEHY

Telex :

011-6003

DEALERS IN :

CAMPHOR TECHNICAL GRADE POWDER,

PINE TARS, ISOBORNEOL POWDER,

PERFUMERY CHEMICALS AND OTHER

TERPENE BASED CHEMICALS,

Registered Office :

119, Royapettah High Road, 1st Floor

MADRAS 600 014

Phone : 75249

SHREE KAMAL DYEING, BLEACHING AND PRINTING WORKS

LEADING PROCESSORS OF

Terene & Terene Blended Fabrics

FACTORY : Industrial Estate, Lalbaug,

BOMBAY 400 012

Tel. 441063

AN APTE ENTERPRISE

तीर्थकर : अप्रैल ८३/२१७

With best compliments from :

CENTURY RAYON

(Props : The Century Spg. & Mfg. Co. Ltd.)

Industry House, 159, Churchgate Reclamation,

BOMBAY 400 020

Raymond's suitings

A GUIDE TO THE WELL-DRESSED MALE



The Raymond Woollen Mills Limited
J. K. Building, N. Morarjee Marg,
Ballard Estate, BOMBAY-400 038

तीर्थकर : अप्रैल ८३/२१९



Manufacturers of :

- DRILLS
- SHEETINGS
- LONG CLOTHS
- CREPES
- FURNISHING CLOTH
- POPLINS
- ETC

THE PODAR MILLS LIMITED
PODAR CHAMBERS, BOMBAY

**Best-sellers in India !
Now exported to over 21
countries round the world**

MAHINDRA

Utility vehicles and FC Trucks

MAHINDRA & MAHINDRA LIMITED

तीर्थकर : अप्रैल ८३/२२१

Bharat Radiators For Cool Confidence

Quality and Ruggedness has put us as original equipment
on most leading vehicles manufactured in India

**FOLLOWING RADIATORS ARE READILY
AVAILABLE**

Cars & Jeeps :

Ambassador

Mahindra Jeeps

Premier Padmini

Trucks :

Bajaj Matador

Dodge & Fargo

Hindustan B/Ford

Mahindra F. C.

Leyland

Tractors :

Escort 335 & 345

Ford-3000 & 3600

H M T Zetor

Massey Ferguson

PTL Harvester Combine

Swaraj & Sartaj (PTL)

Bharat Radiators Pvt. Ltd.

Regd. Off. & Factory :

Vidyanagari Marg,

Santacruz (East),

BOMBAY-400 098.

Head Office :

81, Bajaj Bhavan,

Nariman Point,

BOMBAY-400 021

Tel. Nos : 612 29 65

: 612 34 57

: 612 08 57

Tel. Nos. : 23 00 85

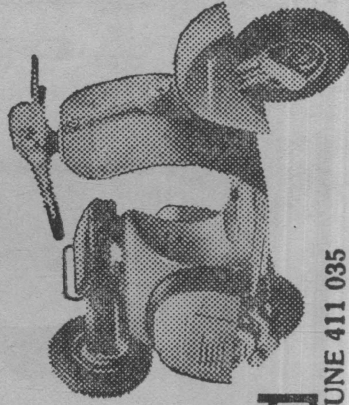
: 22 14 97

TELEX : 011-4661

Grams : PRESSWORK

Grams : SMOOTHRUN

**Not a part of the
energy problem ...
a part of the answer**

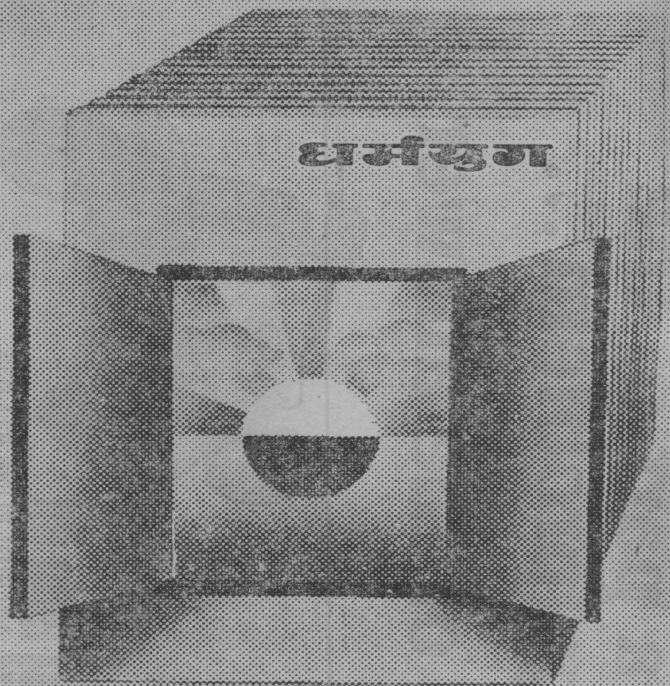


bajaj auto ltd

AKURDI PUNE 411 035

4026

बदलती हुई जिन्दगी का धारावाहिक विश्वकोश



यह सच है कि आप अपने आसपास की जिन्दगी के बारे में बहुत कुछ जानते हैं, लेकिन तेजी से बदलती हुई दुनिया के बारे में जितना आप जानते हैं, उतना ही और जानना चाहते हैं। धर्मयुग राजनीति, संस्कृति, साहित्य, फिल्मों, महिलाओं, बच्चों और सभी महत्वपूर्ण देशी-विदेशी स्थितियों और घटनाओं का एक धारावाहिक विश्वकोश है। अपने-अपने विषयों के मर्मज्ञों द्वारा प्रस्तुत सामग्री के साथ जीती-जागती तस्वीरें, पने व्यंग्य चित्र, हास-परिहास, स्वास्थ्य, कढ़ाई-बुनाई और चित्रकथाएँ तो समझिए सोने में सुगंध।



धर्मयुग की नजरों से देखिए
दुनिया को पहले से साफ,
पहले से रंगीन पाइए।

धर्मयुग
नव-सामाजिक चिंतन

ध्यान : कल्याण सुवर्ण



- विद्वत्ता का उत्कृष्ट फल आत्मध्यान में लीनता जानना चाहिये। अशेष शास्त्रों का 'शास्त्रत्व' विद्वानों (धी-धनों) द्वारा 'संसार' ही कहा गया है।
- जो मूढचित्त हैं, उनका संसार स्त्रीपुत्रादिक है और जो अध्यात्म-से-रहित विद्वान् हैं उनका संसार शास्त्र है।
- उत्कृष्ट ज्ञानबीज को पा कर भी जो प्रशस्त ध्यानरूप खेती में प्रवृत्त नहीं होते - ध्यान की खेती नहीं करते - वे अल्पबुद्धि हैं, मूढ हैं।
- जिस प्रकार खेत में पड़ा हुआ बीज खारे जल के त्याग और मीठे जल के संयोग से मधुर उत्पन्न करता है, उसी प्रकार तत्त्वश्रुति-के-योग-से उत्तम ध्यान उत्पन्न होता है।
- बुधजनों द्वारा भोगबुद्धि, जो खारे पानी की तरह है, सदैव त्याज्य है; और तत्त्वश्रुति, जो मीठे जल की भाँति है, सदैव ग्रहण करने योग्य है।
- जो योग से उत्पन्न हुआ सुख है, वह उत्तम सुख है, क्योंकि वह कामदेव के आतंक से मुक्त है, शान्तिस्वरूप है, निराकुलतामय है, स्थिर है, आत्मा में स्थित है, जन्म-जरा-मृत्यु का विनाशक है, अथवा तज्जन्य दुःख-से-रहित है।
- जो परार्थीन है, वह सब-का-सब दुःख है और जो स्वार्थीन है वह सब-का-सब सुख है।
- चूँकि जो परार्थीन है, वह सब दुःख है; अतः जो पुण्य से उत्पन्न समृद्धियाँ हैं, वे परार्थीन हैं, इसलिए दुःखरूपा हैं; किन्तु योग से उत्पन्न हुआ जो ज्ञान है, वह स्वार्थीन होने के कारण सुखरूप/स्व-रूप है।
- पुरुषों (मानवों) का निर्मल ज्ञान जब सुस्थिर होता है, तब वह ध्यान हो जाता है; ठीक भी है, किट्ट-कालिमादि मल-से-रहित सुवर्ण क्या कल्याणत्व को प्राप्त नहीं होता? (ऐसे शुद्ध स्वर्ण को 'कल्याण' नाम से पुकारा जाता है)।

इन्दौर डी. एन./६२ म. प्र.
अप्रैल १९८३

लायसेन्स नं. एल. ६२
(पहले से डाक-व्यय दिये बिना भेजने की स्वीकृति प्राप्त)

नीतिकर

॥ जैन ध्यान/जैन योग विशेषांक ॥ अप्रैल १९८३ ॥ सं. डॉ. नेमीचन्द्र जैन ॥

